गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्
तृतीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।

गीतामूलविज्ञानभाष्यम्

तत्र

राजर्षिविद्यायाम्

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्
तृतीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः

राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थान
मानवाश्रम विद्यापीठ, जयपुर

प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

ग्रन्थ–प्राप्ति :
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–१८

मुद्रक :
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,



पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन ओझा

प्रकाशकीय

राजर्षिविद्या के प्रकाशनक्रम में स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री जी द्वारा रचित 'राजर्षिविद्या' के बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत् (तृतीयोपनिषत्) का प्रकाशन करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है । इस ग्रन्थमाला के पूर्व ग्रन्थों की भाँति ही सप्त-उपदेशात्मक यह ग्रन्थ भी मूलतः वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादन करता है ।

इस ग्रन्थ में कर्म्मसंन्यासलक्षण संन्यास एवं कर्म्मारम्भलक्षण योग इन दोनों से बुद्धियोग को श्रेष्ठ बतलाते हुए यज्ञकर्म्म एवं उपेक्षाबुद्धिसहकृत अनासक्तिभाव से किए गए कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते, यह बतलाया गया है एवं लोकसंग्रहदृष्टि से किए गए कर्म्म एवं प्राकृतिक कर्म्म भी कभी बन्धन का कारण नहीं बनते हैं–यह बतलाते हुए कभी कर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए, यह भी कहा गया है ।

स्व० शास्त्रीजी के ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य्य से जुड़े प्रो० मदनमोहन शर्म्मा ने उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मूलपाण्डुलिपि के पाठ-निर्धारण, भाषा-सम्पादन एवं मूल संस्कृत-अंशों के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण में बहुमूल्य योगदान किया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं ।

स्व० शास्त्रीजी के सुपौत्र चि० प्रद्युम्नकुमार शर्म्मा ने ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों पर पाद-टिप्पणियाँ दे कर, ग्रन्थ में उद्धृत सन्दर्भों के स्रोतों का सन्धान कर, सन्दर्भों को अंकित किया है । उनका परिश्रम श्लाघनीय है ।

श्री हीरालाल गहलोत ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन एवं सन्दर्भ शोधन में सहायता प्रदान के लिए धन्य-वाद के पात्र हैं ।

गीताप्रेमी पाठक इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे, इसी विश्वास के साथ

—कर्पूरचन्द 'कुलिश'

महाशिवरात्रि
वि० सं० २०४८



वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

राजर्षिविद्या-तृतीयोपनिषत् (सप्तोपदेशी)

विषय-सूची

ग्रन्थस्थ सप्तोपदेशान्तर्गतगीताश्लोक-विभाग

प्रथमोपदेशः — कर्म्मसंन्यासलक्षण संन्यास (ज्ञानयोग) एवं कर्म्मारम्भलक्षण योग (कर्म्मयोग) दोनों में बुद्धियोग नाम का योग ही श्रेष्ठ है।

[गीता ३।१ से ३।३ तक]

द्वितीयोपदेशः — ७ अव्यर्थ हेतुओं के कारण कर्म्म का परित्याग नहीं किया जा सकता।

[गीता ३।४ से ३।८ तक]

तृतीयोपदेशः — यज्ञकर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते।

[गीता ३।९ से ३।१६ तक]

चतुर्थोपदेशः — उपेक्षाबुद्धिसहकृत अनासक्तिभाव से किए गए कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते।

[गीता ३।१७ से ३।२० तक]

पञ्चमोपदेशः — लोकसंग्रहदृष्टि से किए गए कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते।

[गीता ३।२१ से ३।२६ तक]

षष्ठोपदेशः — प्राकृतिक कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते।

[गीता ३।२७ से ३।३० तक]

सप्तमोपदेशः — हमारी (भगवान् की) दृष्टि में कर्म्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

[गीता ३।३१ से ३।३२ तक]

—★—

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

१–कर्म्मसंन्यास–कर्म्मारम्भलक्षणयोः–सांख्ययोगयोर्योगस्यैव श्रेयस्त्वम् ।

१

तृतीयायामुपनिषदि—

प्रथमोपदेशः

१–कर्म्मसंन्यास-कर्म्मारम्भलक्षणयोः-सांख्ययोगयोः- "योगस्यैव" श्रेयस्त्वम्

अर्जुन उवाच

१–ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता ३।१)

२–व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (गीता ३।२)

श्री भगवानुवाच

३–लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता ३।३)

[मूलानुवाद] "अर्जुन बोला–हे जनार्दन ! यदि कर्म्म की अपेक्षा आपकी दृष्टि में बुद्धि (ज्ञानयोग) उत्तम है तो हे केशव ! फिर आप मुझे इस घोर (हिंसामय) कर्म्म में क्यों नियुक्त कर रहे हैं ? आप संदिग्ध-भाव को लिए हुए से वाक्य से मेरी बुद्धि को मोह में डाल रहे हैं । इसलिए आप दोनों में से एक मार्ग का निश्चय कर कहिए, जिससे कि मैं कल्याणभाव को प्राप्त होऊँ । भगवान् बोले–हे अनघ ! मैंने पहले इस लोक में ज्ञानयोग से सांख्यों की एवं कर्म्मयोग से योगियों की–इस प्रकार दो प्रकार की निष्ठाएँ बतलाई हैं ।"

[भाष्य] गीताशास्त्र का अक्षर-अक्षर जहाँ आवश्यकता से अधिक सरल है, वहाँ भावगाम्भीर्य की दृष्टि से अक्षर-अक्षर में उलझन है । अर्जुन सामान्य अधिकारी न था । इन्द्रांशभूत अर्जुन नर का अवतार था, आधिकारिक जीव था, जैसा कि आचार्यकाण्डान्तर्गत **कृष्णार्जुनमैत्रीप्रकरण** में विस्तार से बतलाया जा चुका है । परन्तु अवसरप्राप्त बन्धुजनमोह से कुछ समय के लिए अर्जुन का वह स्वाभाविक आधिकारिक स्वरूप तिरोहित हो जाता है । मोहवश स्मृतिविभ्रम हो जाता है । बुद्धि स्थिर हो जाती है । विमृश्यकारित्वलक्षण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक जाता रहता है । इस विषम परिस्थिति से ग्रस्त अर्जुन

को भगवान् ने उपदेश देना आरम्भ किया है । ऐसी दशा में मोहग्रस्त अर्जुन यदि भगवदुपदेश के वास्तविक रहस्य को समझने में असमर्थ रहता हुआ उलटा सन्देह में पड़ जाता है तो इसमें अर्जुन का कोई दोष नहीं है । जब किसी व्यक्ति का (फिर चाहे वह शास्त्रों का पूर्ण मर्म्मज्ञ ही क्यों न हो) किसी कल्पित सिद्धान्त में अभिनिवेश हो जाता है तो वह वास्तविक तत्त्ववाद को सुन कर निःसंदिग्ध बनने के स्थान में अधिक सन्देह में पड़ जाता है । यही नहीं, उसने अपने अन्तर्जगत् में जिस कल्पित सिद्धान्त को सत्य समझते हुए उसमें पूर्ण अभिनिवेश कर रक्खा है, इतर सत्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को भी वह उसी दृष्टि से देखने लगता है । जिस प्रकार एक पीलिया रोग से ग्रस्त रोगी विश्व के सभी पदार्थों को पीत समझने लगता है, ठीक इसी प्रकार कल्पितसिद्धान्तदृष्टिसंस्कारवश एक अभिनिविष्ट व्यक्ति अपनी दृष्टि से ही शास्त्रों का समन्वय करने में व्यग्र रहता है । यदि एक तटस्थ व्यक्ति उसकी हाँ में हाँ मिला देता है, दूसरे शब्दों में–"**तुमने जो कुछ समझा है, ठीक है**"–यह कह देता है तो वह अवश्य तुष्ट हो जाता है । परन्तु सत्य-समीक्षक यदि उसकी कल्पना के विरुद्ध कुछ बोल देता है, तो सत्यसमीक्षक की निम्नता (लघुस्तरता) में उसे वह फटकार देता है । यदि समीक्षक उसकी दृष्टि में आदरणीय है तो ऐसी दशा में वह संदेह में पड़ जाता है । आज ठीक यही परिस्थिति अर्जुन की है ।

अर्जुन का अभिनिवेश तत्कालीन सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा पर है । कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा से रंगे हुए अर्जुन में अभिनिवेशपूर्वक इस निश्चय ने घर कर लिया है कि युद्ध करना एक बडा भारी पाप है । इस कर्म्म से मुझे कभी शान्ति नहीं मिल सकती । शान्ति का एक मात्र उपाय है, सब लालसाओं का परित्याग कर कौपीन लगा कर भिक्षा के आधार पर जीवन व्यतीत करना । "**भैक्ष्यमपीह लोके**"[1]–इत्यादि रूप से अर्जुन ने अपना यही सांख्याभिनिवेश प्रकट किया है । अर्जुन कल्पित ज्ञानयोग के रंग में रंगा हुआ कर्म्म को हेय समझ रहा था । इसी परिस्थिति में भगवान् ने अर्जुन पर (अर्जुन के लिए सर्वथा अश्रुतपूर्व) बुद्धियोगास्त्र का प्रयोग किया । "**प्रज्ञावादांश्च भाषसे**"[2]–इत्यादि रूप से अर्जुन की कल्पित बुद्धिमानी को छिन्न-भिन्न करने का उपक्रम किया ।

अर्जुन कर्म्मयोग का विरोध कर रहा था, ज्ञानयोग का समर्थन कर रहा था । लोक में प्रचलित तत्कालीन दोनों निष्ठाओं में से अर्जुन सांख्यनिष्ठा को शान्ति का कारण समझता हुआ इसी ज्ञानाभिमानवश–"**न योत्स्ये**"–इस वाक्य से कर्म्मनिष्ठा में अपनी अरुचि प्रकट कर चुका था । ऐसी स्थिति में बुद्धिभेद को सर्वथा हानिकर समझने वाले भगवान् एकहेलया अर्जुन को सांख्यनिष्ठा से नहीं हटाना चाहते थे । फलतः आरम्भ में अर्जुन की अभिनिवेशमूला सांख्यनिष्ठा का समादर करते हुए उसी में थोड़ा सा संशोधन कर ज्ञानयोग को बुद्धियोगरूप में परिणत कर डाला । कर्म्मपरित्यागलक्षणा, अर्जुनाभिमता कल्पिता सांख्यनिष्ठा में भगवान् ने क्या संशोधन किया ? इस प्रश्न का समाधान **प्रथमोपनिषत्**[3] में विस्तार से किया जा चुका है, अतः यहाँ पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है । प्रकरणसंगति के लिए इस सम्बन्ध में यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि भगवान् ने प्रथमोपनिषत् में ज्ञानयोग के सम्बन्ध में यही कहा कि अर्जुन ! ज्ञानयोगी की दृष्टि में आत्मा अमर है, शरीर विनाशी है । आत्मा

---

१ गीता २।५ । २ गीता २।११ । ३ ज्ञानयोगिनोऽनुशोकानौचित्योपनिषत् ।

सब पाप्माओं से शून्य है। न वह कर्म्म करता, न लिप्त होता। कर्म्म स्वधर्म्म है, प्रकृति की क्रीडा है। यदि तू ज्ञानयोगी है तो अच्छे-बुरे की तुलना से तेरा क्या सम्बन्ध ? अवसरप्राप्त जो होने वाला है, जो करना चाहिए, उससे पीछे मत हट। यही सच्ची ज्ञाननिष्ठा है। ज्ञानी तो समदर्शी हुआ करता है। यदि वह एक को अच्छी निगाह से, एक को बुरी निगाह से देखता है तो उसका ज्ञानयोग अपूर्ण है। कर्म्म को तू बुरा समझ रहा है, इसी से सिद्ध है कि तेरा सांख्यनिष्ठाभिमान बुरा है। अच्छा-बुरा-पाप-पुण्य यह सब द्वन्द्वभाव तो संसारी वित्तपरायण यथाजात व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। सच्चा सांख्यनिष्ठ तो वह है जो सब में रहता हुआ भी सबसे अलग रहे। द्वन्द्वप्राङ्गण में नृत्य करता हुआ भी निर्द्वन्द्व रहे। इस प्रकार–**"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं०"**[१]–इस प्रथमोपदेश के आरम्भ से–**"न त्वं शोचितुमर्हसि"**[२]–इस सप्तमोपदेश की समाप्तिपर्य्यन्त सांख्यनिष्ठा में–**"नानुशोचन्ति पण्डिताः"**[३]–**"धीरस्तत्र न मुह्यति"**[४]–**"तितिक्षस्व भारत"**[५]–**"तस्माद्युध्यस्व भारत"**[६]–**"कं घातयति हन्ति कम्"**[७]–**"तत्र का परिदेवना"**[८]–इत्यादिरूप से धैर्य्यपूर्वक आत्मनित्यता में विश्वास करते हुए भगवान् ने कर्म्मत्याग के स्थान में कर्म्म-प्रवृत्ति को स्थान दिया है। भगवान् न ज्ञान के विरोधी हैं, न ज्ञानमूला सांख्यनिष्ठा के विरोधी हैं। केवल कर्म्मनिवृत्ति-प्रवृत्ति में विवाद है। भगवान् कर्म्मत्याग का संशोधन कर सांख्यनिष्ठा में कर्म्म-प्रवृत्ति का समावेश करना आवश्यक समझते हैं। इसी प्रकार कर्म्मयोग में भगवान् फलाशा का संशोधन चाहते हैं। कर्म्मग्रहणलक्षण सांख्यनिष्ठा 'सांख्यनिष्ठा' है, कामना परित्यागलक्षण योगनिष्ठा 'योगनिष्ठा' है।

द्वितीय उपनिषत् के उपक्रम में हमने यह कहा कि "प्रथम उपनिषत्" में भगवान् ने प्रधान **मल्हनिवारण न्याय** का आश्रय लेते हुए प्रचलित सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा का ही मूलोच्छेद किया है। दूसरे शब्दों में सांख्यनिष्ठा में कामनापरित्यागलक्षण कर्म्म का समावेश करते हुए सांख्यनिष्ठा का संधान कर उसे बुद्धियोग का (आंशिक) रूप दे डाला है, एवं आगे की १/२–२/३–३/४–४/५–५/६–६/७–७/८–इन सातों उपनिषदों में भगवान् ने रागद्वेषानासक्तिलक्षण स्वाभिमत **वैराग्य बुद्धियोग** का निरूपण किया है। यद्यपि किसी सीमा तक राजर्षिविद्या की ६ अध्यायों से सम्बन्ध रखने वाली ८ उपनिषदों की यह पूर्वोक्ता संगति भी ठीक है। परन्तु वस्तुतः वैराग्यबुद्धियोग का प्रधान रूप से १/३–२/४–३/५–४/६-५/७–६/८–इन ६ उपनिषदों में ही निरूपण हुआ है। प्रथमोपनिषत् की तरह द्वितीय उपनिषत् का भी परमत से ही सम्बन्ध है। **"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा०"**–इस श्लोक स्वारस्य से हमें इस दूसरी विषयसङ्गति का ही विशेष आदर करना पड़ता है।

"धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"[९]–से आरम्भ कर–**"शोकसंविग्नमानसः"**[१०]–(सम्पूर्ण प्रथमाध्याय) यहाँ तक का प्रकरण–**"ऐतिहासिक सन्दर्भ"**–से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकरण में–**"गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों हुई ? गीतोपदेश किस समय, कहाँ हुआ था ?"** इन प्रश्नों का ऐतिहासिक दृष्टि से समाधान किया गया है। इसीलिए हमने–**"ऐतिहासिकोऽध्यायः"**–नाम से इस प्रकरण को सर्वथा

---

१ गीता २।११। २ गीता २।२७। ३ गीता २।११। ४ गीता २।१३।
५ गीता २।१४। ६ गीता २।१८। ७ गीता २।२१। ८ गीता २।२८।
९ गीता १।१। १० गीता १।४७।

मूलगीताविषय से सर्वथा पृथक् कर दिया है। ऐतिहासिक प्रकरण विज्ञानगीता से सर्वथा विमक्त है, इसी लक्ष्य से भगवान् व्यास ने इस अध्याय को सर्वथा विभक्त कर दिया है। प्रथमाध्याय के–"**अहो बत महत् पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्०**"[1]–एवं–"**एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये०**"[2]–इन दो श्लोकों का हमने विज्ञान गीतोपक्रमप्रकरण में भी समावेश माना है, जिसकी उपपत्ति उसी प्रकरण में बतलाई जा चुकी है। यदि–"**तदागम**"–न्याय से प्रथमाध्याय के उक्त दोनों श्लोकों का द्वितीयाध्याय में ही समावेश मान लिया जाता है तो हम कह सकते हैं कि दूसरे अध्याय का आरम्भ–"**अहो बत महत्०**"–यहाँ से हुआ है एवं समाप्ति–"**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ०**"[3]–इस श्लोक पर हुई है। इस दूसरे अध्याय के विषयों को निम्नलिखित रूप से विभक्त किया जा सकता है।

"**अहो बत०**" (गीताऽध्याय-क्रम से १।४५ श्लो०–विज्ञान-दृष्टि से द्वि० अ० का १ श्लो०) से–"**तमुवाच हृषीकेशः**"[4]–यहाँ तक का (१२ श्लोकात्मक) प्रकरण एक स्वतन्त्र प्रकरण है। इसी को हमने–"**चातुर्विद्योपक्रम**"–नाम से सम्बोधित किया है। यही पहली–"**उत्थानिकोपनिषत्**"–किं वा–"**लोकवृत्तोपनिषत्**"–नाम की उपनिषत् है। इस उपनिषत् में–"**प्राकृतिकशोकसमुत्थानुप्रदर्शन**"–एवं–"**प्राकृतिकशोकव्युत्थानौपयिकचतुर्विधबुद्धियोगविद्योपदेशोपक्रम**"–नाम के दो उपदेश हैं। यही मूलविज्ञान गीता का उपक्रम-प्रकरण है। इसके बाद–"**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्०**"[5]–से राजर्षिविद्या का आरम्भ होता है एवं–"**स मे युक्ततमो मतः**"[6]–यहाँ पर राजर्षिविद्या समाप्त होती है। इस विद्या में भगवदभिमत वैराग्यलक्षण भावुकताप्रधान अनासक्त बुद्धियोग का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। राजर्षि में आठ उपनिषत् हैं। आठ में से आरम्भ की दो उपनिषदों का परमत से सम्बन्ध है एवं आगे की ६ उपनिषदों का स्वमत से सम्बन्ध है। परमतनिरूपण–"**अशोच्यानन्व०**"[7]–से आरम्भ होता है एवं–"**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ०**"[8]–इस श्लोक पर समाप्त होता है। लोकप्रचलित कर्म्मत्यागलक्षणा **सांख्यनिष्ठा** एवं कामपरिग्रहलक्षणा **योगनिष्ठा** (कर्म्मनिष्ठा) दोनों ही परमत हैं। भगवान् दोनों से ही असन्तुष्ट हैं। इन दोनों में ही भगवान् संशोधन करना आवश्यक समझते हैं, अतएव अपने मत के निरूपण से पहले भगवान् ने यह आवश्यक समझा कि अर्जुन के सामने लोकप्रसिद्ध दो निष्ठाएँ बैठी हैं। अर्जुन कामपरिग्रहलक्षणा कर्म्मनिष्ठा को निकृष्ट समझ रहा है, कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को श्रेष्ठ मान रहा है। इसलिए पहले इसे इन दोनों का ही वास्तविकस्वरूप समझते हुए इसका मोह हटाना चाहिए। जब यह दोनों का वास्तविकस्वरूप समझ जाएगा तो पीछे इसे निष्कामकर्म्मलक्षण बुद्धियोग का मर्म्म समझाया जाएगा। अपने इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए पहले तो भगवान् ने–"**अशोच्यानन्व०**"[9]–से आरम्भ कर–"**हतो वा प्राप्स्यसि०**"[10]–यहाँ तक इस प्रकरण से सांख्यनिष्ठा का संशोधित रूप बतलाया है एवं–"**सुखदुःखे समे कृत्वा०**"[11]–इस श्लोक से उपक्रम कर–"**एषा तेऽभिहिता**

१ गीता २।४५। २ गीता १।४७। ३ गीता २।७२।
४ गीता २।१०। ५ गीता २।११। ६ गीता ६।४७।
७ गीता २।११। ८ गीता २।७२। ९ गीता २।११।
१० गीता २।३७। ११ गीता २।३८।

सांख्ये बुद्धि०:"[1]–यहाँ पर सांख्यनिष्ठा का उपसंहार कर–**"योगे त्विमां शृणु"**[2]–यहाँ से आरम्भ कर–**"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"**[3]–यहाँ तक योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) का संशोधितरूप अर्जुन के सामने उपस्थित किया है। विषयसन्निवेश भी बडा चमत्कृत है। न्यायप्राप्त बात तो यह थी कि–"**एषा तेऽभिहिता सांख्ये**"[4]–इस सांख्योपसंहारसूचक वाक्य का समावेश–"**हतो वा प्राप्स्यसि०**"[5]–इस श्लोक के अव्यवहितोत्तरकाल में होता। क्योंकि यहीं सांख्यप्रकरण समाप्त है। इसके अनन्तर–"**योगे त्विमां शृणु**"[6] से योगनिष्ठा का उपक्रम कर–"**सुखदुःखे०**"[7]–से योगनिष्ठा का आरम्भ किया जाता, क्योंकि इसी प्रकरण में भगवान् आगे जा कर–"**समत्वं योग उच्यते**"[8]–यह कहने वाले हैं। एवं–"**सुखदुःखे समे कृत्वा**"[9]–यह श्लोक समत्वयोग का ही सूचक है। परन्तु यह क्रम न रख कर उक्त क्रम को प्रधानता दी गई हैं। क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। सांख्यनिष्ठा में भी भगवान् समत्वयोगलक्षण बुद्धियोग का समावेश चाहते हैं एवं योगनिष्ठा में भी बुद्धियोग का समावेश चाहते हैं। यही तो संशोधन है। इसी संशोधनभाव को व्यक्त करने के लिए, दूसरे शब्दों में–"**सांख्यनिष्ठा में समत्वयोग आवश्यक है**"–यह सूचित करने के लिए–"**एषा तेऽभिहिता सांख्ये**"–सांख्यनिष्ठा के उपसंहारसूचक इस वाक्य से पहले ही–"**सुखदुःखे समे कृत्वा०**"–समत्वयोगसूचक इस श्लोक का समावेश किया गया है। द्वितीयाध्याय के इस प्रकरणविभाग से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि भगवान् ने अब तक की दो उपनिषदों से क्रमशः लोकप्रसिद्ध सांख्य एवं योगनिष्ठा का ही स्वरूप अर्जुन के सामने रखना है। दोनों निष्ठाओं का आदर करते हुए भगवान् केवल यही कहना चाहते हैं कि तुम सांख्य में भी बुद्धियोग का समावेश करो, कर्म्म में भी बुद्धियोग का समावेश करो। यदि तुम्हारी दृष्टि में सांख्यनिष्ठा उत्तम है तो कोई हर्ज नहीं। सांख्यनिष्ठ बनते हुए भी तुम बुद्धियोग द्वारा शोक-मोह-पापादि से बचे रहोगे। यदि लोकसिद्ध योग में (कर्म्म) तुम्हारी निष्ठा है, तब भी कोई हानि नहीं। योगनिष्ठ बनते हुए भी तुम बुद्धियोगद्वारा कर्म्म-बन्धन छोड़ने में समर्थ हो सकेंगे। बुद्धियोग के बिना दोनों ही मार्ग त्याज्य हैं, बुद्धियोगसमावेश से दोनों ही ग्राह्य हैं। ध्यान रहे, भगवान् का यह कथन केवल लोकसंग्रह का आदर से ही सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः भगवान् की दृष्टि में–सांख्य और योग दोनों दो भिन्न निष्ठाएँ नहीं हैं। अपितु, दोनों की समन्वितावस्थारूपबुद्धियोगलक्षणा एक ही निष्ठा है। जैसा कि निम्नलिखित रूप से भगवान् आगे जाकर स्पष्टीकरण करने वाले हैं—

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥[10]

---

१ गीता २।३९। २ गीता २।३९। ३ गीता २।७२। ४ गीता २।३९।
५ गीता २।३७। ६ गीता २।३९। ७ गीता २।३८। ८ गीता २।४८।
९ गीता २।३८। १० गीता ५।४-५।

इस प्रकार दोनों को एक समझते हुए भी भगवान् लोकसंग्रह का आदर करते हुए दोनों के पार्थक्य को भी सुरक्षित रख रहे हैं । भगवान् का अभिप्राय यही है कि सर्वकर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा, सर्वकामपरिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा तो सर्वथा त्याज्य ही है । हाँ कामनापरित्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा भी उपादेय है एवं कर्म्मपरिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा भी उपादेय है । योगनिष्ठा में कर्म्मसंग्रह पर प्रधान दृष्टि है, ज्ञाननिष्ठा में ज्ञानसंग्रह पर प्रधान दृष्टि है । ज्ञाननिष्ठ कर्म्म अवश्य करेगा, परन्तु इसके कर्म्म निवृत्ति-प्रधान बनते हुए, आत्मशुद्धिमात्रपरक बनते हुए लोकोपकारक मर्य्यादा से कोई सम्बन्ध न रखेंगे । संन्यासनिष्ठ व्यक्ति के कर्म्म वैयक्तिक स्वार्थ से सम्बन्ध रखेंगे । लौकिक कर्म्मों से वह विरक्त रहेगा । त्याग पर विशेष दृष्टि रहेगी । इस प्रकार नाममात्र को कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी यह कर्म्म-संन्यासी ही रहेगा । आत्मोद्धार की दृष्टि से आत्मौपयिक कर्म्मपरिग्रहलक्षण एवं लोकसंग्राहक परमार्थकर्म्म-त्यागलक्षण, अतएव कर्म्मसंन्यासलक्षण यह सांख्यमार्ग भी उत्तम है । अवश्य ही यह मुक्त हो जाएगा । अपना कल्याण कर लेगा । शोक-मोहादि से वियुक्त रहेगा । इसी प्रकार लोकसंग्राहक कर्म्मों में प्रवृत्त-रहने वाला योगी भी कल्याण कर लेगा । दोनों ही लोकनिष्ठाएँ बुद्धियोगसमावेश से श्रेष्ठ बन जाएँगी, निःश्रेयसभाव की प्रवर्त्तिका बन जाएँगी । तथापि दोनों में भगवान् योगनिष्ठा के ही अधिक पक्षपाती हैं । कारण, इस में वैयक्तिक स्वार्थ के साथ परमार्थसाधन भी होता है । कर्म्मनिष्ठयोगी सांसारिक कर्म्मों से जरा भी भीत नहीं होता, उधर सांख्यनिष्ठ संन्यासी—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥[1]

—इत्यादि के अनुसार सांसारिक कर्म्मों से सदा भयभीत रहता है । दोनों ही (संशोधित) लोक-निष्ठाएँ अच्छी हैं । परन्तु भगवान् का पक्षपात लोकसंग्राहक कर्म्मपरिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा में ही है, जैसा कि निम्नलिखित रूप से आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है—

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥[2]

बस, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर हमने दूसरी उपनिषत् को योगनिष्ठा (बुद्धियोगनिष्ठा) परक मानते हुए द्वितीयोपनिषत् के उपक्रम में सात उपनिषदों को वैराग्य बुद्धियोग की प्रतिपादिका मान लिया है । कर्म्म पर भगवान् की अधिदृष्टि है, यही बात–**"योगे त्विमां शृणु"**–इस वाक्य के "तू" शब्द से वहाँ स्पष्ट की गई है । अब तक के वक्तव्य से हमें कहना यही है कि द्वितीयाध्याय में भगवान् ने उक्त क्रमविभागानुसार लोकसिद्ध सांख्य-योग (कर्म्म) निष्ठाओं का स्वरूप ही अर्जुन के सामने रक्खा हैं ।

---

१ गीता २।६० ।   २ गीता ५।२ ।

इन्हीं दोनों निष्ठाओं का आगे जा कर बडे विस्तार के साथ भगवान् **सिद्धविद्या** एवं **आर्षविद्या** में निरूपण करने वाले हैं। प्रचलितनिष्ठा के संशोधित रूप को देख कर अर्जुन किस निश्चय पर पहुँचा ? अब यह विचारणीय है।

आरम्भ में कहा जा चुका है कि अर्जुन ज्ञानयोग में रंगा हुआ था। भगवान् ने ज्ञान एवं कर्म्म दोनों के साथ बुद्धियोग का सम्बन्ध रखना आवश्यक बतलाते हुए–**"तस्माद्युध्यस्व भारत"**–**"युद्धाय कृतनिश्चयः"**–इस रूप से कर्म्म-प्रवृत्ति के लिए आदेश दिया। बुद्धि का अर्थ अर्जुन ने उसी प्रकार ज्ञानयोग समझ लिया, जैसा कि ज्ञानयोग में रंगे हुए गीता-भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने आज दिन बुद्धि का अर्थ ज्ञानयोग समझ रक्खा है। **"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"**–**"बुद्धया युक्तो यया पार्थ"**–**"बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन"**–**"बुद्धियुक्तो जहाति"**–**"समाधावचला बुद्धिः"**–**"स्थितधीर्मुनिरुच्यते"**–**"बुद्धिः पर्यवतिष्ठते"**–इत्यादि वाक्यों का आशय अर्जुन ने यह समझा कि भगवान् की दृष्टि में कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग ही उत्तम है। भगवान् दोनों का ही निरूपण करते हैं, परन्तु बार-बार बुद्धिशब्द का प्रयोग कर ज्ञानयोग की ही श्रेष्ठता बतला रहे हैं। परन्तु आश्चर्य है कि कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग को श्रेष्ठ समझते हुए भी भगवान् मुझे ज्ञानयोगविरोधी पाप्मामूलक युद्धकर्म्म में प्रवृत्त कर रहे हैं। ज्ञानयोग में पूर्ण पक्षपात, कर्म्मयोग का आदेश दोनों बातें अवश्य ही उलझन में डालने वाली हैं। बस, ज्ञानयोगाभिनिविष्ट अर्जुन भगवान् के बुद्धियोग का वास्तविक तात्पर्य्य न समझता हुआ ही प्रश्न कर बैठता है कि भगवन् ! यदि कर्म्म की अपेक्षा आप बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ समझते हैं तो फिर स्वयं मुझे कर्म्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ? फिर तो मैने–**"न योत्स्ये"**–जो यह कहा था, वह ठीक ही है। साथ ही में अर्जुन का पाला पड़ा था, आराध्य श्रीकृष्ण से। यदि साधारण आदमी अर्जुन के सामने होता तो वह तत्काल उसे फटकार देता। परन्तु अर्जुन यह भी जानता था कि भगवान् कोई बात निर्मूल नहीं कह रहे हैं। बुद्धि को ज्यायसी बतलाते हुए भी भगवान् मुझे कर्म्म-प्रवृत्ति के लिए जो आदेश दे रहे हैं, उसमें अवश्य ही कोई मूल कारण है। उस कारण को मोहमलिनान्तःकरण अर्जुन न समझता हुआ विनम्र भाव से जिज्ञासा करता हुआ पूछ बैठता है कि भगवन् ! आप सर्वथा विरुद्ध आदेश देते हुए मुझे मोह में डाल रहे हैं। आप मोह में नहीं डाल रहे, मैं आपके तात्पर्य्य का समन्वय न करने के कारण मोह में पड़ा हुआ हूँ, अतः कृपया आप ही दोनों में जो एक निश्चित कल्याणप्रद मार्ग हो, उसका आदेश दीजिए। जिसके अनुसार चलने से मेरा कल्याण हो।

भगवान् अर्जुन के इस व्यामोह का सिवाय इसके क्या उत्तर देते कि भाई ! मैने तुझे व्यामोह में नहीं डाला है। मैने तो लोकसिद्ध दोनों निष्ठाओं में थोड़ा सा संशोधन करते हुए इनका स्वरूप तेरे सामने रक्खा है। बुद्धि का तैंने यह तात्पर्य्य कैसे समझ लिया कि मैं कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग को ही श्रेष्ठ समझ रहा हूँ ? ज्ञान स्वतन्त्र तत्त्व है। कर्म्म स्वतन्त्र तत्त्व है। बुद्धि दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। कर्म्मानुगताबुद्धि विज्ञानभाव में परिणत हो कर कर्म्मयोग का संचालन करती है, ज्ञानानुगता (आत्मानुगता) बन कर वही ज्ञानभाव में परिणत हो कर ज्ञानयोग का संचालन करती है। मेरा अभिप्राय यही है कि ज्ञानयोग में भी तू बुद्धिपूर्वक आत्मविशुद्धचर्थं कर्म्म कर, कर्म्मयोग में भी तू बुद्धिपूर्वक ही लोकसंग्राहक कर्म्म कर।

उभयथा बुद्धि को मध्यस्थ बना। यदि ऐसा न करेगा तो तेरा मन अविज्ञानवान् बनता हुआ उभयथा आसक्ति का कारण बन जाएगा। बुद्धिसमावेश से दोनों ही निःश्रेयस्कर है। हाँ, दोनों में मैं प्रधानता कर्म्मयोगलक्षण बुद्धियोग को ही देता हूँ। ज्ञानयोगलक्षण बुद्धियोग मेरी दृष्टि में अवरकक्षा में प्रतिष्ठित है। (**कर्म्मयोगो विशिष्यते**)। मैने तुझे अब तक कोई नवीन बात नहीं कही है, न कोई उलझन में डालने वाली बात कही है कि जिससे तू मोहनिवृत्ति के स्थान में अधिक मोह में पड़ जाए। जिन दो निष्ठाओं का लोक में चिरकाल से प्रचार चला आ रहा है, जिन्हे तू भलीभाँति जानता है, केवल उन्हीं समझी समझाई निष्ठाओं में बुद्धि का समावेश कर दिया है। इससे तू यह कैसे समझ गया कि मैने कर्म्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग को श्रेष्ठ माना है? अरे! मैं तो कर्म्मयोग को विशिष्ट बतलाऊँगा। **"दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय"**-के बुद्धियोग का तूने ज्ञानयोग-अर्थ समझा होगा। भूलता है। ज्ञानयोगापरपर्य्यायिक सांख्य के सम्बन्ध में मुझे जो कुछ वक्तव्यथा, वह तो-**"एषा तेऽभिहिता सांख्ये"**-इससे पहले-पहले ही कह चुका हूँ। मैने उस कर्म्म को अवर कहा है, जो फलकामनायुक्त बनता हुआ आसक्ति का जनक है। बुद्धियुक्त वही कर्म्म अबन्धन बनता हुआ उपादेय बन जाता है। बुद्धियोग-लक्षण निष्कामकर्म्म की अपेक्षा फलकामयुक्त कर्म्म सर्वथा निकृष्ट है, मेरी उक्ति का यही तात्पर्य्य है। ऐसी स्थिति में मोह का यत्किञ्चित् भी अवसर नहीं है। सचमुच तू बुद्धियोग का रहस्य न समझते हुए इसे ज्ञानयोग मान बैठा है। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि लोकनिष्ठाओं की अपेक्षा न रख कर स्वतन्त्ररूप से निष्काम-कर्म्मलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का स्वरूप तेरे सामने रक्खा जाए। तब तुझे मालूम होगा कि पूर्व में हमने जो कुछ कहा था, ठीक था। यह है **प्रकृत प्रथमोपदेश की संदर्भ** संगति —

द्वितीयाध्यायसम्बन्धी विषयविभाग—

१—"अहो बत महत् पापम्०" इत्यारभ्य "तमुवाच हृषीकेशः" इत्यन्तम्	→ लोकवृत्तोपनिषत् "द्व्युपदेशी" (विद्योपक्रमः) (सांख्ययोगोपक्रमः)

—✽—

२—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"—इत्यारभ्य "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" इत्यन्तम्	(सांख्यम्) → लोके प्रचलितायाः सांख्यनिष्ठायाः संशोधितरूपप्रदर्शनम्

—✽—

३–"योग त्विमां श्रृणु"–इत्यारभ्य "एषा ब्राह्मी स्थितिः" इत्यन्तम् } (योगः) → लोके प्रचलितायाः–योगनिष्ठायाः संशोधितरूपप्रदर्शनम्

—समाप्तश्चात्र द्वितीयोऽध्यायः—

॥ २ ॥

—०—

उक्त विषयविभाग एवं प्रकृत प्रथमोपदेश की विषयसंगति दोनों का मूलाधार न कोई गीता-भाष्य है एवं न कोई टीका है। अपितु, स्वयं गीताशास्त्र की अभेद्य प्रमाणभित्ति पर ही उक्त प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। स्वयं गीता के अक्षर ही हमें उक्त संदर्भसंगति के लिए बाध्य करते हैं। प्रकृत तृतीया उपनिषत् गीता का प्राण है, अतः इस सम्बन्ध में हम उक्त संगतिमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उपलब्ध, लोकप्रतिष्ठ भाष्यों, टीकाओं के सर्वथा विरुद्ध बोलना तब तक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, जब तक कि दृढता श्रौतप्रमाणों एवं स्वयं गीताप्रमाणों के आधार पर उन भाष्य-टीकाओं की निःसारता सिद्ध न कर दें। इसलिए यह आवश्यक है कि व्याख्याताओं ने जिस ढंग से अब तक के प्रकरण की सङ्गति लगाई है, पहले उसका संक्षिप्तस्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाए, अनन्तर समालोचना द्वारा सत्यासत्य का निर्णन किया जाए। रुष्ट होने की बात नहीं है। ग्रन्थ सामने रख लीजिए, निष्पक्षदृष्टि से विचार कीजिए। सारी स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

शाङ्करभाष्यमतानुसार-विषयसङ्गति—

"भगवान् ने गीताशास्त्र के प्रवृत्तिनिमित्तविषयभूता सांख्य में बुद्धि, योग में बुद्धि, इस प्रकार दो बुद्धियों का निर्देश किया है। (भिन्न-भिन्न दो बुद्धियाँ बतलाई हैं)। इन दोनों बुद्धियों में–**"प्रजहाति यदा कामान्"**[1] यहाँ से आरम्भ कर (द्वितीय) अध्यायसमाप्तिपर्यन्त सांख्यबुद्धि को प्रधान मानने वालों (संन्यासियों) को संन्यास (कर्म्मत्याग) कर्त्तव्य बतला कर, उन संन्यासियों की इस (कर्म्मत्यागलक्षण) सांख्यनिष्ठा से ही कृतार्थता बतलाई है, (जैसा कि अध्यायसमाप्तिसूचक) **"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"**[2]- इस वचन से स्पष्ट है। (परन्तु) अर्जुन के लिए भगवान् ने–**"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते"** **"मा ते सङ्गोस्त्वकर्म्मणि"**–इत्यादिरूप से योगबुद्धि का आश्रय लेते हुए कर्म्म ही कर्त्तव्य बतलाया है, साथ ही में **"दूरेण-ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय"**–आनन्दगिरिव्याख्या-इत्यादिरूप से कर्म्म से ही श्रेयःप्राप्ति नहीं बतलाई है। यह देख (सुन) कर व्यामोह में पड़ कर अर्जुन बोला–भगवन्! मुझ भक्त के लिए जो कि श्रेयोमार्ग की अभिलाषा रखता है, साक्षात्रूप से श्रेयःप्राप्ति की साधनभूता सांख्यबुद्धिनिष्ठा सुना कर फिर श्रेयःप्राप्तिफल में अनैकान्तिक कर्म्म में क्यों नियुक्त करते हैं? **"ज्यायसी०"** इत्यादि प्रश्न की यही सङ्गति है। उत्तर में भगवान् ने सांख्य-योग निष्ठा को सर्वथा पृथक् वतलाते हुए–**"न कर्म्मणा**

१ गीता २।५५। २ गीता २।७२।

मनारम्भात्०"–इत्यादिरूप से अज्ञ अधिकारियों के लिए कर्म्म आवश्यक बताया है। सांख्यों के पृथक्-करण से भगवान् का अभिप्राय यही है कि ज्ञानियों के लिए कर्म्मयोग नहीं है, अपितु, अज्ञानी ही कर्म्म-योग के अधिकारी है। जैसा कि हमने–"**वेदाविनाशिनं नित्यम्**"–इत्यादि प्रकरण में कह दिया है।

—०—

श्रीशङ्कराचार्य का अभिप्राय यही है कि यद्यपि गीता में ज्ञान-कर्म्म दोनों निष्ठाओं का ही निरूपण है, तथापि मुख्यरूप से गीता ज्ञानयोग का ही प्रतिपादन करती है। साथ ही में इनकी दृष्टि में गीता में जहाँ-जहाँ **बुद्धि-बुद्धियोग** शब्द प्रयुक्त हुए हैं, सर्वत्र उनसे ज्ञानयोग ही अभिप्रेत है। जिस प्रकार ज्ञानाभिनिविष्ट अर्जुन ने बुद्धि का अर्थ ज्ञान समझते हुए–"**ज्यायसी चेत्०**"–यह कह डाला था, उसी प्रकार कर्म्मत्यागलक्षणज्ञानाभिनिवेश से आचार्य ने भी बुद्धि का अर्थ ज्ञानयोग ही समझा है। इनका यह अभिनिवेश भी अपने घर की वस्तु नहीं है। अपि तु, चिरकाल से प्रचलित कापिलनिष्ठा की कृपा से ही इन्हें इस अभिनिवेश का अनुसरण करना पड़ा है। आगे जितने व्याख्याता हुए हैं, उन सबने भी–"**गता-नुगतिको लोकः**"–इस न्याय को ही चरितार्थ किया है। १–**गीताभाष्य-विवेचन** के रचयिता **श्री आनन्द-गिरि**, २–**गूढार्थदीपिकाकार श्री मधुसूदन सरस्वती**, ३–भारतभावदीपान्तर्गत **गीतार्थप्रकाश** के रचयिता **श्री नीलकण्ठ**, ४–**गीतासुबोधिनी** के रचयिता **श्रीधरस्वामी**, ५–**गीताभाष्योत्कर्षदीपिका** के रचयिता **श्री धनपति सारस्वत**, ६–गीतातात्पर्य्यबोधिनीकार **श्रीशङ्करानन्द सरस्वती**, ७–**गूढार्थदीपिकातत्वा-लोक** के रचयिता श्री **धर्म्मदत्त** महाभाग (बच्चा झा), ८–**परमार्थप्रपा** के रचयिता **श्री सूर्य्यदेवज्ञ**, ९–**अद्वै-ताङ्कुरा** के रचयिता **श्री वासुदेव शास्त्री** आदि जितने भी टीकाकार हुए हैं, उन सबने केवल शङ्कर-भाष्य के समन्वय का ही विफल प्रयास किया है। मूलगीता की विषयसंगति की ओर किसी का लक्ष्य नहीं हैं। मानो किसी में स्वतन्त्र प्रज्ञा है ही नहीं। शास्त्र-मर्य्यादा का क्या यही अर्थ होता है कि हम अपने बुद्धि का सहजसिद्ध स्वातन्त्र्य ही छोड़ दें? बस, इसी दोष ने आज तक गीता के वास्तविक रहस्य को तिरोहित रक्खा है। हाँ, इस सम्बन्ध में एक विद्वान् का श्रद्धापूर्वक स्मरण आवश्यक है। वे विद्वान् कोई अर्वाचीन नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि विद्वत्समाज उन पर निष्ठा नहीं रखता। उन्होंने गीतार्थ के सम्बन्ध में अवश्य ही स्वतन्त्र प्रतिभा से काम लिया है। यही कारण है कि और-और भाष्यकारों एवं टीकाकारों की अपेक्षा वे गीता के मर्म्म पर आंशिकरूप से पहुँचने में समर्थ हो सके हैं। काश्मीरा-भिजन परमादरणीय **श्रीश्री अभिनवगुप्ताचार्य** ही एक ऐसे व्याख्याता है, जिन्होंने किसी भाष्य एवं टीका का आधिपत्य स्वीकार न करते हुए "**गीतार्थसंग्रह**" नाम से गीता पर एक संक्षिप्त किन्तु गभीराशय व्याख्या लिखी है। गीता-प्रेमियों से अनुरोध करेंगे कि यदि उन्हें प्राचीन व्याख्याताओं की व्याख्या से प्रेम है तो उन्हें अपना वह प्रेम अभिनवगुप्ताचार्य के चरणों में ही समर्पित करना चाहिए।

जब कि अभिनवगुप्ताचार्यातिरिक्त प्रायः सभी व्याख्याता गीतामूल की उपेक्षा कर भाष्यपङ्क्तियों की संगति में ही व्यस्त हैं तो उनसे यथार्थज्ञान की क्या आशा की जा सकती है? ऐसी दशा में शङ्कर-

१ गीता २।५५। २ गीता २।७२।

भाष्य-समीक्षा से ही इतर व्याख्याओं की समीक्षा गतार्थ हो जाती है । पहले तो भाष्योक्त सांख्य-योग-निष्ठासम्बन्धी विषयविभाग पर ही हमें आपत्ति है । भाष्यकार ने–**"प्रजहाति यदा कामान्"**०[1] श्लोक से आरम्भ कर **"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"**[2] यहाँ तक सांख्यनिष्ठा का प्रतिपादन माना है । उधर स्वयं गीताचार्य ने **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः–"योगे त्विमां शृणु"**[3] इस श्लोक से अत्यन्त विस्पष्ट अक्षरों में यहाँ से पहले-पहले सांख्यनिष्ठा की समाप्ति बतलाई है एवं यहाँ से आगे के प्रकरण को योगनिष्ठापरक माना है । इस योगनिष्ठा की समाप्ति–**"एषा ब्राह्मी स्थितिः"**[4]- यहाँ पर मानी गई है । तभी–**"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ"**[5]–इस श्लोक का समन्वय होता है । इससे पहले-पहले भगवान् दोनों निष्ठाओं का निरूपण कर चुके हैं । श्लोकस्थ–**"पुरा प्रोक्ता मयानघ"**–यह वाक्य पूर्वप्रकरण का ही सूचक है । **"पुरा"** का अर्थ भाष्यकार ने–**"पुरा पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्ति साधनं वेदार्थसम्प्रदायमाविष्कुर्वता प्रोक्ता मया सर्वज्ञेनेश्वरेण"**–यह किया है । भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि सृष्टि के आरम्भ में पहले तो ईश्वर ने प्रजा उत्पन्न की । फिर प्रजा के ऐहलौकिक-पारलौकिक सुखरूप अभ्युदय-निःश्रेयस के लिए उक्त दोनों निष्ठाओं का प्रवचन किया, हम पुरा शब्द के उक्त अर्थ में अणुमात्र भी सहमत नहीं हैं ।

अर्जुन को दोनों निष्ठाओं से व्यामोह होता है । भगवान् को व्यामोह हटाना है । ऐसे अवसर पर–**"ईश्वर ने पहले से दो निष्ठाएँ कह रक्खी हैं"** इस उत्तर से क्या अर्जुन का व्यामोह हट-जाएगा ? स्मरण रहे भगवान् ने–**"लोके ऽस्मिन्"** कहा है । भगवान् की उक्ति का सीधा सा तात्पर्य्य यह है कि लोक में (सर्वसाधारण में) जो दो निष्ठाएँ प्रचलित हैं, इस (आगे के प्रकरण) से पहले-पहले मैने उन्हीं लोकप्रचलित दोनों निष्ठाओं का (संशोधनपूर्वक) स्वरूप तेरे सामने रक्खा है । **"लोके"** से भगवान् यह भी सूचित कर रहे हैं कि अब आगे मैं जो कुछ कहूँगा, वह अपना स्वतन्त्र मत होगा, जो कि लोकनिष्ठाओं का संग्राहक बनता हुआ भी उन से अपूर्व होगा । अब तक मैने परमत का उल्लेख किया है, अब स्वमत का दिग्दर्शन कराऊँगा । यही बात स्वयं भगवान् आगे जा कर–**"ये मे मतमिदं नित्यमनुष्ठन्ति मानवाः"**[6]–इत्यादिरूप से स्पष्टरूप से कहने वाले हैं । इस विस्पष्ट परिस्थिति के रहते **"एषा ते०" "योगे त्विमाम्" "पुरा प्रोक्ता"**–इत्यादि का कोई आदर न करते हुए कल्पना के आधार पर **"प्रजहाति"** से **"एषा ब्राह्मी"** तक सांख्यनिष्ठा का प्रतिपादन मान बैठना एवं **"पुरा प्रोक्ता"** के पुरा को सर्गादिपरक मान बैठना हमारी बुद्धि में सिवाय प्रौढिवाद के और कोई महत्त्व नहीं रखता । **"इस लोक में जो दो निष्ठाएँ प्रचलित हैं इस (आगे के प्रकरण) से पहले पहले मैने क्रमशः "एषा ते०" से पूर्व-पूर्व सांख्यनिष्ठा का एवं "योगे त्विमां" से आरम्भ कर "एषा ब्राह्मी स्थितिः यहाँ तक के प्रकरण से योगनिष्ठा का निरूपण किया है ।"** इस ऋजु समन्वय का कोई भी अपलाप नहीं कर सकता । आश्चर्य तो यह है कि भाष्यभक्त **श्रीधर, मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ** ने भी इस अंश में भाष्य का विरोध करते हुए–**"विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना"**–इस सूक्ति को चरितार्थ कर डाला है । इन तीनों व्याख्याताओं ने अन्य अंश में

१ गीता २।५५ । २ गीता २।७२ । ३ गीता २।३६ ।
४ गीता २।७२ । ५ गीता ३।३ । ६ गीता ३।३१ ।

भाष्यपथ का अनुसरण करते हुए भी "**पुरा प्रोक्ता**"-में सर्वथा असहयोग कर डाला है । तीनों ने "**पुरा**" शब्द का प्रकृतिसिद्ध-"**पुरा-पूर्वाध्याये**"-यही अर्थ किया है । इस पर भाष्यभक्त श्री धनपति उक्त तीनों व्याख्याताओं पर बिगड़ते हुए कहते हैं—

"यत्तु पुरा पूर्वाध्याये-इति भाष्यविरुद्धं वर्णयन्ति तन्न । प्रोक्तेत्येतावतैव निर्वाहे लोकेऽस्मिन्नित्यस्य, पुरेत्यस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' इति वक्ष्यमाणेन भाष्योक्तार्थस्य स्पष्ट-प्रतिपादकेन मूलेन विरोधाच्च" । (गीता ३।३। भाष्योत्कर्षदीपिका व्याख्या ।)

भक्तराज का कहना है कि "जो व्याख्याता पुरा का अर्थ "पूर्वाध्याय" मानते हुए भाष्य का विरोध कर रहे हैं, वे भ्रान्ति में हैं । यदि "**पुरा**" शब्द से पूर्वाध्याय ही अभिप्रेत होता तो **लोकेऽस्मिन्-**पुरा"-यह कहने की कोई आवश्यकता ही न थी । "**मैंने दो निष्ठाएँ कही हैं**"-यही कहने से काम चल जाता । ऐसी दशा में "**लोकेऽस्मिन्-पुरा**"-कहना यह सूचित करता है कि "**पुरा**" से भगवान् सर्गादि का ही संकेत कर रहे हैं । अपि च आगे जा कर स्वयं भगवान् अपने मुख से-"इस योग का-**उपदेश मैंने विवस्वान् को दिया था**"-यह कहने वाले हैं । इससे भगवान् स्पष्ट ही इस निष्ठा की सर्गादिता सिद्ध कर रहे हैं" ।

मालूम होता है, अभी व्याख्याता गीतोक्त "**योग**" शब्द से भी अपरिचित हैं । "**ज्ञानयोगेन-सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनां**"-से योग शब्द उन व्याख्याताओं के मतानुसार कर्म्मयोगपरक है, जैसा कि उन्होंने-"**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**"-की व्याख्या करते हुए स्वीकृत किया है । ऐसी अवस्था में तो उनकी अनादि सांख्यनिष्ठा ही ध्वस्त हो जाती है । भगवान् ने तो सबसे पहले योग (कर्म्मयोग) का ही उपदेश दिया है । वस्तुतः योगशब्द सर्वत्र बुद्धियोग का वाचक है, जिसमें सांख्य (ज्ञान) एवं योग (कर्म्म) दोनों का समन्वय है । इस योग के प्रथमोपदेष्टा भगवान् ही थे । सबसे पहले उन्होंने विवस्वान् को ही इसका उपदेश दिया था । विवस्वान्-युग सृष्टि का आदियुग नहीं हैं । पुराण उठा कर देखिए, देवयुग का विकास प्रजासर्ग के लाखों वर्ष पीछे हुआ है, जैसा कि भाष्यभूमिका में विस्तार से बतलाया जा चुका है । ऐसी अवस्था में अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए योग को दोनों निष्ठाओं का वाचक मान भी लें, तब भी "**प्रोक्तवान्**" वाले युग को सर्गादिकाल कथमपि नहीं माना जा सकता । लोकनिष्ठाएँ सर्वथा स्वतन्त्र हैं । भगवान् का बुद्धियोग सर्वथा पृथक् है । उसे इसके साथ मिलाना नितान्त भ्रान्ति है । अपि च यदि भगवान् को सर्गादिकाल ही अभिप्रेत होता तो-"**लोकेऽस्मिन्-पुरा**"-कहने की कोई आवश्यकता न थी । आदियोग भिन्न है, पूर्वप्रतिपादित लोकनिष्ठाएँ भिन्न हैं, यही बतलाने के लिए "**लोकेऽस्मिन्-पुरा**-कहा गया है । ऐसी स्थिति में व्याख्याता का प्रयास सर्वथा भग्न हो जाता है ।

जाने दीजिए विषय-संगति को । भाष्यकार कहते हैं-बुद्धि से प्रकृत में ज्ञानयोग अभिप्रेत है । **दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**"-से भगवान् कर्म्म की अपेक्षा ज्ञानयोग को ही श्रेष्ठ बतला रहे हैं ।

हम नहीं समझते, भाष्यकार ने ज्ञान और बुद्धि को परस्पर में पर्य्याय किस आधार पर मानलिया ? **"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः"०**[1] इत्यादिरूप से स्वयं भगवान् बुद्धिज्ञान का पार्थक्य मान रहे हैं।

बुद्धि ज्ञानानुगता बनती हुई ज्ञानमयी है, कर्म्मानुगता हो कर विज्ञानमयी है । परन्तु स्वयं बुद्धि ज्ञान नहीं है । ज्ञान तो साक्षात् ब्रह्म है- **"तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्"** । **"यो बुद्धेः परतस्तु सः"**–के अनुसार ब्रह्म-लक्षण निरूपाधिकज्ञान बुद्धि से परे है । फलतः दोनों का पर्य्यायसम्बन्ध मानना सर्वथा अशुद्ध है । जब बुद्धि को ज्ञान का पर्य्याय नहीं माना जा सकता तो बुद्धियोगात् का ज्ञानयोगात् अर्थ कैसे किया जा सकता है ? बुद्धि न केवल ज्ञान से ही सम्बन्ध रखती, न केवल कर्म्म से ही । बुद्धि दोनों ओर जा सकती है । ज्ञानानुगतबुद्धियोग सांख्यनिष्ठा है, कर्म्मानुगतबुद्धियोग योगनिष्ठा है । इसी दृष्टि से ज्ञान-योग यदि बुद्धियोग कहा जा सकता है तो कर्म्मयोग भी बुद्धियोग माना जा सकता है । **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः-योगे त्विमां शृणु"**दोनों वाक्य-"सांख्य"–योग दोनों के साथ समानरूप से बुद्धि का सम्बन्ध मान रहे है एवं प्रकरणारम्भ में स्वयं भाष्यकार ने–**"शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूते द्वे बुद्धी भगवता निर्दिष्टे-सांख्ये बुद्धिः, योगे बुद्धिरिति"**–दोनों निष्ठाओं के साथ बुद्धि का सम्बन्ध माना है । वही भाष्यकार आगे जा कर अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को भुलाते हुए–**"बुद्धिर्ज्ञानं"**–यह कहने लगते हैं । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि बुद्धियोग का अर्थ सांख्यनिष्ठारूप ज्ञानयोग ही है । यदि ऐसा है तो स्वयं भाष्यकार को संकट में पड़ जाना पड़ेगा । बुद्धि का आत्मा के साथ योग होना ही बुद्धियोग है । बुद्धियोगी ही **"बुद्धियुक्त"** कहलाता है । गीताशास्त्र की दृष्टि से तो कर्म्मयोगी ही बुद्धियुक्त माना गया है, जैसा कि–**"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते"** इत्यादि से स्पष्ट है । स्वयं भाष्यकार ने यहाँ "बुद्धियुक्तः" के सम्बन्ध में–**"योगे तु तत्प्राप्त्युपाये"–निःसङ्गतया द्वन्द्वप्रहाणपूर्वकमीश्वराराधनार्थे कर्म्म-योगे कर्म्मानुष्ठाने समाधियोगे च इमामनन्तरमेवोच्यमानां बुद्धिं शृणु । तां चबुद्धिं स्तौति पुरोचनार्थम् । बुद्धया यया योगविषयया हे पार्थ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि"**–इत्यादि विचार प्रकट करते हुए प्रकृत "बुद्धियुक्तः" लक्षण बुद्धियोग को कर्म्मयोगपरक माना है । यही नहीं कर्म्मयोगलक्षण इस बुद्धियोग को कर्म्मबन्ध-विमुक्ति का कारण भी स्वीकार किया है । बुद्धियोग को भगवान् ने कहीं ज्ञानयोग शब्द से सम्बोधित किया नहीं, आप बुद्धियोग को एक स्थान पर ज्ञानयोग मानते हुए ज्ञानयोग को ही कर्म्मग्रन्थिविमोक का कारण मानते हैं, आप ही दूसरे स्थल में बुद्धियोग को कर्म्मयोग मानते हुए इसे भी कर्म्मबन्धविमोक का कारण मान रहे हैं । इस प्रकार–**"दूरेण ह्यवरं कर्म्म"** **"बुद्धियुक्तो जहातीह"** दोनों ही वचन आपके लिए संकट का कारण बन रहे हैं । इससे बचने का उपाय एकमात्र निष्कामकर्म्मपरिग्रह–कामत्याग-लक्षण, अतएव सांख्ययोगात्मक (ज्ञानकर्म्मात्मक) बुद्धियोग का ही आश्रय लेना है–**"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"** । **"दूरेण ह्यवरं कर्म्म"** वाला कर्म्म फल-कामप्रवृत्तिलक्षण काम्यकर्म्म है । बुद्धियोग की अपेक्षा यह निकृष्ट है । बुद्धियोग निष्काम कर्म्म बनता हुआ अबन्धन है । "बुद्धियुक्तः"–से भी वही निष्काम-कर्म्मलक्षण बुद्धियोग अभिप्रेत है । इस प्रकार न मूल में विरोध का अवसर है, न संकट में पड़ने की ही आवश्यकता है । इसी आधार पर हमने किसी भाष्य-टीका का समादर न करते हुए मूलग्रन्थ के आधार

---

१ गीता १०।४ । २ गीता २।३९ शांकर भाष्य ।

पर ही द्वितीयाध्याय की पूर्वोक्त संगति पाठकों के समक्ष उपस्थित की है। विवाद इसी स्थान पर समाप्त नहीं हो जाता। सभी स्थल-व्याख्याताओं की कृपा से इसी प्रकार उलझन में पड़े हुए हैं। वैदिक-तत्त्वों की विज्ञानदृष्टि के विलुप्त हो जाने से गीताशब्दों की हत्या की गई है, जैसा कि पाठक ततत् प्रकरणों में देखेंगे। सांप्रदायिक अभिनिवेश ने गीता का वास्तविक कर्म्म कुचल डाला है। शाश्वत-आत्मानन्द के साथ व्यावहारिक जीवन को मिला कर लौकिक-पारलौकिक दोनों विभूतियों से हमें सम्पन्न करने वाला गीताशास्त्र इन ज्ञानाभिमानी व्याख्याताओं की कृपा से आज केवल पुण्यपाठ की वस्तु रह गई है। गीता का उपयोग वृद्धावस्था में किया जाता है। मरते समय गीता सुनाई जाती है। हमारा भी दृढ विश्वास है कि प्रयाणकाल में गीता के शब्द अवश्य ही प्रेतात्मा की सङ्गति के कारण बनते हैं। परन्तु केवल यहीं गीता की उपयोगिता समाप्त नहीं हो जाती। गीता हमारी दिनचर्या है। लौकिक पार-लौकिक प्रत्येक कर्म्म में गीता हमारा नियन्ता सूत्र है। इतर शास्त्रों की अपेक्षा यही गीता की अपूर्वता है।

प्रारम्भ में हमने कहा था कि व्याख्याताओं का ज्ञानाभिनिवेश भी अपने घर की वस्तु नहीं हैं। अपि तु, लोकप्रचलित **कापिलनिष्ठा** ही इस अभिनिवेश का मूल है। ऐसी अवस्था में जिन व्याख्याताओं ने–"**केवलादेव ज्ञानान्मोक्ष इत्येषोऽर्थो निश्चितो गीतासु-सर्वोपनिषत्सु च**"[1]–इस प्रकार गीता एवं उपनिषदों को विशुद्ध ज्ञानयोगपरक मानने का साहस किया है, वे इस सम्बन्ध में विशेष अपराध के भागी नहीं कहे जा सकते। इसका सारा श्रेय तो **सिद्ध कपिल** को ही है, जिन्होंने सर्वप्रथम लोक में सर्वकर्म्मपरित्याग लक्षणा ज्ञाननिष्ठा का बीजवपन किया। सचमुच साधारण मनुष्यों के लिए यह महासंकट का प्रश्न है। कपिल साधारण मनुष्य न थे। उद्भट विद्वान् थे, तपस्वी थे। स्वयं भगवान् ने–"**सिद्धानां कपिलो मुनिः**"–कह कर कपिल को अपनी विभूति माना है। ऐसे सिद्ध कपिल की निष्ठा का यदि लोक में आदर न होता तो आश्चर्य था। परन्तु आश्चर्य यह है कि स्वयं भगवान् ने ही इस निष्ठा पर आक्रमण किया है। गीताशास्त्र क्या अवतीर्ण हुआ है—कपिल और कृष्ण का संघर्ष अवतीर्ण हुआ है। चूंकि हम गीताभाष्य लिखने बैठे हैं, गीता ने कपिलनिष्ठा का सर्वात्मना उच्छेद किया है, अतः हमें विवश हो कर कापिलनिष्ठा के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करनी पडी है। यद्यपि पूर्व की उपनिषदों में सर्वकर्म्मत्यागलक्षणा इस कापिलनिष्ठा एवं कर्म्मपरिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा का दिग्दर्शन कराया जा चुका है, तथापि विषयसन्दर्भ संगति के लिए यहाँ भी संक्षेपतः दोनों निष्ठाओं का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। कापिलनिष्ठा ने किन प्रमाणों के आधार पर अपनी निष्ठा स्थापित की है ? यही इस प्रकरण का मुख्य विषय होगा—

१–सांख्यनिष्ठा–(ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्)

कापिलानाम्–"सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।"

सांख्यशास्त्र की प्रधान दृष्टि ज्ञान पर है। कर्म्म इसकी दृष्टि में सर्वथा हेय पदार्थ है। सांख्यशास्त्र-प्रणेता महामुनि कपिल की दृष्टि में सम्पूर्ण उपनिषत् सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग को ही मुक्ति का

१ गीता ३।१। शांकरभाष्य।

चरम साधन मानती हैं। कपिल को उपनिषदों से ऐसा अर्थ क्यों प्रतीत हुआ ? इस प्रश्न के समाधान के लिए पहले कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत करने आवश्यक हैं, जिनसे सहसा ज्ञानयोग की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है—

१–न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥[1]

२–वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥[2]

३–आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥[3]

४–जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत् प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥[4]

५–एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।
समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥[5]

६–अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते ॥[6]

७–तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
ज्ञानं लब्ध्वाचिरादेव मामकं धाम यास्यसि ॥[7]

८–यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥[8]

९–कर्म्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।[9]

---

१ कैवल्योप० ३। २ कैवल्योप० ४। ३ कैवल्योप० ११।
४ कैवल्योप० १७। ५ कैवल्योप० २३-२४। ६ कैवल्योप० २४।
७ मुक्तिकोप० २७। ८ श्वेता० उप० ६।२०। ९ श्वेता० उप० ६।४।

१०–ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।[1]

११–य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।[2]

१२–य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।[3]

१३–तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।[4]

१४–विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।[5]

१५–एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।[6]

१६–तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।[7]

१७–एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।[8]

१८–यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।[9]

१९–क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।[10]

२०–सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।[11]

२१–न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।[12]

२२–कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।[13]

२३–नास्त्यकृतः कृतेन ।[14]

२४–ज्ञानान्मुक्तिः ।[15]

---

१ श्वेता० उप० ५।१३ । २ श्वेता० उप० ४।२० । ३ श्वेता० उप० ४।८
४ श्वेता० उप० ३।७ । ५ केनोप० २।१२ । ६ कठोप० १।२।१७ ।
७ कठोप० १।३।१३ । ८ कठोप० २।४।१५ । ९ कठोप० २।६।८ ।
१० मुण्डकोप० २।२।८ । ११ मुण्डकोप० ३।१।५ । १२ मुण्डकोप० ३।१।८
१३ मुण्डकोप० ३।२।७ । १४ मुण्डकोप० १।२।१२ । १५ योगशिखोप० ५४

२५–तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।[1]

२६–ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ।

२७–ऋते ज्ञानान्न मोक्षः ।

२८–ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्म्मणः ।
यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ।।

२९–अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् ।।

३०–त्यज धर्म्ममधर्म्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ।।

३१–संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ।।

३२–कर्म्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।

३३–आत्मनो नित्यमुक्तस्य निर्विभागस्य षण्मुख ।
नैवास्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमित्याहुर्वेदवादिनः ।।[2]

उक्त श्रौत–स्मार्त्तवचन कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग को ही मुक्ति का अनन्य साधन मान रहे हैं । इन्हीं साधनों को आगे करके कपिल ने संन्यास का अर्थ सर्वकर्म्मों का परित्याग माना है । न केवल कपिल ने ही, अपि तु, कपिलानुयायी श्रीशङ्करादि अर्वाचीन सभी व्याख्याताओं ने इस अंश में कपिल का ही अनुसरण किया है । यद्यपि स्वयं वेदान्तसूत्रों से कभी इस मत की पुष्टि नहीं होती है, तथापि अभिनिवेश-बल पर व्याख्याताओं ने वेदान्त-सूत्रों को कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास की ओर ही आकर्षित किया है । गीता के सांख्य एवं योग शब्द बड़ी उलझन में डालने वाले हैं । इधर दर्शन-विभाग के अनुसार सांख्य-दर्शन भिन्न वस्तु है एवं वेदान्तदर्शन भिन्न वस्तु है । दोनों के आत्मविवर्त्त सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं । वेदान्तदर्शन का मुख्य लक्ष्य "प्रत्यगात्मा" है एवं सांख्यदर्शन का मुख्य लक्ष्य "शारीरक आत्मा" है ।

---

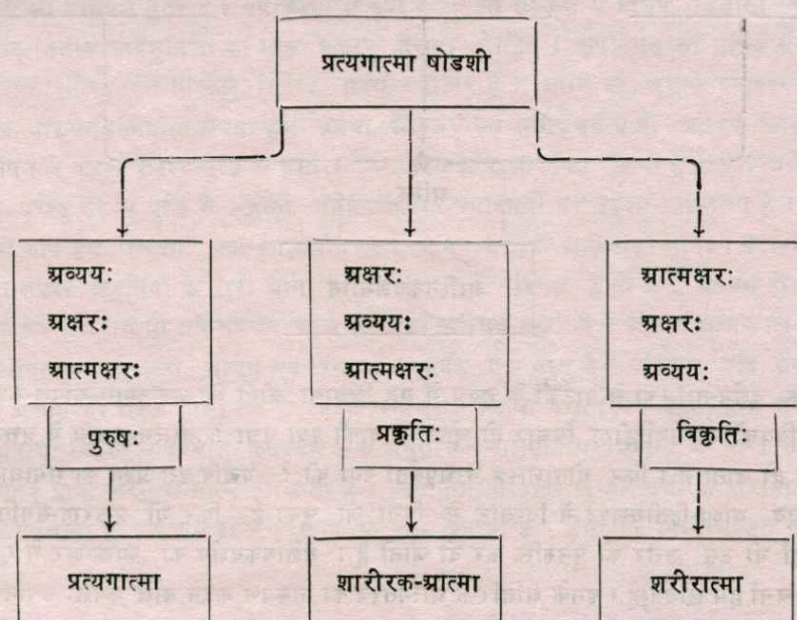
१ श्वेता० उप० ३।८ ।
२ सौरपुराण अ० ११।३३ ।

इन दोनों आत्माओं का स्वरूप पूर्व की प्रथमोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रत्यगात्मा देह में विभूति-सम्बन्ध से युक्त रहता हुआ सर्वथा निर्गुण है, शारीरक आत्मा शरीर के साथ योगसम्बन्ध से युक्त रहता हुआ सगुण है। दोनों का आयतन-आशय-एक। परन्तु एक साक्षी तो दूसरा भोक्ता। एक प्रतिशरीर में भिन्न, एक सब भिन्नों में अभिन्न। प्रत्यगात्मा–"**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**"–इस वक्ष्यमाण सिद्धान्त के अनुसार विभक्त शारीरक आत्माओं में अविभक्त रहता हुआ शरीरसंस्था के भेद से यद्यपि विभक्त प्रतीत हो रहा है, परन्तु आतपरूप यह प्रत्यागात्मा विभूतिरूप से अपने प्रत्यंश-स्थानीय प्रतिबिम्बरूप शारीरक आत्माओं के साथ योग करता हुआ, अतएव विभक्तवत् प्रतीत होता हुआ भी परमार्थदृष्टया एक है, अभिन्न है। इसी को लक्ष्य में रख कर–"**भिन्नेष्वभिन्नवद् भाति**"–यह कहा जाता है। इसी आत्मा को लक्ष्य में रख कर वेदान्तदर्शन ने अद्वैत सिद्धान्त स्थापित किया है, जो कि प्रत्यगात्मदृष्टि से सर्वथा निर्बाध है। वेदान्तदर्शन का उद्देश्य आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न शारीरक आत्मा है। शारीरक आत्मा आत्मानुबन्धों के कारण अपने उस परमार्थ-स्वरूप (प्रत्यगात्मा) से वञ्चित हो रहा है। शारीरक आत्मा भी उसी का तो अंश है। "**अंशो नानात्वात्**"–से व्यासदेव ने स्वयं अंशरूप चिदाभासलक्षण इस शारीरक आत्मा को प्रतिशरीर में भिन्न (नाना) माना है। प्रत्यगात्मा को अंशी मानते हुए अभिन्न माना है। वेदान्तदर्शन ने शारीरक को उद्देश्य बना कर प्रत्यगात्मा का विधान किया है। शारीरक आत्मा जब तक सांख्योक्त सम्यग्दर्शन से वञ्चित रहता है, तब तक वह अपने उस प्रत्यगात्म-स्वरूप के दर्शन में असमर्थ रहता है। शारीरक आत्मा किन उपायों से प्रत्यगात्मा के दर्शन कर सकता है? किन दोषों से वह इस दर्शन से वञ्चित हो रहा है? बस, सम्पूर्ण वेदान्तदर्शन एकमात्र इन्हीं दो प्रश्नों का समाधान करता है। चूंकि उद्देश्य इस का शारीरक आत्मा है एवं इसी के सम्यग्दर्शनरूप-तत्त्व-संख्यान से इसके दर्शन होते हैं, अतएव यह दर्शन–"**शारीरकदर्शन**"–नाम से व्यवहृत हुआ है। **उद्देश्य शारीरक, विधेय प्रत्यगात्मा**"–बस, यही शारीरक दर्शन का चरम रहस्य है।

प्रत्यगात्मा को षोडशीपुरुष कहा जाता है। निष्कल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर की समष्टि ही षोडशीपुरुष है, यही प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा की इन तीनों कलाओं से क्रमशः–**प्रत्यगात्मा–शारीरक आत्मा–शरीर** इन तीन संस्थाओं का जन्म होता है। आत्मक्षर–अक्षर-गर्भित अव्यय **प्रत्यगात्मा** है। अव्यय-आत्मक्षरगर्भित अक्षर–**शारीरक आत्मा है**। अव्यय-अक्षर-गर्भित क्षर 'शरीर' है। इन तीन संस्थाओं के कारण एक ही आत्मदर्शन तीन भागों में विभक्त हो गया है। **वैशेषिक दर्शन**–क्षरप्रधान शरीराधिष्ठाता आत्मा का निरूपण करता है, अतएव इस दर्शन ने आत्मा को "**द्रव्य**" माना है। इसकी दृष्टि क्षर पर ही रह जाती है। क्षरात्मनिरूपण के कारण ही हम इसे "**व्यक्त दर्शन**" कह सकते हैं। इस दर्शन का **उद्देश्य–शरीर है, विधेय क्षरात्मा** है। सांख्यदर्शन अक्षर-प्रधान शारीरक आत्मा का निरूपण करता है। अक्षर को ही अव्यक्त कहा जाता है।

अक्षर ही "**प्रधाना**" नाम से प्रसिद्ध प्रकृति है, अतएव इस दर्शन को हम **अव्यक्तदर्शन**–**प्राधानिक दर्शन**–इत्यादि नामों से सम्बोधित कर सकते हैं। इसका उद्देश्य **तत्त्वसमष्टि है**, विधेय शारीरक आत्मा है। वेदान्तदर्शन अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा का निरूपण करता है। आत्मोपनिषदों में यही

आत्मा अन्तिम है, अतएव इस आत्मा को **वेदान्तपुरुष-औपनिषदपुरुष**-इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है । यह आत्मविवर्त्त चूंकि अव्ययप्रधान है, अव्यय को ही पुरुष कहा जाता है, अतएव इसे हम-"**पुरुषदर्शन वेदान्तदर्शन**"-आदि नामों से व्यवहृत कर सकते हैं । इस प्रकार अव्ययप्रधान **पुरुषात्मा**, अक्षरप्रधान **प्राकृतात्मा** क्षरप्रधान **वैकृतात्मा** भेद से एक ही प्रत्यगात्मा तीन भावों में परिणत हो रहा है । परमकारुणिक **व्यास-कपिल-कणाद**-इन तीन आचार्यों ने क्रमशः तीनों का निरूपण किया है । मन-प्राण-वाक् की उन्मुग्धावस्था को ही "अस्ति" किं वा **सत्ता** कहा जाता हैं । तीनों की दृष्टि अस्थिरलक्षण उक्त तीनों आत्मविवर्त्तों पर है, अतएव इन तीनों को हम **आस्तिकदर्शन** कह सकते हैं । नामरूपकर्म्म की समष्टि नास्ति-तत्त्व है । इस नास्ति-तत्त्व के दर्शक शास्त्र ही **नास्तिक-दर्शन** नाम से व्यवहृत हुए हैं । अपने-अपने धरातल पर प्रतिष्ठित होते हुए छहों दर्शन सर्वथा सत्य हैं, उपादेय हैं, निर्भ्रान्त हैं । परस्पर का विरोधांश सर्वथा त्याज्य है—



१-अक्षरात्मक्षरगर्भितः —अव्ययः (पुरुषः)→पुरुषात्मा—प्रत्यगात्मा ।

२-आत्मक्षराव्ययगर्भितः—अक्षरः (प्रकृतिः)→प्राकृतात्मा—शारीरक-आत्मा ।

३-अव्ययाक्षरगर्भितः—आत्मक्षरः (विकृतिः)→वैकृतात्मा— बाह्यात्मा ।

—•—

१	२	३
१–शारीरकदर्शनम्	२–प्राधानिकदर्शनम्	३–वैशेषिकदर्शनम्
पुरुषदर्शनम्	प्रकृतिदर्शनम्	विकृतिदर्शनम्
वेदान्तदर्शनम्	सांख्यदर्शनम्	वैशेषिकदर्शनम्
व्यासशास्त्रम्	कपिलशास्त्रम्	कणादशास्त्रम्
मनोदर्शनम्	प्राणदर्शनम्	वाग्दर्शनम्
(अ)	(स्)	(ति)

★ अस्ति

आस्तिकदर्शनानि

उक्त दर्शन-तालिका से पाठकों के हृदय में यह जिज्ञासा होगी कि जब व्यास-कपिल-कणाद द्वारा तीनों आत्मविवर्त्तों का सर्वाङ्गीण विचार हो चुका तो बाकी क्या बचा ? आत्मसम्बन्ध में वक्तव्यांश तो यहीं समाप्त हो जाता है । फिर गीताशास्त्र ने अपूर्वता क्या की ? यद्यपि इस प्रश्न का समाधान भाष्य-भूमिका में एवं भाष्य-द्वितीयखण्ड में विस्तार से दिया जा चुका है, फिर भी प्रकरण-संगति के लिए संक्षेप से यहाँ भी उस उत्तर की पुनरुक्ति कर दी जाती है । वैशेषिकदर्शन का व्यक्त-क्षर से सम्बन्ध है, अतः इसकी चर्चा हम छोड़ते हैं । इसके अतिरिक्त आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाले क्रमशः **उपनिषच्छास्त्र, वेदान्तशास्त्र, सांख्यशास्त्र, गीताशास्त्र** ये चार शास्त्र हमारे सामने आते हैं । इनके सम्बन्ध में ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये चारों आत्मशास्त्र यदि किसी एक ही तत्त्व का निरूपण करते हैं, तब तो किसी एक का आश्रय लेना पर्य्याप्त है । साथ ही में सर्वमूलभूत उपनिषद्शास्त्र के सामने इतर तीनों आत्मशास्त्रों का न कोई मूल्य है, न कोई आवश्यकता है । व्यास-कपिल-कृष्ण तीनों ने व्यर्थ ही श्रम किया है । जो ब्रह्म-जिज्ञासा उपनिषदों द्वारा ही शान्त हो जाती है, उसके लिए व्यास की–"**अथातोब्रह्म जिज्ञासा**"–इस प्रतिज्ञा का कपिल की–"**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः परमपुरुषार्थः**"–इस प्रतिज्ञा का एवं भगवान् कृष्ण की–"**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः**"–इस प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं रहता । यदि चारों आत्मशास्त्र भिन्न-भिन्न तत्त्वों का निरूपण करते हैं तो फिर चारों को समान विषय मानना

एव एकहेलया चारों को **"आत्मशास्त्र"**- इस एक नाम से सम्बोधित करना अनुचित है। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए क्रमशः चारों विभक्त, किन्तु अविभक्त शास्त्रों का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है—

१—उपनिषच्छास्त्र

इस शास्त्र को हम—**"सर्वशास्त्र"** भी कह सकते हैं। उपनिषत्-शब्द के अर्थ में हम यह बतला आए हैं कि "**उपनिषत्**" शब्द वेद के अन्तिम भाग में ही निरूढ नहीं है, अपि तु, मौलिक सत्यविज्ञान को ही "**उपनिषत्**" कहा जाता है। ज्ञान-उपासना-कर्म्म तीनों की प्रतिष्ठा मौलिक सिद्धान्तरूप उपनिषत् ही है। उपनिषच्छास्त्र नाममात्र को आत्मशास्त्र है। वस्तुतः इसमें आत्मा-जीव-विश्व-शरीर आदि सभी का निरूपण हुआ है। **प्रज्ञान-विज्ञान-महान्-शान्त-कर्म्मात्मा-साक्षीदेवसत्य—**आदि सभी खण्डात्माओं का निरूपण हुआ है। उपनिषदों में क्या है? इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को **उपनिषद्-विज्ञानभाष्यभूमिका** का उक्त प्रकरण देखना चाहिए। उपनिषत् का उद्देश्य सर्वप्रपञ्च है एवं विधेय प्रत्यगात्मान्तर्गत **निष्कल, अखण्ड, अद्वय, परात्पर** है। ध्यान रहे, अखण्ड परात्पर विश्वातीत बनता हुआ, वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ सर्वथा अविज्ञेय एवं अनिर्वचनीय है, अतएव शास्त्रानधिकृत है। उपनिषत् ने केवल तटस्थ-बुद्धि से हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित किया है। उपनिषदों का लक्ष्य तो वही है, परन्तु तटस्थ बुद्धि से। हमने सर्वप्रपञ्च को उपनिषदों का उद्देश्य बतलाया है। परन्तु सर्व के स्थान में यदि हम "**अव्यय**" शब्द का प्रयोग करें तो वह अधिक समीचीन होगा। कारण अव्यय ही अपनी **परा-अपरा** प्रकृतियों के द्वारा आगे जा कर सर्वरूप में परिणत होता है। अव्यय ही संचर-काल में **ब्रह्मं वेदं सर्वम्** अव्यय ही प्रतिसञ्चर काल में—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** है। **आनन्द** अव्यय का चरम कोष है। यह आनन्दरूप निष्कल अव्यय एवं रसरूप परात्पर एक वस्तु है। परात्पर यदि **अभय** है, तो आनन्दघन अव्यय भी अपने विशुद्धरूप से परात्पर-समकक्ष किं वा परात्पररूप बनता हुआ अभय ही है। **"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"**-के अनुसार कर्म्मात्मा अव्ययानन्द को प्राप्त कर अभयपद (परात्परपद) प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। उपनिषत् ने पहले खण्डात्माओं के द्वारा कर्म्मात्मा को अव्यय पर पहुँचाया है। अव्यय द्वारा परात्पर को लक्ष्य बनाया है। जैसा कि निम्नलिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥[1]

इस लक्ष्य-प्राप्ति का प्रधान साधन ज्ञान-कर्म्मसमुच्चितरूप बुद्धियोग ही है, जैसा कि—**"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"**—इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तों से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह हुआ कि अव्यय को उद्देश्य बना कर, खण्डात्माओं में से किसी एक को साधन बना कर शारीरकात्मा को अव्यय

१ कठोप० १।३।१३।

द्वारा परात्पर पर ले जाना ही सम्पूर्ण उपनिषदों का चरमलक्ष्य है। **परात्पर और अव्यय** इन दोनों उद्देश्य-विधेयभावों में ही उपनिषत् गतार्थ है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा की उक्त चारों कलाओं में से **परात्पर-अव्यय** ये दो कलाएँ उपनिषच्छास्त्र की मुख्य भूमिका बन रही है।

— —०— —

२—वेदान्तशास्त्र—

पूर्व में बतलाया गया है कि पुरुषप्रधान शास्त्र ही वेदान्तशास्त्र है। पुरुष को अव्यय कहा जाता है। अव्यय ही प्रत्यगात्मा की मूल प्रतिष्ठा है। विशुद्ध अव्यय ब्रह्म तब तक जन्म-स्थिति-भंग का कारण नहीं बन सकता, जब तक कि वह प्रकृति का समन्वय प्राप्त नहीं कर लेता। विशुद्ध अव्यय–**"प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्"**–के अनुसार प्रकृति से परे रहता हुआ सर्वथा अचिन्त्य, अविजिज्ञास्य है। अक्षर (प्रकृति) प्रकृतियुक्त अव्ययपुरुष ही विजिज्ञास्य ब्रह्म बनता है। यही जन्म-स्थिति-भंग का कारण बनता है। यही वाङ्मनसपथ का विषय बनता हुआ शास्त्र का विषय बनता है। यही प्रकृति की कृपा से सर्वधर्म्मोपपन्न बनता है। विशुद्ध अव्यय सर्वथा निर्गुण है, सर्वधर्म्मविरहित है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावाक्य से स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ।।[1]

इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वेदान्तदर्शन का ब्रह्म-पदार्थ प्रकृतिविशिष्ट पुरुष (अक्षरविशिष्ट अव्यय) ही है। शारीरक आत्मा अक्षरप्रधान है, जैसा कि पूर्व प्रदर्शित तालिकाओं से स्पष्ट है। यही वेदान्तदर्शन का मुख्य उद्देश्य है। इस सम्बन्ध में भगवान् बादरायण का यह आदेश है कि तुम अक्षर को ही ब्रह्म मत समझो, किन्तु अव्ययविशिष्ट अक्षर ब्रह्म की जिज्ञासा करो। अव्ययानुग्रह से तुम्हारा अक्षर (शारीरक आत्मा) सर्व बन जाएगा। अभी तुम असर्व हो, अपूर्ण हो, अतएव भययुक्त हो। सर्वलक्षणपूर्णता ही अभय है। इसकी प्राप्ति के लिए तुम्हें सर्वधर्म्मोपपन्न, जन्मादिहेतुभूत, शास्त्रयोनि ब्रह्म की विजिज्ञासा करनी चाहिए। **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"**–**"जन्माद्यस्य यतः"**–**"शास्त्रयोनित्वात्"**–**"तत्तु समन्वयात्"**–**"सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च"**–इत्यादि सूत्र इसी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हैं। व्यासदेव की अव्यय पर दृष्टि अवश्य है, परन्तु अक्षर द्वारा। अक्षररूप शारीरक आत्मा को उद्देश्य मान कर अक्षरविशिष्ट अव्यय का विधान करना ही इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। **"अक्षरधियां त्ववरोधः-सामान्यतदभावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्"**–सूत्र से व्यास का उक्त उद्देश्य स्पष्ट है। व्यासदेव अव्यय और अक्षर के मध्य में दोलायमान हैं। अक्षर को अव्यय-दृष्टि से दिखाना, अव्यय को अक्षर से समन्वित बतलाना ही मुख्य शास्त्रार्थ है।

---

१ गीता १३।३१।

३–सांख्यशास्त्र—

सांख्यशास्त्र की मूलभित्ति तत्त्वविवेक है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट होगा। इसका पर्य्यवसान अक्षर पर ही हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अक्षर पर विश्राम कर लेने से त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, कपिल का उद्देश्य समाप्त हो जाता है। परन्तु बिना अव्यय के लोकसंग्रह का इस पक्ष में नितान्त उच्छेद है। इस पक्ष में सांसारिक (लौकिक एवं शास्त्रीय) कर्म्मों का एक प्रकार से परित्याग सा करना पड़ता है। सांख्य का उद्देश्य है क्षरप्रधान बाह्यात्मा, विधेयात्मा है अक्षरप्रधान शारीरक आत्मा। पुरुष (अव्यय) को वे (संख्यातीत होने से) सांख्यशब्द से सम्बोधित करते हैं। पुरुष इनकी दृष्टि में पुष्करपलाशवत् सर्वथा निर्लेप है।

—०—

४–गीताशास्त्र—

गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण तो स्वयं गीताभाष्य ही कर रहा है। यहाँ इस सम्बन्ध में हम केवल यही कह देना पर्य्याप्त समझते हैं कि गीता का उद्देश्य शारीरक आत्मा है एवं विधेय विशुद्ध अव्ययपुरुष है। अव्ययप्राप्ति ही गीताशास्त्र का मुख्य शास्त्रार्थ है। जो काम उपनिषदादि से न हो सकता था, वही काम गीताशास्त्र ने किया है। साथ ही में—उस अव्ययात्मप्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्म्म के समन्वित रूप जिस बुद्धियोग का उपदेश दिया है, वह भी गीता की एक अलौकिक, प्रातिस्विक एवं नई देन है। गीता अक्षर पर ही विश्राम नहीं मानती, अपितु–**"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्"**–इत्यादिरूप से अव्यक्त (अक्षर) वादी सांख्यों का आमूलचूड़ खण्डन कर पर (अव्यय) भाव के दर्शन कराती है।

—०—

उक्त कथन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उपनिषत् **परात्परशास्त्र** है, गीता **अव्ययशास्त्र** है, वेदान्तदर्शन **सगुणब्रह्मशास्त्र** (अव्ययविशिष्ट-अक्षरशास्त्र) है एवं सांख्यदर्शन **अक्षरशास्त्र** है। उपनिषत्-वेदान्त-सांख्य तीनों गीताशास्त्र से गतार्थ हैं। तभी तो–**"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"–सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः"**–इत्यादिरूप से गीता को सर्वशास्त्रमूर्धन्य कहा गया है।

चत्वारि हीमानि–आत्मशास्त्राणि—

१–उपनिषच्छास्त्रम्→परात्परशास्त्रम्
२–गीताशास्त्रम्——→अव्ययशास्त्रम्
३–वेदान्तशास्त्रम्——→सगुणब्रह्मशास्त्रम्
४–दर्शनशास्त्रम्——→अक्षरशास्त्रम्

उद्देश्यः—अव्ययः विधेयः—परात्परः	→उपनिषच्छास्त्रार्थः
उद्देश्यः—शारीरकात्मा विधेयः—अव्ययः	→गीताशास्त्रार्थः
उद्देश्यः—शारीरकात्मा विधेयः—प्रत्यगात्मा	→वेदान्तशास्त्रार्थः
उद्देश्यः—बाह्यात्मा विधेयः—शारीरकात्मा	→सांख्यशास्त्रार्थः

प्रक्रान्त विषय यह था कि गीता में प्रयुक्त "सांख्य" का क्या अर्थ है ? एवं वेदान्त और सांख्य-शास्त्र में क्या अन्तर है ? पूर्व के शास्त्रविभाग से यद्यपि इन दोनों प्रश्नों का समाधान हो जाता है, तथापि अभी पूर्णरूप से संदेह की निवृत्ति नहीं हुई है। इसके लिए थोड़ी देर के लिए हमें सांख्योक्ततत्त्ववाद का आश्रय लेना पड़ेगा—

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥[1]

इस ऐतिह्य वचन के अनुसार अक्षरात्मक ज्ञानतत्त्व का ही नाम सांख्य है। इस सांख्यज्ञान के मूलप्रवर्त्तक सिद्धजाति में उत्पन्न, अतएव सिद्ध नाम से प्रसिद्ध कपिल मुनि ही हैं, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट हैं—

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम् ।
विहितं यतिभिःसर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥[2]

तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत ॥[3]

१ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०१।१०१ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०१।३ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०१।७२ ।

पञ्च दोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः ।
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन ।।[1]

अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ् मयेरितम् ।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ।।[2]

कपिलं परमर्षि च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्त्तकः ।।[3]

तत्त्व-संख्यान (गणना) से सम्बन्ध रखने वाले सांख्यसम्बन्धी गुणों के परिज्ञान के लिए निम्नलिखित दो कारिकाएँ ही पर्य्याप्त होंगी—

१–मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।[4]

२–प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।[5]

अव्ययपुरुष 'पुरुष' है, यह अज है । अक्षरपुरुष परा प्रकृति है, अज से संलग्न रहने वाली यह परा प्रकृति भी "अजा" है । **"तथाक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"**–के अनुसार अक्षर से ही सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है । अक्षर स्वस्वरूप से सर्वथा अविकुर्वाण रहता हुआ ही व्यक्त विश्व की उत्पत्ति का कारण बनता है, अतएव इस अक्षर-प्रकृति का–**"अजन्ये सति जनकत्वं प्रकृतितत्त्वम्"**–यह लक्षण किया जाता है । यही सांख्यशास्त्र की **"मूलप्रकृति"** है । यही सबका कारण है । इसी को **"अव्यक्त"** कहा जाता है । इस अव्यक्त से सर्वप्रथम त्रिगुणभावापन्न **महत्तत्त्व** का विकास होता है । महत्तत्त्व से **अहंकार** का उदय होता है । अहंकार से **"भूत"** नाम से प्रसिद्ध **शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध** नाम की पाँच तन्मात्राओं का विकास होता है । ये सातों अव्यक्त नाम की मूलप्रकृति की अपेक्षा विकृतिरूप होने से एवं आगे के १६ विकारों की प्रकृति (जननी) होने से **"प्रकृति-विकृति"**–नाम से प्रसिद्ध हैं । ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्म्मेन्द्रियाँ, उभयात्मक मन, ५ महाभूत इन १६ की समष्टि **षोडशक** विकार है । संभूय २४ तत्त्व हो जाते हैं । २५ वाँ अतत्त्वरूप वही पुरुषतत्त्व है, जिसे कि वैज्ञानिक **"अव्यय"** नाम से सम्बोधित करते हैं । यहाँ इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०१।५४ । २ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०१।८५ ।
३ महाभारत आ० पर्व अ० २२१।२१ । ४ सांख्यकारिका ३ ।
५ सांख्यकारिका २२ ।

उक्त तत्त्व-विभाग दार्शनिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखता है। वैज्ञानिक तत्त्व-विभाग सर्वथा स्वतन्त्र एवं अपूर्व है, जिस का कि विशद निरूपण-"भूमिरापो०"-इत्यादि प्रकरण में किया जाएगा। यह तत्त्ववाद प्रकृतिवादियों के मत से ही सम्बन्ध रखता है। इसी अभिप्राय से व्यास कहते है—

सांख्यं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥[१]

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥[२]

अहंकारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥[३]

एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पंच चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥[४]

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ॥[५]

अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते।
क्षेत्रमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञातारं पञ्चविंशकम् ॥[६]

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते।
ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥[७]

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः।
अनीश्वरमतत्त्वंच तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥[८]

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम्।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥[९]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।२६।
२ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।२७।
३ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।२८।
४ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।२९।
५ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।३०।
६ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।३९।
७ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४०।
८ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४१।
९ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४२।

तत्त्वानि च चतुर्विंशत्परिसंख्याय तत्त्वतः ।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥[1]
पञ्चविंशो प्रकृत्यात्मा बुध्यमान इति स्मृतः ।
यदा तु *बुध्येतात्मानं तदा भवति केवलः ॥[2]
सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः ।
एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥[3]

विज्ञानदृष्टि से उक्त सांख्यतत्त्व का समन्वय कीजिए । **"समित्येकीभावे"**–इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार **"सम्"** शब्द एकत्व का वाचक है । कितने ही विद्वान् "सम्" शब्द का अर्थ **"सम्यक्"** (अच्छा-साधु) कहते हैं । परन्तु विज्ञानदृष्टि से यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है । सम् का सम्यक् अर्थ करने वाले विद्वानों से यदि यह पूछा जाए कि यदि सम् का अर्थ सम्यक् है तो सम्यक् के सम् शब्द का क्या अर्थ है ? क्या सम्यक् युक्त सम्यक् का नाम सम्यक् है । फलतः उक्तार्थ का कोई महत्त्व नहीं रहता । कहना यही है कि सम् शब्द सर्वथा एकत्व, किं वा एकीभाव का ही वाचक है । **सङ्गसम्पातः-समागमः-समत्वम्-सङ्गच्छध्वम्-सम्मतिः**–इत्यादि शब्द एकत्र सहवास, एकत्र पतन, एकत्र आगमन, एकत्वभाव, एक-साथ गमन, एकत्र सम्मति इत्यादि रूप से एकत्वभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं । अस्तु, सांख्यशब्द पर दृष्टि डालिए । प्रकथनार्थक **"ख्या"** धातु से सम्पूर्वक **"सांख्य"** शब्द निष्पन्न हुआ है । **"सम्-ख्यानं"** ही **"सांख्यम्"** है । चूंकि "सम्" एकीभाव का सूचक है, अतः सांख्यशब्द का **"एकत्वानुयोगिकं कथनम्"** ही सांख्य होता है । जिस प्रकार **विज्ञानशब्द** अनेकत्व का सूचक है, एवमेव **"ज्ञान"** शब्द एकत्वभाव से सम्बन्ध रखता है । सम्-ख्यान-वही संख्यान है, जिसमें विज्ञान के द्वारा ज्ञान की ओर दृष्टि आकर्षित होनी है । फलतः एकत्वानुयोगिकज्ञान ही सांख्य शब्द का फलितार्थ सिद्ध होता है ।

मन पुरुष है, वाक् पत्नी है । जिस प्रकार पुरुष-पत्नी के संयोग से **"आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्या स्यादार्त्तवाधिके"**–इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुषरेत की अधिकता में पुत्र संन्तान उत्पन्न होती है, स्त्री-आर्त्तव की अधिकता में कन्यासन्तान उत्पन्न होती है, एवमेव पुरुषस्थानीय मनोरेत की प्रधानता से मनोरूप पुत्र-सन्तान उत्पन्न होती है एवं स्त्रीस्थानीय वाग्रेत की प्रधानता से वाङ्मयी वाग्रूप कन्या-सन्तान उत्पन्न होती है । इस प्रकार मनोवाक् के दाम्पत्य से पुत्र-कन्याएँ उत्पन्न हो कर विश्व का सञ्चालन किया करते हैं । वाक् की प्रधानता में वाङ्मयप्राण का विकास होता है, मन की प्रधानता में प्राणमय मन का विकास होता है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि वाक् की प्रधानता में प्राणमयी वाक् का विकास होता है, यही इस दम्पती की कन्या सन्तान है एवं मन की प्रधानता में प्राणमय मन का

१ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४३ । २ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४४ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व अ० ३०६।४५ ।
* महाभारत पूना संस्करण १६४७ में पाठ है–बध्यतेऽऽत्मानं परन्तु सन्धि और छन्द की दृष्टि से यह (उक्त) पाठ किया गया है । द्रष्टव्य १३।२६४।४३ ।

विकास होता है, यही इस दम्पती की पुत्र सन्तान है। अपने मानस एवं वाग्व्यवहार में उक्त स्थिति का साक्षात्कार कीजिए। हम अपने मुख से जिस प्राणमयी वाक् का उच्चारण करते हैं, उसका जन्म मनो-वाक् के मिथुनभाव से ही हुआ है। **"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्"**–इस पाणिनीयशिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा (कर्म्मात्मा) एवं बुद्धि-सहयोग से अर्थकामक मन बोलने की कामना करता है। मन की कामना से शारीराग्नि में क्षोभ उत्पन्न होता है। यह शारीराग्नि ही **"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"** के अनुसार साक्षात् वाक्तत्त्व है। यह उस मन की पत्नी है। पत्नी में जिस प्रकार पुरुष रेतःसेक करता है, एवमेव पुरुषस्थानीय मन अपने कामरूप रेत की वागग्निरूप आर्त्तव में आहुति देता है। जिस प्रकार रेत की आहुति से योनिगत रुधिर क्षुब्ध हो जाता है। इसी अवस्था का स्पष्टीकरण करने के लिए शिक्षाचार्यों ने–**"मनः कायाग्निमाहत्य"**–यह कहा है। योनिगत क्षुब्ध आर्त्तव मातरिश्वा नाम के वायुविशेष द्वारा जिस प्रकार कालान्तर में हुतशुक्र को पिण्ड (गर्भ) रूप में परिणत कर देता है, कामशुक्र से क्षुब्ध बना हुआ शारीराग्नि, किं वा अग्निरूप वाक् ही मारुतव्यापार से आगे जा कर पिण्ड (शब्द) रूप में परिणत हो जाती है। मुखद्वार से विनिःसृत वही अग्निपिण्ड शब्दधारा है। मारुतभाग प्राणमूर्ति है, अग्नि वाक् है। प्राणसमावेश से ही यह वाक् प्राणमयी बन जाती है। इस प्रकार शब्दात्मिका वाक् मनःपुत्री कही जा सकती है। मन ज्ञान है। ज्ञान-पूर्विका वाक् ही शब्दवाक्रूप में परिणत होती है। इसी आधार पर श्रुति के–**"मनसा कृतानुकरा वाक्"**–**"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्"**–इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। हमारे कानों में शब्द आते हैं। शब्दश्रवण से ज्ञान का उदय हो जाता है। ज्ञान ही मन का स्वरूप है। यह मनोरूपज्ञान शब्दात्मिका वाक् से ही (शब्दश्रोताओं के अन्तःपटल पर) उद्भूत होता है, अतएव इस मन को हम पुत्र कहेंगे। वाक् को मन की माता कहेंगे। एक स्थान पर वे ही वाक्-मन ही माता-पिता हैं, वाक्-मन ही कन्या-पुत्र हैं। प्राण दोनों का अनुग्राहक है। मध्यपतित प्राण ही वाक्प्रधानता में कन्या बन जाता है, प्राण ही मन की प्रधानता में पुत्र बन जाता है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, हो रहा है, होगा, वह सारासृष्टिविवर्त्त भी मनःप्राणवाङ्मय ही है एवं प्रलय-विवर्त्त भी इसी त्रिसूत्री पर प्रतिष्ठित है। वही मन प्रवृत्तिबल का आश्रय ले कर सृष्टि का कारण बन जाता है, वही मन निवृत्तिबल का आश्रय लेता हुआ मुक्ति-अधिष्ठाता बन जाता है। और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करना चाहते हैं तो यों समझिए कि आनन्दविज्ञानधन मनोमयप्राणगर्भितवाक् ही चिदात्मा है। चिदात्मा के मध्य में मन प्रतिष्ठित है। वह मन आनन्दविज्ञान को प्रधान बना कर वाक् के आधार पर यदि प्राणव्यापार (निष्काम कर्म्म) करता है तो चिदात्मसंस्था मुक्तिसाक्षिणी बन जाती है। यदि मन आनन्द विज्ञान को गौण बना कर वाक् के आधार पर यदि प्राणव्यापार (सकाम कर्म्म) करता है तो चिदात्मसंस्था सृष्टिसाक्षिणी बन जाती है। इस प्रकार आनन्दविज्ञानप्रधान वही आत्मा मुक्ति-साक्षी कहलाने लगता है एवं प्राण-वाक्-प्रधान वही आत्मा सृष्टिसाक्षी बन जाता है।

हम बतला चुके हैं कि सांख्यशास्त्र का उद्देश्य इन्द्रियवर्गादि २४ तत्त्वों से युक्त शारीरक आत्मा है एवं विधेय शुद्ध पुरुष है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि शारीरक को गुणभावों से पृथक् कर विशुद्धरूप में परिणत कर देना सांख्य का मुख्य शास्त्रार्थ है। **"शारीरक आत्मा"**–यह नाम ही इस बात

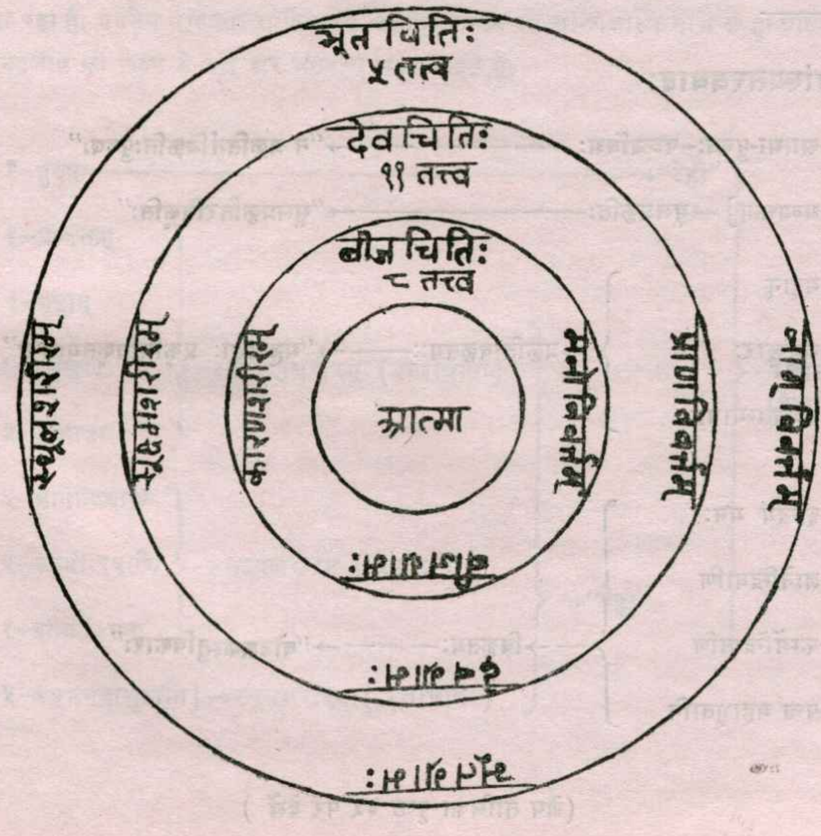
का सूचक है कि यह आत्मा शरीराभिमानी है, शरीरविशिष्ट है । यहाँ का आत्माशब्द परिग्रहविशिष्ट बन कर ही हमारे सामने आत्मार्थक है । तभी तो इसे–"**देही**" कहना चरितार्थ होता है । प्रथमोपनिषत् में सांख्यवादी अर्जुन को–"**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत**"–यह कहते हुए इसी आत्मा के द्वारा अर्जुन के शोक हटाने का प्रयास किया है । चूँकि शारीरक आत्मा देहाभिमानी है, अतः पहले हमें देह-शब्द का ही विचार करना पड़ेगा । उपचयार्थक "**दिह**" धातु से देहशब्द सम्पन्न हुआ है । "**उपचीयते यत्र पदार्थाः**"–इस निर्वचन के अनुसार उस आयतन का ही नाम उपचय है, जिसमें अनेक पदार्थ संचित होते हैं । वयुनविज्ञान-विज्ञाता विद्वानों को यह विदित है कि प्रत्येक पदार्थ में **वय-वयोनाध** ये दो विभाग रहते हैं । ये ही दोनों तत्त्व विज्ञान-भाषा में **कं ब्रह्म-खं ब्रह्म** नामों से सम्बोधित हुए हैं । खं ब्रह्म आयतन है, इसी को ऐतरेय ने "**छन्दःपुरुष**" नाम से व्यवहृत किया है । इसी को वयोनाध कहा जाता है । इसमें प्रतिष्ठित पदार्थ ही "**वय**" है । उदाहरण के लिए कागज को वयोनाध समझिए एवं अक्षरों को वय समझिए । इसी प्रकार देहरूप आलम्बन वयोनाध है, इसमें प्रतिष्ठित चितिरूपपदार्थ वय है । दोनों की समष्टि वयुन है । चूँकि वय-वयोनाध अविनाभूत हैं, अतएव आगे जा कर दोनों की समष्टि ही "देह" शब्द से सम्बोधित होने लगती है । फारसी के विद्वान् जिसे "**मजमुआ**" कहते हैं, नास्तिक दर्शनानुयायी जिसे "**पुद्गल**" कहते हैं, सामान्य भाषा में जिसे **ढेर** कहा जाता है, ज्योतिर्वित् जिसे "**राशि**" कहते हैं, यज्ञ-वैज्ञानिक जिसे **स्तोम** कहते हैं, आत्मवैज्ञानिक जिसे **कूट** कहते हैं, उसी के लिए आस्तिकदर्शन में "**देह**" शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस प्रकार आत्मा-शब्द पिता-पुत्रवत् शरीरसापेक्ष है, इसी प्रकार यह देह शब्द भी सापेक्ष है । "**उपचयो देहः**"–यह सुनते ही–"**कस्य-केषां वा उपचयः**"–यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इस जिज्ञासा को शान्त करने वाला **धर्म्मतत्त्व** है । "**धर्म्माणां उपचयः**"–उक्त जिज्ञासा का यही समाधान है । धर्म्मतत्त्व स्वरूप एवं आश्रितभेद से दो भागों में विभक्त है । इनमें आश्रित धर्म्म को आगन्तुक धर्म्म कहा जाता है एवं स्वरूपधर्म्म को नित्यधर्म्म कहा जाता है । उदाहरण के लिए भारतवर्ष के मनुष्यों एवं इँग्लैंड के मनुष्यों को लीजिए । भारतवर्ष में दोनों रहते हैं, दोनों का उपचय है । परन्तु भारतवासी इस घर के स्वरूपधर्म्म हैं । इनकी यह प्रातिस्विक सम्पत्ति है । भारतवर्ष भारतीयों का है । जिस दिन भारतीय न रहेंगे, उस दिन भारतवर्ष भारतवर्ष ही न रहेगा । इंग्लैण्ड के मनुष्य आगन्तुकधर्म्मा हैं, प्राघुणिक हैं, आगमायी हैं, अनित्य हैं । भारतवर्ष इनकी मौरूसी सम्पत्ति नहीं हो सकती । हाँ, धर्म्मतत्त्ववेत्ताओं को एक बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए । आगन्तुकधर्म्मा जब तक उस घर का विरोध नहीं करते, वैज्ञानिक तभी तक उनके लिए **आगन्तुक-धर्म्मा** शब्द से सम्बोधित करते हैं । यदि प्रबल बनते हुए आगन्तुक धर्म्म स्वरूपधर्म्मनाश द्वारा धर्म्मी की स्वरूपविकृति, अथवा विनाश के कारण बन जाते हैं तो उस समय स्वरूपविघातक इन आगन्तुक धर्म्मों को अधर्म्म ही कहा जाएगा । परधर्म्मरूप यह अधर्म्म सचमुच महाभयावह है–"**परधर्म्मो भयावहः**" । ऐसे अधर्म्म को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं देना चाहिए । तभी तक इसका सत्कार करना चाहिए, जब तक कि यह स्वरूप धर्म्म का सहायक बन कर धर्म्मों की रक्षा करता रहे । देखिए न । पानी में अग्नि प्रविष्ट हो जाता है, पानी गरम हो जाता है । यह गर्मी गृहरूप पानी का स्वरूपधर्म्म नहीं, अपितु, आगन्तुक धर्म्म है । आश्रित धर्म्म है । यदि आगन्तुक धर्म्मरूप अग्नि प्रबल बन जाता है तो पानी वाष्प बन कर उड़ जाता

है । इस प्रकार आगन्तुक धर्म्म असावधानी से हमारे सर्वनाश के कारण बन जाते हैं । अंग्रेज जब तक भारतवर्ष के स्वरूपधर्म्मरूप भारतीयों पर कोई प्रत्याघात नहीं करते, तब तक ये स्वरूपधर्म्म इन आगन्तुक धर्म्मों को भी आश्रय दे सकते हैं । परन्तु ध्यान रहे, इन आगन्तुकों को प्रबल मत बनने दो । अन्यथा यह उस अग्नि की तरह स्वरूपधर्म्म (तुम्हारे) नाश का कारण बनते हुए धर्म्मी (भारतवर्ष) के नाश के कारण बन जाएँगे । निदर्शनमात्र है । सम्पूर्ण भौतिक पिण्ड "देह" है । सब में उक्त दो प्रकार के धर्म्मों का ही उपचय रहता है । यह भी स्मरण रखिए कि स्वरूप-धर्म्म परिगणित हैं एवं आश्रित किं वा आगन्तुक धर्म्म अनन्त हैं, अपरिसंख्येय हैं, अतएव तत्त्वसंख्यानलक्षण सांख्य से बहिर्भूत हैं । इनकी अनन्तता के दो कारण हैं । आगमापायी होने से भी अनन्त हैं एवं प्रत्येक के स्वरूप-धर्म्म दूसरों के लिए आश्रित धर्म्म बन जाते हैं, इसलिए भी ये अनन्त हैं ।

वैज्ञानिक दृष्टि से देह के उन स्वरूप धर्म्मों को (स्थूल रूप से) **बीज-दैवत-भूत**–इन तीन भागों में विभक्त किया जाता है । **काम-अविद्या**–पूर्वजन्मसञ्चित **कर्म्म** इन तीनों की समष्टि बीजग्राम है, वही बीजचिति है । विज्ञान-भाषा में इसे ही शुक्र कहा जाता है, जिसका कि विशद निरूपण **ईशभाष्य के "स पर्य्यगाच्छुक्रम०"**–इत्यादि मन्त्र में किया गया है । इन्द्रियग्राम देवग्राम है, यही देवचिति है । पञ्च-भूतसमष्टि भूतग्राम है । यही भूतचिति है । भूतग्राम के सम्बन्ध में–**"एकभौतिकं वा पाञ्चभौतिकं वा"**-यह मत है ।पृ थिवी ही भूतग्राम की अधिष्ठात्री है, यह एक मत है । पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-ये पाँचों महाभूत भूतग्राम के अधिष्ठाता हैं, यह दूसरा मत है । दोनों में कोई विरोध नहीं हैं । एक भौतिकपक्ष में भी पृथिवी पञ्चीकृता है, केवल पृथिवी में ही पाँचों भूतों का समावेश है । बीजचिति कारणशरीर की अधिष्ठात्री है । सांख्योक्त **अव्यक्त, महान्-अहंकार** ५ तन्त्रमात्राएँ इन तीनों तत्त्वों का इसी शरीर में अन्त-र्भाव है । देवचिति सूक्ष्म-शरीर की अधिष्ठात्री है, इसका–११ इन्द्रियों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्म्मेन्द्रियाँ, इन्द्रियमन) का इसी शरीर में अन्तर्भाव है । भूतचिति स्थूलशरीर की अधिष्ठात्री है । पाँचों भूतों का इसी में अन्तर्भाव है । इस प्रकार सांख्योक्त २४ तत्त्वों का उक्त तीनों शरीरों में अन्तर्भाव हो जाता है । यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो उक्त तीनों चितियों में ३३० कलाएँ हो जाती हैं । ५ प्रज्ञा-मात्रा, ५ भूतमात्रा; ५ प्राणमात्रा, १ मन, १ बुद्धि इन १७ की समष्टि बीजचिति है । ७ ऋषिप्राण, ८ पितर प्राण, ९९ असुरप्राण, ३३ देवप्राण, २७ गन्धर्वप्राण, ५ पशुप्राण, ४० ग्रहप्राण, ४९ मरुत्प्राण इत्यादि ३०८ प्राणों की समष्टि देववर्ग है । यही देवचिति है । पञ्चमहाभूतों की समष्टि भूतचिति है । इस प्रकार १७ बीजचिति, ३०८ देवचिति, ५ भूतचिति, सम्भूय देह में ३३० चितियाँ हो जाती है । इन सब का मूल सप्तदशराशिरूपा बीजचिति ही है । दूसरे शब्दों में बीजचिति के वितान से ही आगे की चितियों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् व्यास ने–**"स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः"**–इत्यादि रूप से शारीरक आत्मा को सत्रह राशिरूप देह से युक्त माना है । इन चितियों के कारण ही देह को **"निकाय-काय"**–आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । व्यक्त-क्षर की प्रधानता से ये चितियाँ प्रतिक्षण विस्रस्त होती रहती हैं, शीर्ण होती रहती हैं, इसलिए भी इस देह को शरीर कहा जाता है एवं इसी में आत्मा आश्रित रहता है, इसलिए (**"अश्रयन्त"** इस निर्वचन के अनुसार) भी इसे शरीर कहा जाता है ।

शरीर-बन्धन से आत्मा का निकल जाना ही त्रिविध दुःख-निवृत्ति है । यही उस आत्मपुरुष का परमपुरुषार्थ है । यही आत्ममुक्ति है । यह मुक्ति **क्रममुक्ति** एवं **नित्यमुक्ति** भेद से दो भागों में विभक्त है । स्थूलशरीर-बन्धन का छूट जाना मृत्यु है । आगे जा कर यदि सूक्ष्मशरीर भी छूट जाता है तो वह विदेहमुक्ति कहलाती है । यही अपरामुक्ति है । यदि आगे जा कर कारणशरीर भी छूट जाता है तो समवलयलक्षणा परामुक्ति हो जाती है । यही इस शारीरक आत्मा की क्रममुक्ति है । दूसरी है नित्यमुक्ति । शरीरविस्रंसन से पहले ही स्थूलशरीराभिमानत्यागपूर्वक यदि देवग्राममय सूक्ष्मशरीराभिमान का परित्याग कर दिया जाता है तो इसी जीवन में, इस भौतिक शरीर के रहते हुए ही अपरामुक्तिलक्षण विदेहमुक्ति (देह के रहते हुए भी देहाभिमानाभावलक्षणमुक्ति) हो जाती है । राजर्षिजनक इसी पथ के अनुगामी बने थे । यदि सूक्ष्मशरीराभिमान के साथ-साथ ही बीजग्राममय कारणशरीर का अभिमान भी छूट जाता है तो इसी जीवन में परामुक्तिलक्षण समवलयमुक्ति हो जाती है । गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण इसी मुक्तिपथ के प्रवर्त्तक थे । यही इनकी सर्वबन्धनविनिर्मुक्ति भी थी । इसीलिए वे मनुष्य-शरीर में रहते हुए

स एष देही—शारीरकात्मा भोक्ता देवसत्यः—



भी अमानवपुरुष कहलाए थे। इसीलिए आर्य जाति ने इन्हें–"**पूर्णावतार**"–कह कर सम्बोधित किया था। इसीलिए वे साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म माने गए थे। वही पूर्णपुरुष आज अपने गीतायोग द्वारा उसी नित्यमुक्ति का स्वरूप अर्जुन के सामने रख रहे हैं। सचमुच अर्जुन से बढ कर भाग्यशाली पुरुष आज तक धरातल पर दूसरा न हुआ, न होगा।

अव्यक्त प्रकृति ही उक्त देहविवर्त्त की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–"**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे**"–इत्यादि से स्पष्ट है, अतएव उक्त देहप्रपञ्च को हम "**प्रकृतिप्रपञ्च**" कहने के लिए तय्यार हैं। विशुद्ध पुरुष (चिदाभासलक्षण शारीरक आत्मा) स्वस्वरूप से व्यापक बनता हुआ, वाङ्मनसपथातीत बन कर सर्वथा अचिन्त्य ही है। उस निर्गुण का स्वरूपलक्षण कथमपि नहीं किया जा सकता। उसको तो तटस्थ-लक्षण से ही जाना जा सकता है। अविद्यासंस्कारवश उस देही का देह में ममत्व एवं अहंत्व हो जाता है, जैसा कि पूर्वोपनिषत् के–"**विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः-निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति**"–इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यह ममस्वाभिमान एवं अहंताभिमान ही त्रिविधदुःख का मूल कारण है। त्रैगुण्यमूलक सुखदुःखादिद्वन्द्वों का सम्बन्ध त्रिगुणात्मिका प्रकृति के साथ है। पुरुष स्वस्वरूप से पुष्करपलाशवन्निर्लेप है।–"**यह पुरुष है, यह**

स एष सांख्यतत्त्ववादः

१–आत्मा-पुरुषः–पञ्चविंशः ——————→ **"न प्रकृतिर्न विकृतिःपुरुषः"**

१　१–अव्यक्तम्]–मूलप्रकृतिः ——————→ **"मूलप्रकृतिरविकृतिः"**

७　१–महान्, १–अहङ्कारः, ५–पञ्चतन्मात्राः } →प्रकृतिविकृतयः ——→ **"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयःसप्त"**

१६　१–इन्द्रियं मनः, ५–ज्ञानेन्द्रियाणि, ५–कर्म्मेन्द्रियाणि, ५–पञ्च महाभूतानि } →विकृतयः ——→ **"षोडशकस्तुविकारः"**

२४

(शेष तालिका पृष्ठ ३५ पर देखें)

प्रकृति है"–इत्याकारक प्रकृतिपुरुष के विवेक-ज्ञान के अभाव से ही शारीरक आत्मा प्राकृतधर्म्मों को अपना धर्म्म समझता हुआ दुःख पाने लगता है। इस दुःख-निवृत्ति के लिए पुरुषविवेकज्ञान अपेक्षित है। यह विवेकज्ञान तत्त्वपरिगणना पर अवलम्बित है। तत्त्वों की गणना से यह भी आत्मा नहीं है, यह भी आत्मा नहीं है, यह परिसंख्यान करते-करते तत्त्वों से बाहर जो अतत्त्वरूप बच जाता है, उसका तटस्थ-लक्षण से ज्ञान हो जाता है। श्रुति ने आत्मदर्शन के सम्बन्ध में–**"नेति-नेतीति होवाच"**-**"नेतिनेतीत्युपनिषत्**-इत्यादि जो तटस्थलक्षण हमारे सामने रक्खे हैं, सांख्यशास्त्र ने तत्त्वगणना द्वारा उसी श्रौत-सिद्धान्त का उपबृंहण किया है। इसी उपबृंहण के कारण यह प्राधानिक शास्त्र–**"सांख्यशास्त्र"**–नाम से सम्बोधित हुआ है। आत्मा में ममत्व एवं अहंत्व की कृपा से आत्मानुबन्ध भी आत्मवत् प्रतीत होने लगते हैं। सांख्य ने पहले उन सब तत्त्वों की परिगणना की, छाँट की, उन गिने हुए (संख्यात) पदार्थों से संख्यातीत आत्मा को अपना लक्ष्य बनाया। दूसरे शब्दों में सबकी संख्या कर उनमें से एक को आत्मा माना गया। अहंत्वेन प्रतीत देही का प्रकृति-पुरुषविवेक द्वारा ज्ञानप्राप्त किया गया, अतएव **"संख्यातः (तत्त्वपरिगणनया) सिद्धं-आत्मलक्षणं ज्ञानं सांख्यम्"** इस निर्वचन से यह आत्मबोध **"सांख्य"** कहलाया। जिस प्रकार वेदतत्त्वप्रतिपादक वेदशास्त्र–**"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्"**–इस न्याय से आज दिन वेदशास्त्रपरक माना जा रहा है, एवमेव सांख्यतत्त्वप्रतिपादक कापिल शास्त्र भी सांख्यशास्त्र नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इसी सांख्यभाव को लक्ष्य में रख कर भगवान् व्यास कहते हैं—

१–पुरुषः ————————→ "देही"

- १–अव्यक्तम्
- १–महान्
- ८ १–अहङ्कारः
- ५–तन्मात्राः

} →कारणशरीरम् (बीजचितिः)

- ५–ज्ञानेन्द्रियाणि
- ११ ५–कर्म्मेन्द्रियाणि
- १–इन्द्रियं मनः

} → सूक्ष्मशरीरम् (देवचितिः)

५ ५–पञ्चमहाभूतानि] →स्थूलशरीरम् (भूतचितिः)

(कारणशरीरम्, सूक्ष्मशरीरम्, स्थूलशरीरम्) } → "देहः"

("देही", "देहः") } →**शारीरकात्मा** (देहाभिमानी)

२४

—०—

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः ।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥[१]

यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ॥[२]

यत्तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्ययोगाश्च सर्वशः ।
बुद्धयमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात् ॥[३]

प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः ।
सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥[४]

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः ।
बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा ॥[५]

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम् ।
बुध्यमाना प्रबुद्धानां पृथक् पृथगरिंदम ॥[६]

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम् ।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥[७]

निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम् ।
सर्गस्य वर्गमाचारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ॥[८]

विद्याऽविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः ।
अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ॥[९]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।२९ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३० ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३१ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३३ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३४ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३५ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३८ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३९ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१० ।

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ ।
कारणं तु प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं तु ज्ञानतः ।।[1]

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ ।
तत्त्वसंख्यावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः ।।[2]

सर्गप्रलयधर्म्मत्वात् अव्यक्तं प्राहुरक्षरम् ।
तदेतद्गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः ।।[3]

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम् ।
अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तत् पञ्चविंशकम् ।।[4]

यदा तु गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत् ।
तदा सहगुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते ।।[5]

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत् ।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे संप्रलीयते ।।[6]

तदाक्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता ।
निर्गुणत्वं च वै देहगुणेष्वप्रतिवर्तनात् ।।[7]

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये ।
प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम ।।[8]

क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ ।
प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथात्मनः ।।[9]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।११ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१२ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१३ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१४ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१५ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१६ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१७ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१८ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।१९ ।

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् ।
अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान् ॥[१]

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत् ।
प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो ह्यन्यश्च दृश्यते ॥[२]

यदा तु गुणजालं तत् प्राकृतं वै जुगुप्सते ।
पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्नसंत्यजेत् ॥[३]

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् ।
वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥[४]

नचायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम ।
योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥[५]

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् ।
अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥[६]

प्राकृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु ।
निर्म्ममस्य ममत्वेन किं कृतं तासु तासु च ॥[७]

योनिषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा ।
न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥[८]

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् ।
इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्म्ममो निरहंकृतः ॥[९]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।२० ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।२१ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।२२ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३२ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३३ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३४ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३५ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३६ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३७ ।

ममत्वमनयानित्यमहंकारकृतात्मकम् ।
अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥[१]

अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया ।
क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥[२]

एवं परमसंबोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् ।
अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वाक्षरमनामयम् ॥[३]

अव्यक्तं व्यक्तधर्म्माणं सगुणं निर्गुणं तथा ।
निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥[४]

अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् ।
मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुति निदर्शनात् ॥[५]

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं यथा ।
प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥[६]

सांख्यं ज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥[७]

ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप ।
राजसानशुभान् गंधांस्तामसांश्च तथाविधान् ॥[८]

पुण्यांश्च सात्विकान् गन्धान् स्पर्शजान् देहसंश्रितान् ।
छित्वाशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥[९]

तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत ।
तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः ॥[१०]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३८ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।३९ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४० ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४१ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४२ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४३ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।२६ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।६२ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।६३ ।
१० महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।७२ ।

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम् ।
*ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥[1]

अत्र ते संशयो माऽभूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥[2]

एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते ।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥[3]

अन्योऽन्यगुणसंरोधादन्योऽन्यगुणसंश्रयात् ।
एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ॥[4]

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।
एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥[5]

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम् ।
नवापुमान् पुमांश्चैव सलिङ्गीत्यभिधीयते ॥[6]

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते ।
पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥[7]

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः ।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥[8]

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम् ।
एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥[9]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।१०० ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।१०१ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०२।२६ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।८ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।२३ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।२५ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।२७ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।२८ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३६ ।
* न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (गीता)

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक्प्रवर्तते ।
एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ।।[1]

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ।।[2]

—०—

सचमुच सांख्यनिष्ठा एक अपूर्वनिष्ठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं । यहां तक कपिलदेव ने सांख्य-निष्ठा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, यथार्थ है । परमात्मदृष्टिसम्बन्ध से सांख्यदर्शन एवं वेदान्तदर्शन में कोई भेद नहीं रहता । यदि दोनों में अन्तर है तो केवल यही कि सांख्यनिष्ठ शारीरक आत्मा पर विश्राम करते हुए जीवनानात्व के पक्षपाती हैं । निम्नलिखित सूत्रों द्वारा कपिल ने इसी जीवनानात्व की ही पुष्टि की है—

१–जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।

२–उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।

३–उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ।

४–एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्म्माध्यासः ।

५–अन्यधर्म्मत्वेऽपि नारोपात्तत्सिद्धिरेकत्वात् ।

६–नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।[3]

७–वामदेवादिमुक्तौ नाद्वैतम् ।[4]

व्यासदेव जीवनानात्व नहीं मानते, यह बात तो नहीं है । उन्होंने भी कपिल की ही तरह–अंशो नानात्वात्–इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में देहभेद से चैतन्यभेद स्वीकार किया है । परन्तु उनकी

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।३७ । २ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४७ ।
३ सांख्यसूत्र १४८ से १५३ तक । ४ सांख्यसूत्र १५६ ।

दृष्टि में यह भेद औपाधिक है। परमार्थ में एक ही आत्मा है। यही व्यासदेव की प्रत्यगात्मा-दृष्टि है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। अद्वैत-सिद्धान्तप्रतिपादक, ब्रह्मसूचक ब्रह्मसूत्र पदों से भी ज्ञानयोग का ही माहात्म्य प्रकट होता है एवं कपिल ने भी ज्ञानयोग का ही घण्टाघोष किया है। परन्तु कपिलदेव कर्म्मत्याग के पक्षपाती हैं एवं व्यासदेव कामत्याग के पक्षपाती हैं। कर्म्म के संग्राहक है। यद्यपि व्याख्याताओं ने ब्रह्मसूत्रों का भी कर्म्मत्यागपरक ही अर्थ लगाने की व्यर्थ चेष्टा की है, परन्तु विचार करने से यह भ्रम सर्वथा दूर हो जाता है। व्यासदेव ने बडे आवेश के साथ सांख्याभिमत द्वैतात्मवाद का खण्डन करते हुए अद्वैतवाद की स्थापना की है। साथ ही में कर्म्मभाग को भी सुरक्षित रक्खा है। व्याख्याताओं पर लोकप्रचलित कापिलनिष्ठा का प्रभाव पड़ा है, इससे तो वे कर्म्मत्याग की ओर झुक गए हैं। साथ ही में इसी ज्ञानाभिनिवेश से इन्होंने व्याससूत्रों पर भी उसी अभिनिवेश की छाप लगा दी है। ऐसी अवस्था में गीतोक्त खण्डनीय **"सांख्य"** शब्द का हमें यह अर्थ करना पड़ेगा कि कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा एवं कर्म्मत्यागलक्षणा वेदान्तनिष्ठा ही सांख्य है। यही ज्ञानयोग है। यद्यपि गीताकाल में वेदान्तनिष्ठा से कर्म्मत्याग अभिप्रेत नहीं था, अतः उस युग की अपेक्षा से तो हम केवल कपिलोक्ता सांख्यनिष्ठा का ही सांख्यशब्द से ग्रहण करेंगे, परन्तु अर्वाचीन व्याख्याताओं की कृपा से कापिलनिष्ठा की तरह वेदान्तनिष्ठा भी कर्म्मत्यागलक्षणा बन गई है, अतः वर्त्तमान युग की अपेक्षा से हम सांख्यशब्द से उक्त दोनों निष्ठाओं को ही खण्डनीय कहेंगे। यह सच है कि मुक्ति ज्ञान से ही होती है। यह भी सच है कि कर्म्म की अपेक्षा ज्ञान अत्यन्त पवित्र है। यह भी सच है कि युक्ति के लिए तत्त्वविवेकपूर्वक देहाभिमान छोड़ते हुए निःस्पृह-निर्म्मम-निरहंकार बनना आवश्यक है। यह भी सच है कि निष्कामकर्म्म से चित्तशुद्धि होती है, ज्ञान का उदय होता है, कर्म्मबन्धन छूट जाता है, मुक्तिभाव प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार परम्परया कर्म्म मुक्ति का कारण बनता है एवं साक्षात्‌रूप से ज्ञान ही मुक्ति का कारण बनता है। इस दृष्टि से कपिल ने जिन श्रौतप्रमाणों का आलम्बन लिया है वह भी यथार्थ है। परन्तु एतावता कर्म्मपरित्याग की आवश्यकता को क्यों महत्त्व दिया गया? यह समझ में न आया। प्रकृति के साथ एवं प्रकृति द्वारा सञ्चालित कर्म्मों के साथ बन्धन अवश्य ही बुरा है, परन्तु प्रकृति का परित्याग कैसे सम्भव है? जब पुरुषवत् प्रकृति नित्या है, पुरुषाविनाभूत है तो उसे कैसे हटाया जा सकता है? जब प्रकृति है तो कर्म्मों का निरोध भी कैसे किया जा सकता है? इस रहस्य को लक्ष्य में रख कर ही तो व्यासदेव ने–**"क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह"**–यह कहा है।

सांख्योक्त मुक्ति का तो यह अर्थ होगा कि जब तक जीवित रहे, एक पाषाण की तरह जड़ बन गए—क्या इसी का नाम मुक्ति है? क्या ज्ञान कभी कर्म्म के बिना रह सकता है? क्या आत्मस्वरूप में प्रविष्टकर्म्म को कभी आत्मा से पृथक् किया जा सकता है? सर्वथा नहीं। कपिल ने ऐसा क्यों मान लिया? क्यों उन्होंने कर्म्म का विरोध किया? इसका उत्तर अक्षर और क्षर है। अव्ययात्मा ज्ञानकर्म्ममय है। अव्ययज्ञान ब्रह्म कहलाता है, अव्ययकर्म्म कर्म्म कहलाता है। इसी अव्ययात्मक ब्रह्म-कर्म्म के लिए भगवान् ने–**"ब्रह्म-कर्म्म च मे दिव्यम्"**–यह कहा है। इन दोनों का अक्षररूप पराप्रकृति एवं क्षररूप अपराप्रकृति दोनों पर समान अनुग्रह रहता है। परन्तु विवेकज्ञान के अभाव से क्षरप्रपञ्च तो कर्म्मप्रधान बनता हुआ अविद्यामय बन जाता है एवं अक्षर विद्याप्रधान हो जाता है। इस प्रकार क्षरमूर्ति

विषयजनितसंस्कार-बन्धन से प्रबल बनता हुआ क्षर स्वयं भी कर्म्मप्रधान बनता हुआ समत्वभाव से गिर जाता है एवं अक्षर को भी समत्वभाव से गिरा देता है। संस्कारलेप से विद्या-अविद्याप्रधान बने हुए इन्हीं अक्षर-क्षरों के स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥[1]

कपिल महाभाग की दृष्टि अविद्याग्रस्त क्षरभाग पर गई। साथ ही में उन्होंने यह भी निर्णय कर डाला कि कर्म्म में प्रवृत्त रहने से ही इस अविद्या-संस्कार का विकास हुआ है। कपिलदेव का यह निर्णय भी सर्वथा सत्य था। इन निर्णय से कपिलदेव इस निश्चय पर पहुँचे कि जिस कर्म्म से अविद्या का विकास हुआ है, उस कर्म्म को एवं कर्म्मासक्त क्षर को दोनों को तत्त्वविवेक से छोडते हुए उस विद्या-(ज्ञान) मूर्त्ति अक्षर का आश्रय लेते हुए कर्म्म से सदा के लिए छुटकारा पा लिया जाए। निश्चय बडा उदात्त है, इस में कोई सन्देह नहीं। परन्तु कपिल के इस निश्चय पर पहुँचने के लिए सामर्थ्य चाहिए, कायक्लेश का अनुष्ठान चाहिए। स्वाभाविक आत्मकर्म्म का दमन करना बच्चों का खेल नहीं है। इसी-लिए भगवान् ने–"**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्**"–"**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**"–इत्यादि रूप से कपिल की इस कर्म्मत्यागलक्षणा अव्यक्तनिष्ठा को क्लेशमयी बतलाया है। इस निष्ठा में क्लेश, लोकसंग्रहाभाव आदि अनेक दोष हैं। इन्हीं दोषों के कारण भगवान् ने उक्त निष्ठा का खण्डन करना आवश्यक समझा है। भगवान् कहते हैं, तुम कर्म्म-ज्ञान का अन्तिम धरातल अक्षर को ही मत समझो। अपितु, बुद्धियोग द्वारा अव्यक्त से परे रहने वाले उस 'पर' का स्वरूप समझो। वह विद्या कर्म्ममय है। उस का अक्षर-क्षर दोनों पर समान अनुग्रह है। जिस दिन क्षरभाग समभाव में परिणत हो जाएगा, उस दिन अक्षर भी समत्वरूप में परिणत हो जाएगा। यही सच्ची सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) है, यही सच्ची योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) है। दोनों का पार्थक्य समझना महाभ्रान्ति है। थोड़ी देर के लिए प्रकान्त सांख्यनिष्ठा को छोडते हुए योगनिष्ठा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

—o—

२–योगनिष्ठा (कर्म्मयोगेन योगिनाम्)—

हैरण्यगर्भानाम्–"**हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः**"–जिस प्रकार सांख्यशब्द एक जटिल समस्या थी, इसी प्रकार योगशब्द भी कम जटिल नहीं है। सीधे शब्दों में योगशब्द का अर्थ है, आत्मा का कर्म्म में युक्त होना। फलतः कर्म्मयोग ही लोकप्रचलित योगशब्द का निष्कर्ष निकलता है। परन्तु कर्म्म, साथ ही में उसका योग दोनों ही–"**किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**"–के अनुसार एक जटिल समस्या ही है। लोकप्रचलित योग से किस कर्म्मयोग का ग्रहण किया जाता है? एवं गीता में

[1] श्वेता० उप० ५।१।

किस कर्म्म के लिए योगशब्द प्रयुक्त हुआ है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। पहले लोकप्रचलिता योगनिष्ठा का ही विचार कीजिए। यह योग **योग** एवं **वियोग** भेद से दो भागों में विभक्त है। तत्तत्फलावाप्ति के लिए होने वाले शास्त्रीय यज्ञादिकर्म्म योगात्मक कर्म्म हैं। इनसे यज्ञातिशयद्वारा ऐहलौकिक सुख भी मिलता है एवं शरीरनिधन के अनन्तर अभ्युदयरूप स्वर्गसुख भी मिलता है। इस यज्ञरूप योगात्मक योग (कर्म्म) में मुक्तिरूप निःश्रेयसभाव का अभाव है। वेद का ब्राह्मणभाग इसी कर्म्म का निरूपण करता है। यही यज्ञकर्म्म चातुर्वर्ण्यधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। इसी का भगवान् चौथी **आर्षविद्या** में बडे विस्तार के साथ निरूपण करने वाले हैं। योगात्मक यज्ञकर्म्म के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् को स्वतन्त्र-विद्या का निरूपण करना पड़ा है। इस कर्म्म का "**भोग**" से सम्बन्ध है, यही आत्मा का मुक्तिभाव है, जैसा कि पूर्वोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। दूसरा योग वियोगात्मक है इससे आत्मा संसार से हटकर क्रमशः ईश्वर की ओर आकर्षित होता है। इसके लिए धारणा-ध्यान-समाधिलक्षण त्रिपुटी का आश्रय लेना पड़ता है। आहार में कमी करनी पड़ती है। इन्द्रियों का निरोध किया जाता है। सुप्रसिद्ध पातञ्जलशास्त्र वियोगात्मक इसी योग का निरूपण करता है। योगप्रभाव से आठ सिद्धियाँ और तुष्टियाँ प्राप्त हो जाती हैं। योगारूढयोगी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हो जाता है। विदितवेदितव्य बन जाता है। यह वियोगात्म योग उस योगात्मक योग से उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित है। मन-इन्द्रियों का ऐकाग्र्यलक्षण तप, सगुण प्राणायाम, निर्गुण प्राणायाम, मानस शुद्धि, विविक्तसेवित्त्व, विषयपरित्याग, फलवाताम्बुपर्णभक्षण, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा आदि इस योगप्राप्ति के अनन्य साधन हैं। इसमें अभ्युदयभाव का अभाव है, केबल आत्मा का निःश्रेयस है, ऐश्वर्यभावप्राप्ति है।

इसी योगप्रक्रिया को भक्ति का स्वरूप देते हुए भगवान् ने **राजविद्या** का निरूपण किया है। योगविद्या **मन्त्र-राज-हठ-लय** भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों में से भक्तिलक्षण राजयोग को ही भगवान् ने पसन्द किया है एवं उसी का ऐश्वर्य बुद्धियोग द्वारा निरूपण किया है। कर्म्म सब सुरक्षित रक्खा है, परन्तु ईश्वरार्पण-बुद्धचा। सांख्यसम्मत हठ-लयादि योग में भगवान् की अणुमात्र भी सम्मति नहीं हैं। इस प्रकार **भोग-ऐश्वर्य्य** भेद से वेदोक्तकर्म्म दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। कहना नहीं होगा कि भगवान् दोनों को ही हेयदृष्टि से देखते हैं, जैसा कि—"**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्**"—इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भोग-लिप्सा भी बुरी है एवं सिद्धिरूपा ऐश्वर्यलिप्सा भी बुरी है। वियोगात्मक योगानुष्ठान करने वाला योगी सिद्धि के अभिमान से लक्ष्यच्युत हो जाता है एवं योगात्मक यागानुष्ठान करने वाला कर्म्मठ स्वर्गादिफलों की चर्वणा में लक्ष्यच्युत बना रहता है। इस प्रकार द्विविधनिष्ठा अन्ततोगत्वा अवरकोटि में प्रविष्ट हो जाती है। दोनों का संशोधितरूप ही **राजविद्या** एवं **आर्षविद्या** है, जैसा कि उन विद्याओं के प्रसङ्ग में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि संसार की तरफ जाना यज्ञात्मकयोग है, संसार से हटकर ईश्वर की ओर जाना धारणा-ध्यान-समाधिरूप योग है—"**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**। कहने भर के लिए एक भोगप्रदाता है, दूसरा ऐश्वर्य का अधिष्ठाता है। दोनों में से कपिल उत्तरयोग के अनुयायी हैं। इसीलिए व्यासदेव ने **वसिष्ठकराल संवाद** में सांख्य-प्रकरण में ही, तदभिमत योग-प्रकरण का समावेश किया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

वसिष्ठ उवाच—

हन्त ते संप्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि ।
योगकृत्यं महाराज पृथगेव श्रृणुष्व मे ॥[१]

योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् ।
तच्चापि द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥[२]

एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ।
प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणो मनसस्तथा ॥[३]

मूत्रोत्सर्गपुरीषे च भोजने च नराधिप ।
त्रिकालं नाभियुञ्जीत शेषं युञ्जीत तत्परः ॥[४]

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पूर्वरात्रे पररात्रे धारयीत मनोत्मनि ॥[५]

स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर ।
मनो बुद्धया स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥[६]

स्थाणुवच्चाप्यकंपः स्याद्गिरिवच्चापि निश्चलः ।
बुद्धया विधिविधानज्ञास्तदा युक्तं प्रचक्षते ॥[७]

न श्रृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥[८]

न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥[९]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।६ ।
२ महाभातत शा० मो० पर्व ३०६।७ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।८ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।९ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१३ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१४
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१५ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१६।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१७ ।

निर्वाति हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते ।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्य्यग्गतिमाप्नुयात् ॥[1]

तदा तमनु पश्येत यस्मिन् दृष्टे नु कथ्यते ।
हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥[2]

स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः ।
विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥[3]

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥[4]

चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।
इष्टका प्रस्तरे चैव कंटकप्रस्तरे तथा ॥[5]

विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा ।
मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥[6]

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।
चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥[7]

षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः ।
सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥[8]

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।
वायुभक्षोंबुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥[9]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१८।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।१९।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।२४।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।९।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१०।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१२।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१६।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१७।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१८।

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।
शैवालभोजनश्चैव तथाचामेन वर्तयन् ॥[1]

वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।
विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकांक्षया ॥[2]

चान्द्रायणानि विधिवल्लिंगानि विविधानि च ।
चातुराश्रम्यपंथानमाश्रयत्यपथानपि ॥[3]

उपाश्रमानप्यपरान् पाखण्डान्विविधानपि ।
विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥[4]

योग एष हि योगानां किमन्यद्योगलक्षणम् ।
एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥[5]

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया ॥[6]

—०—

भगवान् व्यास ने उक्त योग में अपनी अरुचि ही प्रकट की है । जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । यही नहीं, अपने शारीरकसूत्रों में तो स्पष्ट रूप से ही–"एतेन योगः प्रत्युक्तः"-यह कहते हुए सांख्याभिमत इन्द्रियनिग्रहलक्षण कायक्लेशमूलक उक्त पातञ्जल योग का खण्डन ही किया है ।

१—योगलक्षणा योगनिष्ठा (भोगानुगता)

२—वियोगलक्षणा योगनिष्ठा (ऐश्वर्यानुगता)

—०—

१—प्रवृत्तं कर्म्म—याज्ञिकानाम्
२—निवृत्तं कर्म्म—सांख्यानाम्
→ प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्

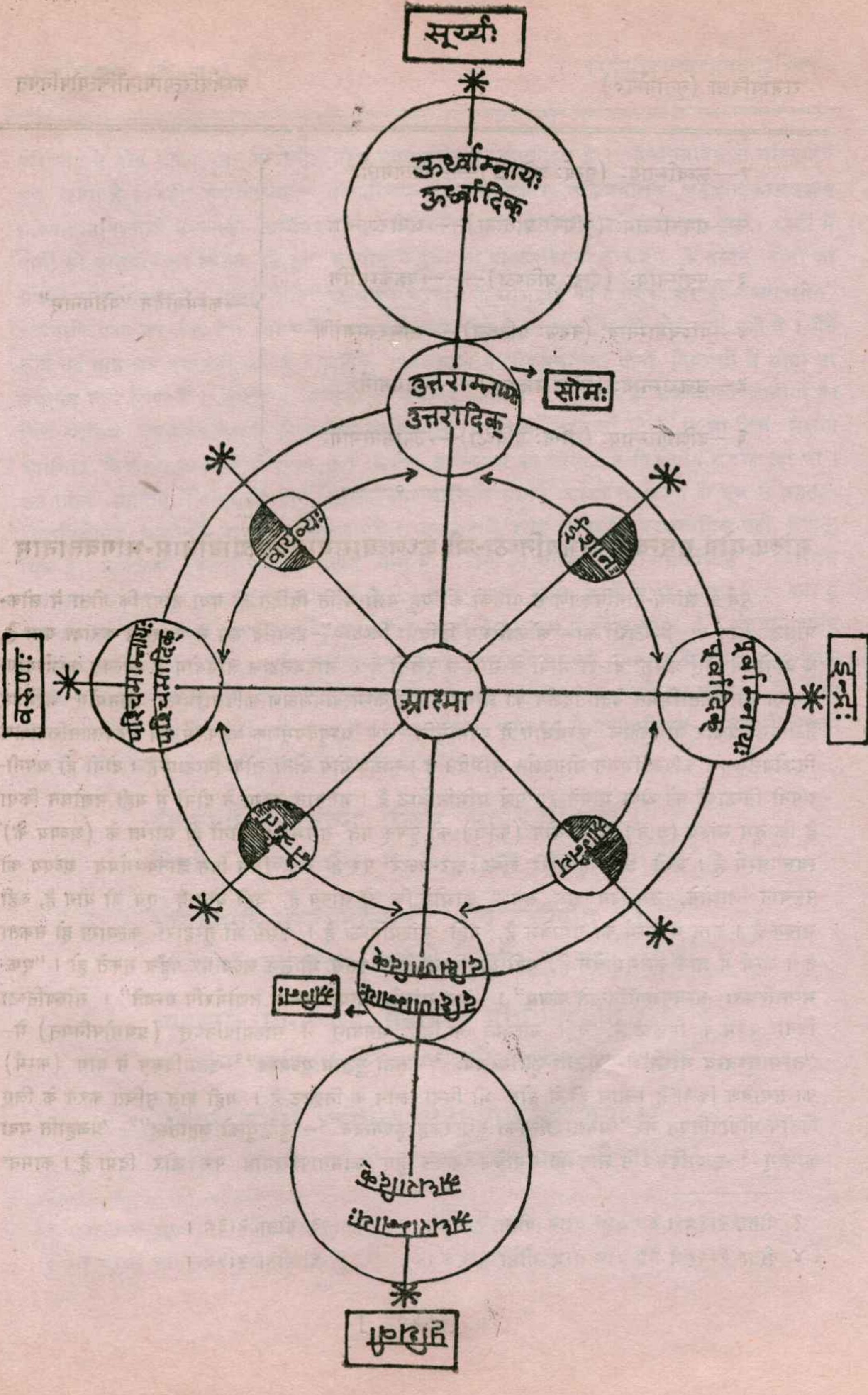
—०—

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१९ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।२० ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।२१ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।२२ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।२५ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०६।२६ ।

१---ब्राह्मणभागः—कर्म्मकाण्डम्—— →अभ्युदयमूलम् }
२—आरण्यकभागः—उपासनाकाण्डम्→निःश्रेयसमूलम् } →योगनिष्ठा

——०——

प्रकारान्तर से योगनिष्ठा का विचार कीजिए । सामान्य दृष्टि से विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि **सांख्य-योग** दोनों ही एक प्रकार से योग ही हैं । क्षरप्रपञ्चानुगृहीत शारीरक आत्मा मध्य में प्रतिष्ठित है । इसके इस ओर (हृदय की ओर) अक्षर है, उस ओर (इन्द्रियों के बाहर) भौतिकविषयरूप क्षरप्रपञ्च है । प्रत्येक दशा में शारीरक आत्मा इन दोनों में से किसी एक भाग के साथ अवश्ययुक्त रहता है । विषय के साथ युक्त रहे, यह एक विद्या है, अक्षर के साथ युक्त रहे, यह अन्या विद्या है । विषयानुयोग ही योग है, अक्षरानुयोग ही सांख्य है । इधर आना सांख्य है, उधर जाना योग है । कर्म्मानुयायी योगनिष्ठा के पक्षपाती हैं, ज्ञानानुयायी सांख्यनिष्ठा के पक्षपाती हैं । दूसरे शब्दों में क्षरानुयायी योगमार्गावलम्बी हैं, अक्षरानुयायी सांख्यमार्गावलम्बी हैं । **"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम्"** । दोनों में से प्रकृत में योगमार्ग प्रक्रान्त है । आत्मा बाहर जा कर किसी के साथ योग करता है, यही कर्म्मयोग है । बाहर जा कर आत्मा ६ दिशाओं से किसी एक के साथ अवश्य योग करता है । **पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधः** ये ६ ही तो दिग्विभाग हैं । छहों ही योग की प्रतिष्ठाएँ हैं । आगमशास्त्रपरिभाषानुसार इन्हीं की समष्टि को–**"षडाम्नाय"**–नाम से सम्बोधित किया जाता है । **पूर्वाम्नाय** पहला योग है । इसका यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध है । **पश्चिमाम्नाय** ठीक इसके विरोध में हैं । आसुरकर्म्म की प्रतिष्ठा यही है । उत्तराम्नाय तीसरा योग है । इसी को वामयोग, किं वा वाममार्ग कहा जाता है । इसमें पञ्चमकारों को योगसाधक माना गया है । ठीक इसके विरोध में चौथा दक्षिणाम्नाय है । इसमें पांच दकारों की उपासना की जाती है । दक्षिणदिशा का रुख उत्तर की ओर है, अतएव दक्षिणाम्नाय का अधिक प्रचार (पञ्चदेवतोपासना) उत्तरभारत में विशेषरूप से प्रचलित है । उत्तरदिशा का रुख दक्षिण की ओर है, अतएव उत्तराम्नाय (वाममार्ग) का विशेष प्रचार दक्षिण-भारत में था । खस्वस्तिक ऊर्ध्वाम्नाय है । यही सुप्रसिद्ध पातञ्जल, किं वा सांख्याभिमत कायक्लेशात्मक योगमार्ग है, जैसा कि–**"निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्य्यग्गतिमाप्नुयात्"**–इत्यादि से स्पष्ट है । अधः स्वस्तिक अधराम्नाय है । यही अघोराम्नाय है । विज्ञानदृष्टि से इन छहों के **इन्द्र-वरुण-सोम-अग्नि-सूर्य्य-पृथिवी** ये ६ मूलस्तम्भ अतिष्ठावा देवता हैं । **इन्द्र** यज्ञाधिष्ठाता हैं, वरुण आसुरकर्म्माधिष्ठाता हैं, अग्नि सर्वदेवाधिष्ठाता हैं, सोम शक्तिमय है, इसीलिए सौम्य उत्तराम्नाय में शक्ति (दुर्गा) को विशेष महत्त्व दिया जाता है । सूर्य्य खस्वस्तिक के अधिष्ठाता हैं, पृथिवी अधःस्वस्तिक की अधिष्ठात्री है । इन छहों योगों में से प्रकृत में योगशब्द से यज्ञात्मकपूर्वाम्नाय एवं ऊर्ध्वाम्नाय का ही ग्रहण है । भगवान् ने यज्ञाम्नाय का तो पूर्ण अभिनन्दन किया है, परन्तु ऊर्ध्वाम्नाय का आमूलचूड़ खण्डन कर उसके स्थान में दक्षिणाम्नायरूप उपासना का साम्राज्य स्थापित किया है, जो कि उपासनायोग गीताविज्ञान के अनुसार–**"अस्मितानिवर्त्तक ऐश्वर्यलक्षणबुद्धियोग"**–नाम से सम्बोधित हुआ है ।


सूर्य्यः
ऊर्ध्वाम्नायः
ऊर्ध्वादिक्
उत्तराम्नायः
उत्तरादिक्
सोमः
पश्चिमाम्नायः
पश्चिमादिक्
वरुणः
आत्मा
पूर्वाम्नायः
पूर्वादिक्
इन्द्रः

१—ऊर्ध्वाम्नायः (सूर्य्यः प्रतिष्ठा) ——→योगमार्गः	→कर्म्मयोगेन "योगिनाम्"
२—अधराम्नायः (पृथिवी प्रतिष्ठा)——→अघोरःपन्थाः	
३—पूर्वाम्नायः (इन्द्रः प्रतिष्ठा) ———→यज्ञकर्म्माणि	
४—पश्चिमाम्नायः (वरुणः प्रतिष्ठा)——→आसुरकर्म्माणि	
५—उत्तराम्नायः (सोमः प्रतिष्ठा) ——→वाममार्गः	
६—दक्षिणाम्नायः (अग्निः प्रतिष्ठा)——→उपासनामार्गः	

—०—

सांख्य-योग समन्वय—उभयनिष्ठा-श्री कृष्णव्यासयाज्ञवल्क्यादीनाम्-भागवतानाम्

पूर्व के सांख्य-योगनिरूपण से पाठकों को यह भली-भाँति विदित हो गया होगा कि गीता में लोक-प्रसिद्ध जिन दो निष्ठाओं का—**"लोकऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा०"**—इत्यादि रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, वे दोनों निष्ठाएँ क्रमशः दो-दो भावों से सम्बन्ध रखती हैं। सांख्यलक्षण ज्ञानयोग से कल्पित कर्म्मत्याग-लक्षण व्याख्याताभिमत वेदान्तदर्शन का ज्ञानयोग एवं कर्म्मत्यागलक्षण कपिलाभिमत ज्ञानयोग अभिप्रेत है। इसी प्रकार योगलक्षण कर्म्मयोग से कामासक्तिलक्षण अभ्युदयमूलक यज्ञकर्म्म एवं अव्यक्तासक्तिलक्षण निःश्रेयसमूलक कपिलाभिमत योगदर्शन अभिप्रेत है। सांख्य-योग दोनों लोक निष्ठाएँ हैं। दोनों ही अपनी-अपनी निष्ठाओं को श्रेष्ठ मानते हुए पूर्ण अभिनिविष्ट हैं। भगवान् कृष्ण ने दोनों में यही संशोधन किया है कि तुम सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्म्म) को पृथक् मत समझो। दोनों ही आत्मा के (अव्यय के) स्वरूपधर्म्म हैं। अभी तक तुम्हारी दृष्टि क्षर-अक्षर पर ही है। जिस दिन ज्ञानकर्म्ममय अव्यय को पहचान जाओगे, उस दिन तुम समझ जाओगे कि जो सांख्य है, वही योग है एवं जो योग है, वही सांख्य है। ज्ञान में कर्म्म का समावेश है, यही सांख्यनिष्ठा है। इससे भी तुम्हारा कल्याण हो सकता है। कर्म्म में ज्ञान का समावेश है, यही योगनिष्ठा है। इससे भी तुम लक्ष्य पर पहुँच सकते हो। **"एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्"**। **"यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"**। सांख्यनिष्ठा बिना कर्म्म के निकृष्ट है, यही बतलाने के लिए भगवान् ने सांख्योपनिषत् (प्रथमोपनिषत्) में—**"तस्माद्युध्यस्व भारत"**[1]—**"युद्धाय कृतनिश्चयः"**[2]—**"ततो युद्धाय युज्यस्व"**[3]—इत्यादिरूप से योग (कर्म्म) का समावेश किया है। साथ ही में योग भी बिना ज्ञान के निकृष्ट है। यही बात सूचित करने के लिए द्वितीय योगोपनिषत् में—**"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन"**[4]—**"बुद्धियुक्तो जहातीह"**[5]—**"प्रजहाति यदा कामान्"**[6]—इत्यादिरूप से ज्ञान का समावेश करते हुए कामनापरित्याग पर जोर दिया है। कामना

१ गीता २।१८। २ गीता २।३७। ३ गीता २।३८।
४ गीता २।४१। ५ गीता २।५०। ६ गीता २।५५।

परित्याग से योग सांख्य बन जाता है, यही भगवदभिमता योगनिष्ठा है। कर्म्मसमावेश से सांख्ययोग बन जाता है। यही भगवदभिमता सांख्यनिष्ठा है। इस प्रकार लोकप्रचलित शुद्धज्ञान-कर्म्मलक्षण सांख्य-योगनिष्ठाओं में क्रमशः कर्म्मग्रहण एवं कामनापरित्याग का समावेश करते हुए, दूसरे शब्दों में दोनों को बुद्धियोग का स्वरूप देते हुए भगवान् ने पूर्व की दो उपनिषदों से अर्जुन के सामने दोनों का संशोधित रूप रक्खा है। सांख्याभिनिविष्ट अर्जुन भगवान् के अभिप्राय को न समझ कर ही–**"ज्यायसी०"** –इत्यादि प्रश्न कर बैठा है। उत्तर में भगवान् ने यही कहा है कि व्यामिश्र की कोई बात नहीं है। मैंने कोई नई बात अब तक नहीं कही है। अपितु, पूर्वप्रकरण से लोकप्रचलित दोनों निष्ठाओं में थोड़ा सा संशोधन मात्र किया है। सजातीय वस्तुओं का समन्वय **"मिश्र"** कहलाता है, सजातीय-विजातीयों का मिश्र आमिश्र कहलाता है एवं विजातीयों का समन्वय व्यामिश्र कहलाता है। वि-आ-मिश्र लक्षण व्यामिश्र विजातीयभाव का ही सूचक है। अर्जुन ज्ञान-कर्म्म को परस्पर में विजातीय समझ रहा था। उस समय भगवान् ने दोनों का समन्वितरूप जब अर्जुन के सामने रक्खा तो अर्जुन के मुख से सहसा–**"व्यामिश्रेणेव वाक्येन"**–ये अक्षर निकल पड़े। भगवान् ने उत्तर दिया कि यह व्यामिश्र नहीं, अपितु, मिश्र है। ज्ञानकर्म्म विजातीय नहीं, अपितु बन्धु हैं। दोनों ही आत्मा के स्वरूपसमर्पक हैं? व्यामिश्र समझना भ्रान्ति है। क्या तू यह समझता है कि ज्ञान कभी बिना कर्म्म के रह सकता है? क्या तू यह समझता है कि कर्म्म बिना ज्ञान के संभव है? दोनों के समन्वय में ही कल्याण है। भगवान् व्यास ने वसिष्ठकरालसंवाद द्वारा पहले सांख्य-योग दोनों निष्ठाओं का बडे विस्तार के साथ पृथक्-पृथक् निरूपण किया। परन्तु आगे जा कर दोनों का एक निष्ठा पर पर्य्यवसान करते हुए बतलाया कि दोनों को दो समझना भूल है, दोनों एक वस्तु है। इस प्रकार व्यासदेव ने भगवदभिमत ज्ञानकर्म्मसमुच्चय लक्षण बुद्धियोग में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। देखिए!

वीतरागो जितक्रोधः सम्यग् भवति यः सदा।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ॥१॥[1]

मर्य्यादायां धर्म्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति।
पुष्टस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति सञ्चयः ॥२॥[2]

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥३॥[3]

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥४॥[4]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व २९८।१०। २ महाभातत शा० मो० पर्व २९८।११।
३ महाभारत शा० मो० पर्व २९८।४२। ४ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।२।

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन ।
वदन्ति कारणश्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ् मनीषिणः ॥५॥[१]

वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग् द्विजातयः ।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥६॥[२]

प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः ।
उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥७॥[३]

उभे चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसंमते ।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नये तां परमां गतिम् ॥८॥[४]

अप्रमत्तो यथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः ।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥९॥[५]

स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत ।
वेदवादे येऽपि दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥१०॥[६]

ज्ञानयोगे च ये दोषा गुणा योगे च ये नृप ।
सांख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव च गुणा नृप ॥११॥[७]

ज्ञान (सांख्य) विज्ञान (योग) संपन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः ।
प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥१२॥[८]

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥१३॥[९]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।३ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।४ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।७ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।८ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।३१ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।१२ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।१३ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३००।१७ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१३ ।

भारं सवहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥१४॥[1]

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति ।
यथा तत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥१५॥[2]

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।
स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥१६॥[3]

निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः ।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥१७॥[4]

तस्मात्त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते ।
याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥१८॥[5]

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥१९॥[6]

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥२०॥[7]

सांख्यदर्शनमेतत्ते परिसंख्यानमुत्तमम् ।
एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥२१॥[8]

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥२२॥[9]

---

३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१४ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१५ ।
१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१६ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१७ ।
५ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१८ ।
६ महाभारत शा० मो० पर्व ३०५।१९ ।
७ महाभारत शा० मो० पर्व ३०७।४४ ।
८ महाभारत शा० मो० पर्व ३१५।१९ ।
९ महाभारत शा० मो० पर्व ३१५।२० ।

सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥२३॥[१]

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौतावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥२४॥[२]

पृथक्-पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥२५॥[३]

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥२६॥[४]

इतनी विस्पष्ट परिस्थिति के रहते हुए भी जो व्याख्याता सांख्य से कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का ही ग्रहण करते हैं, उनके लिए हम क्या कह सकते हैं ? पूर्वप्रतिपादिता सांख्यनिष्ठा में ज्ञानयोगसमर्थक जिन श्रौतवचनों का उल्लेख हुआ है, वे भी कामनापरित्याग से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन दोनों में भगवान् बुद्धियोगलक्षण लोकसंग्राहक योगमार्ग के ही विशेष पक्षपाती हैं, जैसा कि–"**तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते**"–इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। जिन उपनिषद्वचनों को को ज्ञानाभिनिवेश से कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोगपरक लगाया जाता है, यह भ्रान्ति भी उस समय सर्वथा उच्छिन्न हो जाती है, जब कि हमारा ध्यान–"**योगशिखोपनिषत्**"–की ओर आकर्षित होता हैं। वहाँ विस्तार से यह बतलाया गया है कि केवल ज्ञान, केवल कर्म्म, दोनों बुरे हैं। दोनों के समन्वय में ही कल्याण है। आगे जा कर उपनिषत् ने भगवत्सम्मतयोगनिष्ठा को ही विशेष महत्त्व दिया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है–

तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥१॥[५]

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥२॥[६]

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३१६।१ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३१६।२ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३१६।३ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३१६।४ ।
५ योगशिखोप० ११ ।
६ योगशिखोप० १२ ।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्म्मणि ॥३॥[1]

तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम् ॥४॥[2]

शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलम् ॥५॥[3]

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम् ।
तेनैवं विजितं सर्वं नासौ केनापि बाध्यते ॥६॥[4]

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः ॥७॥[5]

विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा ।
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ॥८॥[6]

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते ।
ईदृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥९॥[7]

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥१०॥[8]

ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे ॥११॥[9]

---

१ योगशिखोप० १३ ।
२ योगशिखोप० १४ ।
३ योगशिखोप० ३८ ।
४ योगशिखोप० ३९ ।
५ योगशिखोप० ४७ ।
६ योगशिखोप० ४८ ।
७ योगशिखोप० ४९ ।
८ योगशिखोप० ५० ।
९ योगशिखोप० ५१ ।

ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन ।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लक्ष्यते ।।१२।।[1]

ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।
तस्माद्योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।।१३।।[2]

प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते ।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात् ।।१४।।[3]

तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत् ।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे ।।१५।।[4]

योगात् परतरं पुण्यं योगात् परतरं शिवम् ।
योगात् परतरं सूक्ष्मं योगात् परतरं नहि ।।१६।।[5]

——०——

"तस्माद्योगी भवार्जुन"

समीक्षा-प्रकरण में हमने कहा था कि महामाहेश्वर श्री **अभिनवगुप्ताचार्य** की दृष्टि अवश्य ही ज्ञानकर्म्मसमुच्चयलक्षण बुद्धियोग पर गई है । इसका कारण यही है कि आचार्य ने किसी व्याख्या जाल में न फँस कर स्वतन्त्रदृष्टि से गीतामूल के आधार पर अर्थ-संगति लगाने का प्रयास किया है । इसी स्वतन्त्रता के उपलक्ष में अभिनवगुप्त को श्री शंकराचार्य का प्रतिस्पर्द्धी माना गया है । न केवल अभिनवगुप्त ही, अपितु, जो भी विद्वान् मूलग्रन्थ के अनुसार गीतार्थसमन्वय का प्रयास करेगा, वही श्री शंकरादि व्याख्याताओं का प्रतिस्पर्धी कहलाएगा । अस्तु, देखना यह है कि श्री अभिनवगुप्त ने प्रकृत प्रकरण का किस दृष्टि से समन्वय किया है ? विस्तार की आवश्यकता नहीं हैं । केवल उनके विचार उन्हीं के मुख से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है—

"ज्यायसीति । व्यामिश्रेणेति । कर्म्मोक्तं ज्ञानं च । तत्र न द्वयोः प्राधान्यं युक्तं, अपि तु ज्ञानस्य । तद्बलेन क्षपणीयत्वं यदि कर्म्मणां-"बुद्धियुक्तो जहातीह" इत्यादिनयेन मूलतएव तर्हि किं प्रयोजनमिति प्रश्नाभिप्रायः ।।२।।

---

१ योगशिखोप० ५२ । २ योगशिखोप० ५३ । ३ योगशिखोप० ५४ ।
४ योगशिखोप० ६६ । ५ योगशिखोप० ६७ ।

श्री भगवांस्तूत्तरं ददाति–लोकेऽस्मिन्निति । लोके एषा द्वयी गतिः प्रसिद्धा–सांख्यानां ज्ञानं प्रधानं, योगिनां च कर्म्मेति । मया तु सैकेव निष्ठोक्ता । ज्ञानक्रियामयत्वात् संवित्त्वस्येति भावः ।

निष्कर्ष यह हुआ कि अर्जुन ने बुद्धि का अर्थ ज्ञान समझा । इसी भ्रान्ति से वह–"**ज्यायसी०**"–इत्यादि प्रश्न कर बैठा । भगवान् ने उत्तर दिया कि मैने लोकप्रचलित जिन दो निष्ठाओं का स्वरूप तेरे सामने रक्खा है, वह वास्तव में एक ही निष्ठा है । कारण, संवित् आत्मा ज्ञानकर्म्ममय है । न मैं केवल ज्ञान को श्रेष्ठ समझता, न केवल कर्म्म को । अपि तु, उभययुक्त बुद्धियोग ही मुझे प्रिय है । ऐसी दशा में तेरे व्यामिश्र का कोई कारण नहीं हैं ।

।। इति तृतीयोपनिषदि प्रथमोपदेशः ।।

१

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

२–[१] नैष्कर्म्योपायत्वात्, [२] कर्म्मसंन्यासवैय्यर्थ्यात्, [३] कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वात्, [४] प्रकृतिसिद्धत्वात्,

[५] अनासक्तकर्म्मयोगवैशेष्यात्, [६] कर्म्मारम्भकर्म्मसंन्यासयोः कर्म्मारम्भश्रैष्ठ्यात्,

[७] जीवननिर्वाहकत्वाच्चेति सप्तधा नाप्राप्तकर्म्मणः परित्यागाशक्यत्वम् ।

तृतीयायामुपनिषदि—

द्वितीयोपदेशः

२–[१]नैष्कर्म्योपायत्वात्, [२]कर्म्मसंन्यासवैयर्थ्यात्, [३]कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वात्, [४]प्रकृतिसिद्धत्वात्, [५]अनासक्तकर्म्मयोगवैशेष्यात्, [६]कर्म्मारम्भकर्म्मसंन्यासयोः कर्म्मारम्भश्रैष्ठ्यात्, [७]जीवननिर्वाहकत्वाच्चेति सप्तधा नाप्राप्तकर्म्मणः परित्यागाशक्यत्वम् ।

१–"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । ॥१॥
न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति" ॥ ॥२॥ (गीता ३।४)

२–"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् । ॥३॥
कार्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" ॥ ॥४॥ (गीता ३।५)

३–"कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गीता ३।६)

४–यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते" ॥ ॥५॥ (गीता ३।७)

५–"नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः । ॥ ६॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः" ॥ ॥७॥ (गीता ३।८)

[मूलानुवाद]—"कर्म्मों को किए बिना पुरुष नैष्कर्म्यं (ज्ञान) का भोग नहीं कर सकता" ।

"केवल संन्यास से ही पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता" ।

"कोई (भी) क्षणमात्र भी बिना कर्म्म के नहीं रह सकता"।

"प्रकृति से उत्पन्न गुणों से सबको परवश हो कर कर्म्म करना पड़ता है"।

"कर्म्मेन्द्रियों का संयम कर (किन्तु) मन से जो विमूढात्मा इन्द्रियों का स्मरण करता हुआ रहता है, वह "मिथ्याचार" कहा जाता है।

"हे अर्जुन ! जो मन से इन्द्रियों का संयम कर अनासक्तभाव से कर्म्मेन्द्रियों के द्वारा कर्म्मयोग में प्रवृत्त रहता है, वही विशेष है"।

"हे अर्जुन ! तू नियत कर्म्म (अवश्य ही) कर। क्यों कि अकर्म्म से कर्म्म उत्तम है। अकर्म्म-शील बने हुए तेरी शरीर-यात्रा का निर्वाह भी न होगा"।

—०—

[भाष्य]—प्रथमोपनिषत् एवं द्वितीयोपनिषत् से क्रमशः सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठा का स्वरूप अपने सामने आया देख कर, साथ ही में **"बुद्धि"** शब्द के ज्ञानपकर समझने की भ्रान्ति करता हुआ अर्जुन व्यामोह में पड़ गया है। जब कि भगवान् ने विस्पष्ट शब्दों में सांख्य एवं योगनिष्ठा का संशोधितरूप अर्जुन के सामने रख दिया था तो फिर अर्जुन को व्यामोह क्यों हुआ ? इस प्रश्न का समाधान पूर्व के प्रथमोपदेश में विस्तार से किया जा चुका है। अर्जुन के व्यामिश्रभाव को हटाते हुए भगवान् ने उन्हीं उक्त दोनों निष्ठाओं का स्वरूप एक निष्ठारूप से अर्जुन के सामने रखते हुए **"लोकेऽस्मिन्०"** इत्यादि कहा है। यद्यपि भगवान् की ओर से पूर्ण समाधान हो चुका है। सम्भव है, अर्जुन भी भगवान् के उक्त उत्तर से सन्तुष्ट हो गया हो। परन्तु अस्मदादि मन्दबुद्धि तो उक्त उत्तर से और भी अधिक सन्देह में पड़ जाते हैं। अर्जुन का प्रश्न था—"आपने सांख्य और योग नाम की दो निष्ठाएँ बतलाई हैं। दूसरी कर्म्मनिष्ठा में स्थान-स्थान पर आपने बुद्धि का उपदेश दिया है एवं सांख्यनिष्ठा में कर्म्म का उपदेश दिया है। साथ ही में कर्म्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ बतलाया है। मैं तो आपके इस विरुद्ध भाषण से उलटा व्यामोह में पड़ गया। दोनों का स्वरूप सामने रखते हैं, कर्म्म करने के लिए जोर देते हैं, बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। "कृपा कर दोनों में जो ठीक हो, उसका उपदेश दीजिए"। तत्काल भगवान् ने कह दिया—"लोक में जो दो निष्ठाएँ प्रचलित थीं, उनका स्वरूप मैने तेरे सामने रख दिया"। पाठक विचार करें, क्या इस उत्तर से अर्जुन का समाधान हो गया ? भगवान् ने जो उत्तर दिया, वह तो अर्जुन पहले से ही जानता था। जो उत्तर आज भगवान्—**"ज्ञानयोगेन सांख्यानां-कर्म्मयोगेन योगिनाम्"**—इत्यादिरूप से आज दे रहे हैं, वह तो—**"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां-शृणु"**—इस पूर्व सन्दर्भ से ही गतार्थ है। दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? अर्जुन को इस समय किस निष्ठा का अनुगमन करना चाहिए ? यह तो भगवान् ने बतलाया नहीं। नहीं—भगवान् ने उत्तर दे दिया। श्लोकस्थ **"लोके"** **"पुरा"** **"सांख्यानां"**—**"योगिनां"** **"निष्ठा"**—यही शब्द उत्तर का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। "लोक में दो विभिन्न निष्ठाएँ प्रचलित हैं, सांख्य ज्ञाननिष्ठा के पक्षपाती हैं, योगी योगनिष्ठा के पक्षपाती हैं" इससे भगवान् का अभिप्राय यही है कि इन दोनों को पृथक्-पृथक् दो निष्ठा मानना यह लौकिक, तत्त्व-

ज्ञानानभिज्ञ सामान्य मनुष्यों का काम है। मैंने तो दोनों में क्रमशः दोनों का समावेश कर बुद्धियोग-लक्षण एक ही निष्ठा तुझे पूर्व में बतलाई है। वही मेरा अपना मत है। लौकिक मनुष्यों में से कितने ही सांख्य के पक्षपाती हैं, कितने ही योग के। मेरी दृष्टि में पृथक् पृथक् रह कर कर्म्म (कर्म्मग्रहण एवं कामनापरित्याग से) दोनों भी श्रेष्ठ है, दोनों का समुच्चितरूप भी श्रेष्ठतम है। अब तक मैंने दोनों को पृथक् रखते हुए संशोधन द्वारा दोनों का स्वरूप तेरे सामने रक्खा है। परन्तु आज मैं स्वाभिमत, दोनों से विलक्षण बुद्धियोग का स्वरूप तेरे सामने रख रहा हूँ। दूसरा संशोतियोग ही मेरी दृष्टि में प्रशस्त मार्ग है।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि बुद्धि का अर्थ ज्ञान ही है। यह भी सर्वात्मना सिद्ध है कि कर्म्म की अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है–**"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"**। यह भी ठीक है कि ज्ञानोदय से ही मुक्ति होती है–**"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते"**। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि ज्ञान ही आत्मा की मौलिकनिधि है–**"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"**। इस प्रकार ज्ञानयोगलक्षणा तेरी सांख्यनिष्ठा का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि विशुद्ध आत्मा कर्म्मजाल से ही बन्धन में आ कर अपना स्वरूप भुलाता हुआ दुःख पाया करता है। कर्म्म ही आत्मपतन का कारण है। यह सब कुछ ठीक है। परन्तु इससे तू यह कैसे मान बैठा कि कर्म्ममात्र ही बन्धन के कारण हैं? जिस ज्ञान का तू यशोगान कर रहा है, वह भी अज्ञान से आवृत हो कर मोह का कारण बन जाता है। मिथ्याज्ञान, विरुद्धज्ञान, अज्ञान सभी तो ज्ञान हैं। यह सब ज्ञान आत्मपतन के कारण हैं, इसलिए सद्ज्ञान भी छोड देना चाहिए। क्यों? विरुद्धकर्म्म, अकर्म्म, बुरे हैं, इसलिए सत्कर्म्म भी छोड देने चाहिए। क्यों? तब तो तेरी दृष्टि से ज्ञान-कर्म्म दोनों ही निष्ठाएँ बुरी हैं। बुद्धिपूर्वक विचार करने से तुझे अवश्य ही इस निश्चय पर पहुँचना पड़ेगा कि अज्ञान-मिथ्याज्ञान-विरुद्धज्ञान जहाँ बुरे एवं सत्ज्ञान-उपादेय हैं, एवमेव अकर्म्म-मिथ्याकर्म्म विरुद्धकर्म्म जहाँ बुरे हैं, वहाँ सत्कर्म्म ज्ञानोपयिक होने से सर्वथा उपादेय ही हैं।

अपि च अच्छे बुरे कर्म्म तू छोड देगा, यह हमने माना। परन्तु जो कर्म्म आत्मस्वरूप में अन्तर्भूत है, उन्हें तू छोड भी कैसे सकेगा? नियतकर्म्म तुझे परवश हो कर करने ही पड़ेंगे। तू न न करता रहेगा, कर्म्म होते ही रहेंगे। अपनी संस्था को तू वश में कर लेगा, परन्तु–**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि"**। इस प्रकार अभ्युपगमवाद से भगवान् अर्जुन की सांख्यनिष्ठा का समादर करते हुए प्रकृत प्रकरण से उसे बुद्धियोग का ही रूप प्रदान कर रहे हैं।

उक्त दृष्टि को प्रधान मानते हुए हम कर्म्म-प्रपञ्च को तीन भागों में विभक्त मान सकते हैं। शास्त्रनिषिद्ध सुरापान, भ्रूणहत्या, अगम्यागमन आदि सब तामस कर्म्म एवं शास्त्राविहिताप्रतिषिद्ध जलताडनादि तामस निरर्थक कर्म्म इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही कर्म्मप्रपञ्च–**"असत-कर्म्म"**–नाम से सम्बोधित हुए हैं। दूसरा विभाग उन कर्म्मों का है, जिनके अनुष्ठान से आत्मबल बढ़ता है। तीसरा विभाग उन कर्म्मों का है, जो कभी छोडे नहीं जा सकते। इस प्रकार–**अनिवार्यकर्म्म, अब-**

न्धनकर्म्म, बन्धनकर्म्म-भेद से कर्म्म तीन भागों में विभक्त हैं। इन तीनों में पूर्व के दो उपादेय हैं, तीसरा विभाग सर्वथा हेय है। कर्म्म की अनिवार्यता (अवश्यंभावित्व) सात भागों में विभक्त हैं एवं अबन्धनकर्म्म चार भागों में विभक्त हैं। सप्तधाविभक्त अनिवार्यकर्म्म छोड़े नहीं जा सकते, चतुर्द्धाविभक्त अबन्धन कर्म्मों को छोड़ने में हानि है, अनुष्ठान में कल्याण है। इस प्रकार सम्भूय ११ प्रकार के कर्म्म सर्वथा ग्राह्यकोटि में निविष्ट हो जाते हैं। इन ११ हों में से सप्तधाविभक्त अनिवार्यकर्म्म का तो भगवान् ने द्वितीयोपदेश से निरूपण किया है एवं शेष चारों अबन्धन कर्म्मों का क्रमशः ३-४-५-६-इन चार उपदेशों से स्पष्टीकरण किया है। सर्वान्त में सातवें उपदेश से इस कर्म्मलक्षण बुद्धियोग में अभिनिवेश प्रकट किया है। इस प्रकार हमारी यह तीसरी उपनिषत् सांख्य-योग दोनों निष्ठाओं का समादर करती हुई, इसी को सर्वश्रेष्ठ मानती हुई-"**बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्**"-अपने इस नाम को सार्थक कर रही है। यही उपनिषत् वैराग्यलक्षण, रागद्वेषासक्तिनिवर्त्तक, अनादिकाल से परम्परया राजर्षिसम्प्रदाय में प्रचलित बुद्धियोग की मूल प्रतिष्ठा है—

१ → **अनिवार्यकर्म्माणि** (द्वितीयोपदेशः)

- १—नैष्कर्म्योपायत्वात्—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- २—कर्म्मसंन्यासवैय्यर्थ्यात्—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- ३—कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वात्—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- ४—प्रकृतिसिद्धत्वात्—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- ५—अनासक्तकर्म्मयोगवै०—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- ६—{ कर्म्मारम्भकर्म्मसंन्यासयोः / कर्म्मारम्भश्रैष्ठ्यात् } → कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्
- ७—जीवनयात्रानिर्वाहकत्वात्—कर्म्मणः—अनिवार्यत्वम्

—०—

२ → **अबन्धनकर्म्माणि**

- १—यज्ञार्थकर्म्माणि——अबन्धनानि (तृतीयोपदेशः)
- २—लोकस्थितिनिर्वाहकानि—अबन्धनानि (चतुर्थोपदेशः)
- ३—उपेक्षाकृतानि क०——अबन्धनानि (पञ्चमोपदेशः)
- ४—स्व० सिद्धसहजकर्म्माणि—अबन्धनानि (षष्ठोपदेशः)

—०—

१–नैष्कर्म्योपायत्वात्–कर्म्मणः–अनिवार्यत्वमबन्धनत्वं च ।

१–"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" ।[1]

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"–"आत्मानं चेत्–विजानीयात्"–"इहचेदशकत्–बोद्धुम्"–"नास्त्यकृतः कृतेन"–"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः"–"न कर्म्मणा न प्रजया धनेन"–इत्यादि श्रौत उपनिषद्वचन एकमात्र **आत्मज्ञान** को ही मुक्ति का चरम कारण मान रहे हैं। वास्तव में बात यथार्थ है। सदसद्द्वन्द्वों से छुटकारा पाने के लिए आत्मज्ञान ही चरम साधन है। **"नामृतत्वस्य तु आशास्ति"**–इस सिद्धान्त के अनुसार मन-इन्द्रिय-कर्म्मसंस्कार-शरीर आदि **अन्तर्वित्त,** पुत्रकलत्रादि **अन्तरंगवित्त,** अनुचर-पशु-द्रव्य-अन्नादि **बहिरंगवित्त** अमृत-मावावाप्ति के कारण नहीं हैं। आत्मज्ञान ही अमृतभावप्राप्ति का मुख्य कारण है। सब उपनिषदें, शारीरकशास्त्र, गीताशास्त्र, सांख्यशास्त्र चारों ही आत्मशास्त्र आत्मज्ञान को ही मुक्ति का अन्यतम कारण मान रहे हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इस अंश में प्राचीन व्याख्याताओं–**"तस्मात् केवलादेव ज्ञानान्मोक्ष इत्येषोऽर्थो निश्चितो गीतासु सर्वोपनिषत्सु च"**–यह कथन सर्वथा निःसंदिग्ध एवं ऐकान्तिक सत्य है। विवाद है केवल **"आत्मज्ञान"** शब्द पर। मुक्ति के लिए आत्मा का ज्ञान आवश्यक है, यह वैज्ञानिकपक्ष है एवं मुक्ति के लिए कर्म्मपरित्यागलक्षण संन्यासज्ञान आवश्यक है, यह प्राचीनपक्ष है। आत्मा का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा जानना ही आत्मज्ञान है। आत्मा **"अहं"** पदार्थ है एवं **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"**[2]–**"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह"**[3]–**"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह"**–**"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः"**–**"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"**–**"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"**–**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"**[4]–**"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"**[5]–**"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च"**[6]–**"अर्द्धं ह वै प्रजापतिरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्ध-ममृतम्"**[7]–**"नामृतं मृत्युर्भिविना"**–**"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"**[8]–इत्यादि श्रौत-स्मार्त्तवचन उस मौलिक अव्ययात्मा को अमृतलक्षण ज्ञान एवं मृत्युलक्षण कर्म्ममय बतला रहे हैं। आत्मा न केवल ज्ञानमय है, न केवल कर्म्ममय है। महामाया की कृपा से सीमित होने वाले रस–बलात्मक आत्मा में रसानुग्राहक ज्ञान भी है एवं बलानुग्राहक कर्म्म भी है। दोनों की समष्टि ही अहंपदार्थ (आत्मा) पदार्थ है। इस उभयात्मक आत्मब्रह्म के **प्रत्यक्-पराक्** भेद से दो विवर्त्त हैं, जैसा कि पूर्वोपनिषत् के **"रागद्वेषवियुक्तैस्तु०"**–इत्यादि सातवें उपदेश में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ज्ञानकर्म्ममय अव्ययात्मा पुरुष है। यह पुरुष अपनी अक्षर-क्षर नाम की परा-अपरा प्रकृतियों से नित्ययुक्त रहता है। आत्मा इधर है, यही **प्रत्यग्ब्रह्म** है। क्षर उधर है, यही **पराग्ब्रह्म** है। मध्य में नियन्ता अक्षर है। अक्षरद्वारा आत्मा ही क्षर का अनुग्राहक बनता हुआ पराग्ब्रह्मरूप में परिणत हो रहा है। क्षर में

१ गीता ३।४।
२ शत० ब्रा० १०।५।२।४।
३ इशोप० ११ व १४।
४ छा० उप० ३।१४।१।
५ नरसिंह० उप० ७।
६ शत० ब्रा० ६।१।२।११।
७ शत० ब्रा० १०।१।३।२।
८ गीता ९।१९।

मृत्युरूपकर्म्म की प्रधानता है, अतएव पराग्ब्रह्म नानाभावयुक्त है। पराग्ब्रह्म ही विश्व है। इसमें भी ज्ञानकर्म्म दो ही तत्त्व हैं। परन्तु विश्वानुबन्धी पराग्ब्रह्मलक्षण यह ज्ञान और कर्म्म नानाभावापन्न बनते हुए मृत्युप्रधान बने हुए हैं। यही विज्ञानब्रह्म है। विविधज्ञान, विविधकर्म्म ही विज्ञान है। यह विविधभाव तभी तक क्षोभ का कारण है, जब तक कि अक्षर का सहारा लेते हुए हम उस एक ज्ञानकर्म्ममूर्ति प्रत्यग्ब्रह्म को नहीं पहचान सकते। प्रत्यग्ब्रह्म एकत्वलक्षण है। यही **ज्ञानब्रह्म** है। भेदवादशून्य, सत्तामात्र, अगोचर कर्म्मगर्भित एकत्वलक्षण ज्ञान ही प्रत्यगात्मा का वास्तविक स्वरूप है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

प्रत्यस्तशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

इस एकत्वलक्षण ज्ञानब्रह्म के परिज्ञान से ही मुक्ति होती है, इसी आधार पर "**ज्ञानान्मुक्तिः**"–"**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**"–इत्यादि वचन प्रतिष्ठित हैं। नाना ज्ञान, नाना कर्म्म विज्ञान है। एक ज्ञान, एक कर्म्म ज्ञान है। विज्ञान विश्व है, ज्ञान आत्मा है। विज्ञानद्वारा ज्ञान पर पहुँचा जाता है। जैसा कि–"**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यही सच्चा आत्मज्ञान है। आत्मा के एकत्वलक्षण ज्ञानकर्म्म को आत्मसात् कर लेने से नानात्वलक्षण विश्वज्ञान-कर्म्मप्रवृत्ति क्षोभ का कारण नहीं बनती, यही विदेहमुक्ति है। "**तमेव विदित्वा०**"–का यही रहस्य है। इसी आत्मज्ञान से मुक्ति होती है। ऐसी दशा में प्राचीन व्याख्याताओं का यह मान बैठना कि कर्म्म के त्याग से मुक्ति होती है, कोई मूल्य नहीं रखता। आत्मज्ञान का अर्थ कर्म्मत्याग कैसे? इस का उत्तर तो उन्हीं व्याख्याताओं से पूछना चाहिए। बिना किसी द्रविड़प्राणायाम के हम तो श्रुति के अक्षरों से सीधा-सीधा यही अर्थ समझते हैं कि आत्मा भी ज्ञानकर्म्म है, विश्व भी ज्ञानकर्म्ममय है। विश्व के ज्ञानकर्म्म नानाभावकोटि से ग्रस्त रहते हुए विज्ञानमय हैं, आत्मा के ज्ञानकर्म्म एकत्व से युक्त रहते हुए ज्ञानमय हैं। ज्ञानमय अतएव एकत्वभावप्रधान आत्मीयज्ञान एवं आत्मीयकर्म्मों को आधार बना कर जो युक्तात्मा विश्व के ज्ञानकर्म्मों का लोकसंग्रहदृष्टि से (निष्काम-भावना द्वारा) संचालन करता रहता है, वही मुक्तात्मा है।

यह तो हुई अपने घर की बात। अब पराई सुनिए। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि आत्मज्ञान का अर्थ केवल ज्ञान ही है। ऐसी स्थिति में आत्मा विशुद्धज्ञानमय ही है। कर्म्म का वहाँ नितान्त अभाव है। विशुद्धज्ञानात्मा ही मुक्त आत्मा है। सुस्वागतम्! ऐसे मुक्तात्माओं के लिए शास्त्रोपदेश की कोई आवश्यकता नहीं हैं, यह तो उन व्याख्याताओं को भी स्वीकार करना पड़ेगा। जिन के ज्ञानमय आत्मा पर कर्म्म का आवरण आ गया है, वे ही बद्धात्मा हैं एवं इन्हें बन्धन से छुडाने के लिए ही आत्मशास्त्रप्रवृत्त हुए हैं। विचारणीय यह है कि यह बन्धन कर्म्म

से छूटेगा अथवा ज्ञान से। ज्ञान निष्क्रिय है। वह कभी कर्म्मावरण को नहीं हटा सकता। **"हम ज्ञानी हैं–कर्म्म बन्धन का कारण है"**–केवल इस चर्वणा से ही तो कर्म्मबन्धन नहीं छूटेगा। जब तक चित्तशुद्धि नहीं होगी, तब तक आत्मज्ञान का उदय न होगा एवं चित्तशुद्धि के लिए प्रत्येक दशा में कर्म्म करना आवश्यक है। स्वयं व्याख्याताओं ने यह स्वीकार किया है कि उपेयप्राप्त्यर्थ उपायभूत कर्म्म का आश्रय लेना आवश्यक है। **"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्म्मणः"**–इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानोदय के लिए कर्म्मक्षय आवश्यक है, तदर्थ निवृत्तिकर्म्म का अनुष्ठान आवश्यक है। स्पष्ट ही–**"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन इत्यादिना कर्म्मयोगस्य ज्ञानयोगोपायत्वं प्रतिपादितम्"**–यह कहते हुए भाष्यकार ने कर्म्मयोग की आवश्यकता स्वीकार की है। यही नहीं, आगे जा कर तो–**"नापि संन्यसनादेव केवलात् कर्म्मपरित्यागमात्रादेव ज्ञानरहितात् सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञानयोगेन निष्ठां न समधिगच्छति न प्राप्नोति"**–यह कहते हुए ज्ञानयोग की अनुपादेयता व्यक्त की है। निष्काम कर्म्म से जब ज्ञान का उदय हो गया तो मुक्ति हो गई। ऐसा कृतात्मा विधिनिषेध से परे हो गया। उपेय मिल गया, किसी उपाय की आवश्यकता न रही। फलतः मुक्ति का श्रेय एकमात्र कर्म्म को ही मिल गया। परम्परया व्याख्याताओं को–**"एकं सांख्यं च योगं च यःपश्यति स पश्यति"**–इस सिद्धान्त पर आना पड़ा। ज्ञान उपेय है, कर्म्म उपाय है, यह व्याख्याता स्वीकार करते हैं। फिर हमारी समझ में यह न आया कि दो निष्ठाएँ कैसे हो गईं? यदि ज्ञानयोग भी उपाय है तो इसे उपेय कहना व्यर्थ है। यदि यह उपेय है तो इसे उपाय मानना व्यर्थ है। दोनों में से एक बात पर स्थिर रहिए। यदि कर्म्मयोगवत् ज्ञानयोग भी उपाय है, तब तो–**"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"**–यह कहना व्यर्थ है। यदि ज्ञानयोग केवल उपेय ही है तो कर्म्मयोग पर ही विश्राम मानना पड़ेगा। क्रियाभाव के बिना कार्यकारणता का उदय नहीं हो सकता। विशुद्ध ज्ञान जब सर्वथा निष्क्रिय है तो उसे मुक्ति का कारण कैसे माना जा सकता है? कारण सापेक्ष शब्द है। कारण कार्य की अपेक्षा रखता है। यदि ज्ञान कारण है तो वह अवश्य ही कार्य (कर्म्म) का प्रवर्त्तक है। फिर वह मोक्षकार्य हो, अथवा बन्धन कार्य हो। कर्म्मत्वेन दोनों कार्य कर्म्म हैं। फिर तो उनका ज्ञान ही कर्म्मजनक बनता हुआ अपने निष्कर्म्मभाव से गिर गया। सभी शास्त्र उपायपरक हैं। उपाय से उपेय पर पहुँचा देना ही शास्त्रों का शास्त्रार्थ है। अज्ञ को ज्ञ बनाना ही शास्त्रों का परम पुरुषार्थ है। उपाय एकमात्र कर्म्मयोग ही है। इस प्रकार अपने आप सांख्यनिष्ठा का उच्छेद हो जाता है। यही बात–**"अज्ञ इति वाक्यशेषः। यतो वक्ष्यति-गुणैर्यो न विचाल्यते इति। सांख्यानां पृथक्करणादज्ञानामेव हि कर्म्मयोगो, न ज्ञानिनाम्। ज्ञानिनां तु गुणैरचाल्यमानानां स्वतश्चलनाभावात् कर्म्मयोगो नोपपद्यते"**–इत्यादि रूप से स्वीकार किया है। सचमुच भाष्यकार का–**"अज्ञ इति वाक्यशेषः"**–यह वाक्य खटकता है। कर्म्म करना इनकी दृष्टि में मूर्खों का काम है एवं अकर्मण्य बने रहना ज्ञानियों का काम है। हम उन भाष्यभक्तों के सामने आज कृष्ण और शङ्कर दोनों को खड़ा कर उनसे पूछते हैं कि कि आपकी दृष्टि में दोनों में कौन महापुरुष है?

महापुरुष दोनों ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु दोनों की तुलना में आप किसे उच्च आसन प्रदान करेंगे? यह प्रश्न है। ऐसा कौन भारतीय होगा, जो इस प्रश्न के उत्तर में कृष्ण की ओर अंगुली निर्देश न करेगा? कृष्ण ज्ञानी थे या अज्ञानी–यह दूसरी जिज्ञासा है। सच्चिदानन्दघन कृष्ण के

सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न उठाना भी प्रायश्चित का भागी होना है, यह हम जानते हैं। साथ ही में उक्त प्रश्न को लिखते समय हमारा आत्मा कम्पित भी हो रहा है, परन्तु क्या करें, व्याख्याताओं का अभिनिवेश हम से यह दुराचार करवा रहा है। सर्वज्ञाननिधि कृष्ण ज्ञानी नहीं थे, ज्ञान के अवतार थे। अच्छा बतलाएँ, उन्होंने अपने आविर्भावकाल से तिरोभावकाल तक क्या किया ? क्या चुपचाप जंगल में कौपीन लगाए समाधिमग्न बैठे रहे, अथवा लोकसंग्रहदृष्टया कर्म्म करते हुए लीला संवरण किया ? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत से पूछिए, महाभारत से पूछिए, गीता से पूछिए। कृष्ण निष्काम थे, आप्त काम थे, आत्मकाम थे, ज्ञान की चरमसीमा पर पहुँचे हुए थे। फिर भी उन्होंने अथ से इति तक-"**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**"-पथ का अनुसरण किया।

बचपन में खूब खेले कूदे, प्राप्तवयस्क होने पर सान्दीपन से भक्तिपूर्वक विद्याध्ययन किया, विवाह किया, गृहस्थाश्रम का पूर्ण अनुपालन किया, यज्ञ किया, दूत बने, मित्रता निभाई। अत्याचारियों का दमन किया, सारथी बने और फिर अर्जुन को गीतोपदेश द्वारा कर्म्मयोग पर आरूढ किया। "**नानवाप्त-मवाप्तव्यं वर्त्तये च कर्म्मणि**"-अपने इस अन्यतम सिद्धान्त के अनुसार जीवनभर स्वयं कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहे, दूसरों को कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रक्खा एवं आगे होने वाली प्रजा को कर्म्ममार्ग में सुरक्षित रखने के लिए गीता का सन्देश दिया। यह है, कर्म्मयोगी कृष्ण के विमल दर्शन। सचमुच यहाँ आ कर भाष्यकार की-"**ज्ञानिनां तु गुणैरचाल्यमानानां स्वतश्चलनाभावात् कर्म्मयोगो नोपपद्यते**"-यह पङ्क्ति सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जाती है। जो गुणमयी प्रकृति स्वयं जगदीश्वर को लोककल्याण के लिए मनुष्यजन्म के लिए बाध्य कर देती है-"**संभवाम्यात्ममायया**"-उस प्रकृति पर यह कल्पित संन्यासी विजय प्राप्त कर लेंगे, क्या यह कम उपहास की बात है ? क्या कृष्ण अज्ञ थे, जो जीवन भर कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहे ? कैसी विडम्बना ! कैसा अज्ञान !! कैसी भ्रान्ति !!! अब ज्ञानियों की गाथा सुनिए। जब भारतवर्ष में कुतर्की नास्तिकों का प्रभुत्व स्थापित हो गया, यज्ञकर्म्म के नाम पर अवैध पशु-हिंसा का दोर-दोरा चल पड़ा तो इस धर्म्मग्लानि के निवारणार्थ-"**यदा यदा हि धर्म्मस्य०**"-इस अवतारसिद्धान्त के अनुसार भगवान् शङ्कर मनुष्य-शरीर में धरातल पर अवतीर्ण हुए। अपने-"**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**"-के अनुसार श्रीगौड़पादाचार्य से पहले तो विद्याध्ययन किया। बाद में लीलासंवरणपर्यन्त क्या किया ? इसका उत्तर उस कृतज्ञ भारतसन्तति से पूछिए, जो आज तक शंकरादेश के प्रभाव से धर्म्म पर आरूढ है। शंकराचार्य ने जीवन में क्षणमात्र भी विश्राम न लिया। निरन्तर कर्म्म में आरूढ रहे। फिर उन्होंने कर्म्मत्याग का आदेश क्यों दिया ? यह अवश्य ही विचारणीय विषय है। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि तत्कालीन भारत कर्म्मवाद में उसी प्रकार रत हो गया था, जैसा कि आज का भारत कर्म्म करो, कर्म्म करो, यही गीता का उपदेश है, इस प्रकार कर्म्म-चीत्कार करता हुआ अकर्म्मात्मक कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् शङ्कर ने यह आवश्यक समझा कि एक बार इनकी कर्म्म में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने ज्ञानास्त्र का प्रयोग किया। कहना न होगा कि ईश्वरीयप्रेरणायुक्त इस शास्त्रप्रयोग में भगवान् शङ्कर सर्वात्मना सफल हुए। परन्तु उस शास्त्र का घाव इतना गहरा बैठा कि वह आज तक न भरने पाया। आचार्य छोटी अवस्था में ही लीलासंवरण कर गए। थोड़े दिन उनकी सत्ता और रहती तो सम्भव था वे अपने उस उपलालनरूप

असत्यमार्ग का संशोधन कर डालते। परन्तु देश के दुर्भाग्य से वह संशोधन देश की संतति को न मिल सका। परिणाम इसका यह हुआ कि आचार्य के मूल लक्ष्य से सर्वथा अपरिचित आर्यजाति ने कर्म्मवाद को सर्वथा भुलाकर अपना सर्वनाश करा लिया एवं करा रही है। श्री शंकर को दोष देने की अपेक्षा अपने को ही दोषी मानना ठीक है। हम भी क्या करें? हमें भी अन्त में अपनी सारी जिम्मेदारी काल-पुरुष के ही कन्धों पर डाल देनी पड़ती हैं। इतना निर्विवाद है कि गीताशास्त्र निष्कामकर्म्मयोगलक्षण बुद्धियोग को ही सर्वप्रधान मानता है। सुखदुःख की चर्चा समाप्त हुई, अब प्रकृत विषय पर दृष्टि डालिए।

दोनों निष्ठाओं में कौन-सी निष्ठा श्रेष्ठ? इस प्रश्न के समाधान में अन्तरंग में बुद्धियोगनिष्ठा का समादर करते हुए, परन्तु प्रकट में अर्जुन की ज्ञाननिष्ठा का अभ्युपगमवाद से आदर करते हुए भगवान् कहते हैं कि कर्म्म के अनारम्भ से आत्मा कभी नैष्कर्म्यभाव का भोक्ता नहीं बन सकता। अर्थात् नैष्कर्म्यभावप्राप्ति के लिए कर्म्म का आरम्भ (प्रवृत्ति) आवश्यक है। तुमने कर्म्म करना छोड दिया, अच्छा किया। कर्म्म करने से जो नवीन (आगमी) संस्कार उत्पन्न होने वाले थे, इस कर्म्मानारम्भ से तुमने उनका निरोध अवश्य कर दिया। क्या एतावता ही नैष्कर्म्यभाव (ज्ञानोदय) हो गया? भूलते हो। तुम्हारे आत्मा पर अभी अनेक जन्मों के संचित कर्म्म (कर्म्मसंस्कार) बैठे हैं। जब तक इनका निराकरण न होगा, तब तक कथमपि नैष्कर्म्यभाव प्राप्त नहीं हो सकता। आगामी कर्म्मसंस्कारनिरोध के साथ-साथ तुम्हें संचित संस्कारों का भी क्षय करना पड़ेगा। इसलिए तुम्हें ऐसे कर्म्म का आश्रय लेना पड़ेगा, जो आगामी कर्म्मों के संस्कारों का लेप भी न होने दे, सञ्चित लेप को नष्ट कर दे, साथ ही में वह स्वयं लेप का कारण भी न बने। जानते हो, वह कर्म्म कौन सा है? तुम्हारी समझी हुई कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग) एवं कामनापरिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा (कर्म्मयोग) दोनों ही इस सम्बन्ध में असमर्थ हैं। इसके लिए तो तुम्हें ज्ञानसहकृतकर्म्मलक्षणा अतएव निष्कामकर्म्मलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा का ही आश्रय लेना पड़ेगा। यह कर्म्म ज्ञान को अपना आधार बनाएगा, इसलिए तो स्वयं लेप का कारण न बनेगा। असंग-ज्ञान के सहकार से स्वयं भी असंग बना हुआ यह कर्म्म ससंग आगामी संस्कारों का लेप भी न होने देगा एवं संचित लेप भी इस प्रबल आक्रमण से निवृत्त हो जाएगा। इस प्रकार यह निवर्त्तक कर्म्मबल प्रवर्त्तककर्म्मबल को सर्वथा उच्छिन्न कर देगा।

श्लोकस्थ–**"अनारम्भात्"**–**"नैष्कर्म्यम्"**–**"अश्नुते"**–ये तीन पद विशेषरूप से लक्ष्य में रखने चाहिए। भगवान् कर्म्म के आरम्भ के पक्षपाती अवश्य हैं, परन्तु कर्म्म का प्रारम्भ भगवान् को पसन्द नहीं हैं। हमारे विद्वत्-समाज की दृष्टि में भले ही आरम्भ और प्रारम्भ शब्द समानार्थक बनते हैं, परन्तु एक वैज्ञानिक की दृष्टि में दोनों में अहोरात्र का अन्तर है। आरम्भ का प्राणव्यापार से सम्बन्ध है, प्रारम्भ का वाग्व्यापार से सम्बन्ध है। प्राणव्यापार **"तप"** कहलाता है, वाग्व्यापार **"श्रम"** कहलाता है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा पुरुष है। यह मन से कामना करता है, प्राण से तप करता है, वाग्भाग से श्रम करता है। अक्षरविज्ञान के अनुसार मन का अनुग्रह ब्रह्म पर रहता है, प्राण का अनुग्रह इन्द्र पर रहता है, वाक् का अनुग्रह विष्णु पर रहता है। इन्द्राक्षर अग्निक्षर के सञ्चालक हैं, विष्णुक्षर सोमक्षर के सञ्चालक हैं। इन्द्राग्नी समानधर्म्मा हैं, विष्णुसोम समानधर्म्मा हैं। प्राण-इन्द्र-अग्नि तीनों असंग हैं।

इसका एकमात्र कारण आत्मा की प्राण कला ही हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-शून्य, अधामच्छद असंगतत्त्व को ही "प्राण" कहा जाता है। असंग-प्राण से सम्बन्ध रखने वाला इन्द्र भी असंग है एवं असंग इन्द्रक्षर से सम्बन्ध रखने वाला विशकलनधर्म्मा अग्नि भी असंग ही है। शारीर अग्नि ही कर्म्म का अधिष्ठाता है। हम जो भी कर्म्म करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा अग्नि ही बनता है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

"अग्निरेव ब्रह्म"।[1]

"ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति"।[2]

इसी प्रकार वाक्-विष्णु-सोम तीनों ससंग हैं। इसका एकमात्र कारण आत्मा की वाक्-कला ही है। वाक् अर्थतत्त्व की अधिष्ठात्री बनती हुई आसक्तिधर्म्मा है, अतएव इसके आधार पर विष्णु की अशनाया से सोमाहुति द्वारा संसृष्टिलक्षण सम्पूर्ण भूतों का जन्म होता है। प्राण का देवसृष्टि से सम्बन्ध है, वाक् का भूतसृष्टि से सम्बन्ध है। प्राण का आरम्भ होता है, भूतों का प्रारम्भ होता है। ईश्वर शरीर में भी दोनों हैं, जीवसंस्था में भी दोनों हैं। अन्तर दोनों संस्थाओं में केवल यही है कि ईश्वर-संस्था में प्राणारम्भ की प्रधानता से वाक् का प्रारम्भ आरम्भरूप में परिणत होता हुआ असंगभाव में ही परिणत रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर उपनिषत् ने ईश्वरीय वाक् के सम्बन्ध में–**"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"**–यह सिद्धान्त स्थापित किया है। इधर जीवसंस्था में वाक् प्रबल बन कर प्राण को भी प्रारम्भलक्षण ससंगभाव में परिणत कर डालती है। यही प्रारम्भभाव दुःख का मूल है। भगवान् कहते हैं-तुम नैष्कर्म्यभाव–प्राप्ति के लिए कर्म्म अवश्य करो। परन्तु ध्यान रहे, तुम्हारा कर्म्म कहीं प्रारम्भभाव से आक्रान्त न हो जाए। भौतिक फलाशा वाक् को प्रबल बना देगी। तुम्हारा प्राणात्मक असंग कर्म्मारम्भ प्रारम्भरूप में परिणत हो कर नैष्कर्म्य के स्थान में उलटा बन्धन का कारण बन जाएगा। कर्म्मारम्भ ही नैष्कर्म्यभाव का कारण है, न कि कर्म्मप्रारम्भ। इस प्रकार आरम्भभाव के द्वारा भगवान् निष्कामकर्म्मलक्षण प्राणेन्द्रप्रधान बुद्धियोग की ओर ही संकेत कर रहे हैं। इन्द्रतत्त्व ही तो बुद्धि की प्रतिष्ठा है।

स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जाने के पीछे रहता हुआ भी कर्म्म क्षोभ का कारण नहीं बनता। कर्म्माभाव नैष्कर्म्य का द्योतक नहीं है, अपि तु, स्थितप्रज्ञता नैष्कर्म्य की द्योतिका है। कर्म्म होगा, उसका फल मिलेगा, परन्तु बन्धन न होगा, यही सूचित करने के लिए–"**अश्नुते**"–कहा है। यदि व्याख्याताओं के मतानुसार नैष्कर्म्य का अर्थ विशुद्ध ज्ञान ही होता तो भगवान् कभी **"अश्नुते"** न कहते। भोग ही तो अशन है। जब कर्म्म न रहेगा तो भोग किसका होगा? फलतः भगवान् के कथन का यही अभिप्राय सिद्ध होता है कि बुद्धियोग द्वारा कृत कर्म्म आत्मोदय के कारण बनते हुए फल का भी सम्बन्ध करा देते हैं एवं लेप को भी हटा देते हैं। इस प्रकार अभ्युपगमवादमूला सांख्यनिष्ठा के पक्ष में भी यह भली-

१ शत०ब्रा० १०।४।१।५। २ शत०ब्रा० ६।१।१।८।

भाँति सिद्ध हो जाता है कि कर्म्मावरणनिवृत्यर्थं नैष्कर्म्य कर्म्म का अनुष्ठान करना अत्यावश्यक है। बुद्धियोगलक्षण कर्म्म की नैष्कर्म्यरूपा यही पहली अनिवार्यता है। इस दृष्टि से कर्म्म कभी नहीं छोडा जा सकता। ऐसे कर्म्म को छोडना अपनी आत्मसंस्था का विनाश करवाना है।

—१—

२–कर्म्मसंन्यासवैय्यर्थ्यात्–कर्म्मणः–अनिवार्यत्वम्।

२–"न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"[1]

कर्म्म का अनारम्भ एवं **कर्म्म का संन्यास** (परित्याग) दोनों वाक्य यद्यपि समान दृष्टि से देखने पर समानार्थक से प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर–"**न कर्म्मणामनारम्भात्**"–"**न च संन्यसनात्**"–दोनों का पृथगधिकरणत्व सिद्ध हो जाता है। भविष्य के लिए कर्म्म का परित्याग कर देना कर्म्म का अनारम्भ है एवं संचित कर्म्मों का (संस्काररूप कर्म्मों का) परित्याग कर देना कर्म्म का संन्यास है। अर्द्ध श्लोक का आगामीकर्म्मनिरोध से सम्बन्ध है एवं उत्तरार्द्ध का संचितकर्म्मनिरोध के साथ सम्बन्ध है। कर्म्मानारम्भ से आगामी कर्म्मलेप रुक जाएगा, परन्तु संचित कर्म्मलेप की निवृत्ति न होगी। फलतः नैष्कर्म्य का उदय न होगा एवं कर्म्मसंन्यास (संचितकर्म्म-संन्यास) से संचित कर्म्मों की निवृत्ति हो जाएगी परन्तु प्रकृति से सञ्चालित, अतएव अवश्यंभावी आगामी कर्म्मलेप की निवृत्ति न होगी। फलतः संन्यास से भी सिद्धि न होगी। इस प्रकार कर्म्मानारम्भ एवं कर्म्मसंन्यास दोनों ही व्यर्थ चले जाएँगे। ऐसी स्थिति में करना क्या चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में भगवान् संकेतविधया ज्ञानकर्म्ममय बुद्धियोग को ही अर्जुन के सामने रख रहे हैं। कर्म्म का आरम्भ करो, कामना का संन्यास करो। कामना–संन्यास से ज्ञान का उदय होगा, कर्म्मपरिग्रह से कर्म्मविभूति सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार ज्ञानकर्म्म दोनों के समन्वय से ज्ञानकर्म्ममय आत्मा समत्वभाव में परिणत होता हुआ स्थितप्रज्ञतालक्षणा पराशान्ति में प्रतिष्ठित हो जाएगा। **श्री अभिनवगुप्ताचार्य** ने इसी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है, जैसा कि निम्नलिखित व्याख्यावचन से स्पष्ट है—

"न कर्म्मणामिति। नहि कश्चिदिति। ज्ञानं कर्म्मणा रहितं न भवति, कर्म्म च कौशलोपेतं ज्ञानरहितं न भवति, इत्येकमेव वस्तु ज्ञानकर्म्मणी तथा चोक्तं—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
ज्ञानक्रियाविनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा॥[2]

---

१ गीता ३।४। २ गीता ३।४। अभिनवगुप्ताचार्यभाष्य।

तस्माज्ज्ञानान्तर्वति कर्म्म अपरिहार्यम् । यतः परवश एव कायवाङ्मनसां परिस्पन्दात्मकत्वादवश्यं किंचित् करोति"–इति ।।[1]

इस प्रकार कर्म्मानारम्भ, कर्म्मसंन्यास दोनों को अनुपयुक्त मानते हुए भगवान् दोनों के स्थान में कर्म्मारम्भ, कामसंन्यास का विधान करते हुए ज्ञानकर्म्मोभयलक्षण बुद्धियोग की ही उत्कृष्टता सूचित कर रहे हैं ।

प्रकारान्तर से समन्वय कीजिए । बिना कर्म्म न संचित संस्कारों की निवृत्ति हो सकती, न आगामी कर्म्मधारा को रोका जा सकता है । इस निश्चय के अनुसार एक व्यक्ति ने निष्कामकर्म्म का आरम्भ किया । कालान्तर में इस निष्कामकर्म्म के प्रभाव से नैष्कर्म्यभाव का उदय हो गया । संचितकर्म्मलेप भी हट गया एवं चित्तशुद्धि की कृपा से आगामी कर्म्म-लेप की भी संभावना न रही । इस प्रकार युञ्जान-योगी युक्तयोगी बन गया । अब इस योगी के लिए कोई कर्म्म शेष नहीं रह जाता है । इस सिद्धावस्था पर पहुँच कर सिद्धि के प्रभाव से योगी यह कह सकता है कि अब मुझे किसी कर्म्म की आवश्यकता नहीं है । इस समय–"**संन्यासनिष्ठा**"–ही मेरा मुख्य लक्ष्य है, संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । भगवान् की दृष्टि में ऐसी संन्यासनिष्ठा का भी कोई मूल्य नहीं है । यही व्यक्त करने के लिए भगवान् को आगे जा कर–"**न च संन्यसनादेव**"–यह कहना पड़ा है । भगवान् का अभिप्राय यही है कि कामनाविरहित, प्रारम्भभाव शून्य अतएव असंग, आरम्भलक्षण निष्कामकर्म्म तुम्हारी दृष्टि में नैष्कर्म्यभावप्राप्ति का कारण है । ऐसे कर्म्म से कभी आत्मा के अपकार की संभावना नहीं है । हम यह मानते हैं कि निष्कामकर्म्म की कृपा से नैष्कर्म्यभाव प्राप्त हो जाने के अनन्तर तुम्हें सांख्यलक्षण संन्यासनिष्ठा प्राप्त हो जाएगी, हम यह भी मानते हैं कि उस समय यदि तुम निष्काम कर्म्म न भी करोगे, तब भी तुम्हारी हानि न होगी । यह सब कुछ होने पर भी हमें कहना पड़ेगा कि उक्त संन्यासनिष्ठा पर पहुँचने के पीछे भी निष्कामकर्म्म का परित्याग कर देना तुम्हारी सिद्धि का विघातक ही बन जाएगा । उदाहरण के लिए यों समझो कि किसी मकान में चोरों का निरन्तर आक्रमण होता रहता है । तुमने एक महाबलवान् शस्त्रधारी द्वारपाल नियत कर दिया । द्वारपाल ने चोरों का सर्वनाश कर दिया । सदा के लिए तुम्हारा घर निष्कण्टक बन गया । अब यदि तुम उस रक्षक द्वारपाल को हटा दो तब भी कोई विशेष हानि नहीं है । परन्तु तुम्हें स्मरण रहना चाहिए कि चोरों की उत्पत्ति बन्द नहीं है । नये चोर आक्रमण कर सकते हैं । इस भावी आक्रमण से बचने के लिए तुम्हें फिर उसी रक्षक का आश्रय ढूंढना पड़ेगा । अन्यथा घर छोड़ कर तुम्हें भागना पड़ेगा । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझो ।

निष्कामकर्म्म तुम्हारा रक्षक है । उसी की कृपा से तुमने सिद्धि प्राप्त की है । यह ठीक है कि सिद्धावस्था प्राप्त कर लेने के पीछे तुम्हें भय की आशङ्का नहीं रहती । परन्तु स्मरण रहे, इसका नाम संसार है । तुम सब कुछ छोड-छाड कर अरण्य में चले जाओगे, तब भी सांसारिक आक्रमण तुम्हारा

---

१ गीता ३।५ अभिनवगुप्ताचार्यभाष्य ।

पीछा न छोडेंगे। उनसे बचने के लिए सिद्धदशा में संन्यासावस्था में वही निष्कामकर्म्म तुम्हारी रक्षा करेगा। थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि **वामदेव-अपान्तरतमा-शुक** आदि की तरह तुम्हारे ऊपर संसार की कोई वासना आक्रमण नहीं कर सकती। फिर भी एक हेतु ऐसा बच जाता है, जिसके सामने तुम्हारी सिद्धि डगमगा जाती है। वह हेतु है लोकसंग्रह। जब निष्कामकर्म्म तुम्हारा प्रत्येकदशा में कल्याण ही करने वाला है, साथ ही में तुम्हारे इस कर्म्म से संसार का उपकार होता है तो फिर इसे छोडने में ही तुमने कौन-सी सिद्धि समझ रक्खी है? लोकयात्रा का संचालन, संसार का महा उपकार, तुम्हारी सदा रक्षा, बन्धन का ऐकान्तिक अभाव इन सब उदात्त लक्ष्यों के रहते हुए भी तुमने कर्म्मसंन्यास को जो सिद्धि का हेतु मान रक्खा है, वह हमारी दृष्टि में सिद्धि ही नहीं है। सिद्धि मिलेगी अवश्य, परन्तु समत्वरूपा सिद्धि न मिलेगी। संसार में रहते हुए विचलित न होना, कर्म्म करते हुए संन्यासी बने रहना ही तो सम्यक्-सिद्धि है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए भगवान् ने–"**समधिगच्छति**"–कहा है। नैष्कर्म्यनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर भी कर्म्म करते रहने से अनेक लाभ हैं एवं कर्म्मसंन्यास में कोई लाभ नहीं है। यही नहीं, भगवान् की दृष्टि में तो कर्म्मसंन्यास बन भी नहीं सकता। ऐसी दशा में बलात्कार से इसे रोकना हानिप्रद और है। यही कर्म्म की दूसरी अनिवार्यता है। कर्म्मसंन्यासवैय्यर्थ्य ही इस दूसरी अनिवार्यता का मूल है।

——२——

३–कर्म्मपरित्यागाशक्यत्वात्–कर्म्मणः–अनिवार्यत्वम्।

३–"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्"[1]

भगवान् क्रम-क्रम से अर्जुन का ध्यान कर्म्म की अनिवार्यता की ओर आकर्षित कर रहे हैं। पूर्व में भगवान् ने नैष्कर्म्यभावसंपादकत्वेन एवं कर्म्मसंन्यासवैय्यर्थ्येन कर्म्म की अनिवार्यता सूचित की है। अब भगवान् कर्म्म की नित्यता को सामने रखते हुए कर्म्मपरित्याग को असंभव बतलाने का उपक्रम कर रहे हैं। केवल ज्ञान को ही सर्वेसर्वा मानने वाले उन ज्ञानाभिमानियों को कर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाते हुए भगवान् आज यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान को आत्मा से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता, एवमेव कर्म्म भी आत्मा से पृथक् नहीं किया जा सकता। लोकसंग्राहक भगवान् ने अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए–"**न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति**"–यह कह दिया है। परन्तु भगवान् की दृष्टि में तो कर्म्मसंन्यास किसी भी दशा में सम्भव ही नहीं है। अपने इसी कर्म्मावेश को व्यक्त करते हुए भगवान् ने बडे आवेश के साथ–"**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्**"–यह कहते हुए कर्म्म की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए कर्म्मसंन्यास को सिद्धि के लिए सर्वथा असमर्थ घोषित किया है।

---

१ गीता ३।५।

क्षणिकविज्ञानवादी नास्तिक सत्ता का–"**अर्थक्रियाकारित्वं सत्**"–यह लक्षण किया करते हैं। कर्म्म-दृष्टि से हम भी उक्त लक्षण का अभिनन्दन करते हैं। क्रिया कूटगुण है, गुणकूट द्रव्य है। द्रव्य के लिए ही **घटोऽस्ति, पटोऽस्ति,**–इत्यादिरूप से सत्ता का अभिनय किया जाता है। विश्व में अनन्त पदार्थ हैं। समष्टिरूप से आप विश्व के दर्शन कीजिए, अथवा व्यष्टिरूप से प्रत्येक पदार्थ पर दृष्टि डालिए, सर्वत्र आप को परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध दो भावों के दर्शन होंगे। प्रत्येक पदार्थ आप को प्रतिक्षण परिवर्त्तित दिखलाई देगा। साथ ही में क्षणिक परिवर्त्तन के साथ-साथ सत्तालक्षण अपरिवर्त्तनीयभाव के भी दर्शन होंगे। यह ठीक है कि क्षणिक परिवर्त्तन का आप चर्म्म-चक्षुओं से दर्शन नहीं कर सकते। जब वह परिवर्त्तन बुद्धिक्लृप्त अभेद से स्थूलरूप में आ जाता है, तभी उसे आप देखने में समर्थ होते हैं। परन्तु यह सिद्ध विषय है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसी क्षणिक विज्ञानात्मक क्षणिक कर्म्म का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखांगुलि।
कौमारं रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते ॥१॥[1]

कौमाराद्यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात्।
अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते ॥२॥[2]

कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे-क्षणे।
वर्त्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात्तु न विभाव्यते ॥३॥[3]

न चैषामत्ययो राजन् लक्ष्यते प्रभवो न च।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः ॥४॥[4]

उक्त क्षणिक परिवर्त्तन के कारण ही प्रत्येक पदार्थ पूर्व-पूर्व अवस्था को छोडता हुआ, नवीन-नवीन अवस्थाएँ धारण करता जाता है। इसी परिवर्त्तन के कारण वस्तु पुरानी बनती हुई एक दिन पञ्चत्वभाव को प्राप्त हो जाती है। ध्यान रहे, यह परिवर्त्तन जड़-चेतन सब में समानरूप से अपनी व्याप्ति रखता है। इन्द्रियभाव-इन्द्रियाभावमूलक चेतन-जड़-व्यवहार आत्मव्याप्ति का निरोधक नहीं बन सकता। चूंकि आत्मा सब में हैं, अतएव तन्मूलक क्षणिककर्म्म का प्रवाह सब में समानरूप से व्याप्त है। देखिए न! एक कुर्सी आरम्भ में कितनी मजबूत होती है। सौ-दोसौ वर्ष पीछे उसी की यह दशा हो जाती है कि जहाँ से आप उसका स्पर्श करते हैं, वहीं से वह खिर जाती है। उसी अवस्था में कुर्सी के लिए आपके मुख से–"**अरे! अब इस में "दम" न रहा**"–ये अक्षर निकल पड़ते हैं। यह दम वैज्ञानिकों का प्राणतत्त्व

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३२०।११८। २ महाभारत शा० मो० पर्व ३२०।११९।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३२०।१२०। ४ महाभारत शा० मो० पर्व ३२०।१२१।

ही है। सर्वत्र समानरूप से परिवर्त्तनाधिष्ठाता इस प्राण का साम्राज्य है। कुर्सी किसी नियत समय पर इस दशा को प्राप्त हो गई, यह नहीं माना जा सकता। आपको यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्त्तन से ही यह परिवर्त्तन हुआ है। इसीलिए व्यासदेव ने दीपार्चि का दृष्टान्त दिया है। दीप-लौ स्थिर, अपरिवर्त्तनीय प्रतीत होती है। परन्तु एक वैज्ञानिक यह तत्काल स्वीकार कर लेगा कि दीपार्चि का प्रतिक्षण विस्रंसन हो रहा है। इस क्षणिक परिवर्त्तन के साथ-साथ ही हम अपरिवर्त्तनीयभाव के भी दर्शन कर रहे हैं। कुर्सी प्रतिक्षण में बदल रही है, परन्तु कुर्सी जो कल थी, वही आज भी है। कुर्सी बदलती है, कुर्सी का अस्तित्व नहीं बदलता। कालान्तर में यह अस्तित्व यदि कुर्सी को छोड देगा तो कुर्सी के अभाव पर उसका अनुग्रह हो जाएगा। इसी अपरिवर्त्तनीय अस्तिभाव के कारण–"**स एवायं स एवायं**"–यह प्रत्यभिज्ञा होती है। विनाश के साथ ही अविनाश के भी दर्शन हो रहे हैं। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टिरूप से कार्यरूप विश्व में हम सर्वथा विरुद्ध दो भावों के दर्शन कर रहे हैं। "**कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते**"–इस सिद्धान्त के अनुसार कारण के स्वरूप धर्म्मरूप गुण ही कार्य के स्वरूप-निर्म्मापक बनते हैं। "**अविनाशि तु तद्विद्धि येनसर्वमिदं ततम्**" के अनुसार कारणभूत अविनाशी ब्रह्म से ही इस नश्वर संसार का वितान हुआ है। चूँकि कार्य में दो धर्म्म उपलब्ध होते हैं, अतएव हमें उस कारण ब्रह्म में भी दो धर्म्मों का समावेश मानना पड़ता है। कारण-ब्रह्म के वे ही दोनों धर्म्म क्रमशः रस-बल नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दोनों की समष्टि के लिए गीता ने–"**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**"–यह कहा है।

रस अमृत है, यह अक्षर है, नित्य शान्त है, विद्यारूप है। बल मृत्यु है, यह क्षणिक है, नित्य अशान्त है, कर्म्मरूप है, दोनों परस्पर में ओतप्रोत हैं। न इसको कभी बल से पृथक् किया जा सकता, न बल को कभी रस से पृथक् किया जा सकता। क्षणिकत्व, अक्षणत्व दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म्म हैं। "**क्षण**" ही बल का प्रातिस्विकस्वरूप है। इसी क्षणबल के समावेश से कर्म्मात्मा क्षणमात्र भी चुप नहीं रह सकता। प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म्म करता ही रहता है। सर्वथा चुप बैठ जाना भी एक कर्म्म ही है। यही नहीं, आपका ज्ञान भी इस क्षणबल के आवरण से आगे जा कर कर्म्मरूप में परिणत हो कर ही विकसित होता है। क्रियते जहाँ कर्म्म है, वहाँ ज्ञायते-जानाति भी कर्म्म ही है। क्या कोई भी सांख्य-वादी इस शाश्वतकर्म्मप्रवाह को रोक सकता है? असम्भव। सांख्यनिष्ठ हो, अथवा योगनिष्ठ। चेतन हो अथवा जड़, सर्वत्र क्षणबल का साम्राज्य है। फलतः कोई भी कभी भी क्षणमात्र भी बिना कर्म्म के प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में कर्म्मसंन्यास का डिण्डिमघोष कोई मूल्य नहीं रखता। ध्यान रहे, भगवान् ने–"**कश्चित्**" शब्द का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण विश्व के संग्रह के लिए ही भगवान् को "**कश्चित्**" कहना पड़ा है। इससे भगवान् यही सूचित करना चाहते हैं कि ज्ञानाभिमानी कर्म्म के संन्यास का जो दावा करते हैं, वह उस व्यापक नित्य कर्म्म के सामने सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाता है। एक पत्थर भी, जिसे कि हम कर्म्मशून्य समझते हैं, क्षणिकपरिवर्त्तनरूप कर्म्म से आक्रान्त है। जब अनि-न्द्रियपदार्थ भी बिना कर्म्म के क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकते, तो उन सेन्द्रियसंन्यासियों की कथा ही क्या है? वहाँ तो इन्द्रियभाव के कारण कर्म्म और भी अधिकमात्रा में विकसित रहता है। भगवान् के इस व्यापक कर्म्मवाद के सिद्धान्त से अपने कल्पित कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का उच्छेद होता

देख कर व्याख्याता सहसा घबड़ा जाते हैं। जब उन्हें और कोई मार्ग नहीं मिलता तो उक्त श्लोक के "**कश्चित्**" के आगे–"**अज्ञ इति वाक्यशेषः**"–का सम्बन्ध जोड़ते हैं। व्याख्याता का अभिप्राय यही है कि जिनमें अभी ज्ञान का उदय नहीं है, ऐसे मूर्ख ही प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित होते हुए कर्म्म करते रहते हैं। भगवान् ने "**कश्चित्**" शब्द से मूर्खों का ही ग्रहण किया है। इस प्रकार इनके मतानुसार श्लोक का–"**प्रकृति से सञ्चालित मूर्ख कभी चुप नहीं रह सकता। वह प्रत्येक दशा में अवश्य कुछ न कुछ करता ही रहता है**"। हम उन भाष्यभक्त विद्वानों से पूछते हैं कि क्या वे इस अर्थ पर अणुमात्र भी निष्ठा कर सकते हैं? फिर तो भगवान् भी मूर्ख हैं। कारण उन्होंने भी–"**आत्ममायया**"–"**प्रकृतेर्वशात्**"–कहते हुए प्रकृति के वश में पड़ कर अपने आपको कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त बतलाया है। अस्तु–"**कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः**"–के अनुसार इस अप्रियसंवाद को हम अधिक विस्तार नहीं देना चाहते। प्रकृत में उक्त श्लोकार्द्ध से हमें केवल यही कहना है कि सम्पूर्ण विश्व एवं विश्व में रहने वाले जड़-चेतनात्मक पदार्थों में से कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो क्षणमात्र भी चुप रहे। सब में प्रतिक्षण कर्म्म होता ही रहता है। इस परिस्थिति को सामने रखते हुए भगवान् उन कर्म्म-संन्यासियों को यही कहना चाहते हैं कि कर्म्म आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है। क्षणिकबल की कृपा से तुम बिना कर्म्म के तो रहोगे नहीं। फिर क्यों नहीं सांख्यनिष्ठा के उदय होने के पीछे भी तुम निष्कामकर्म्म का अनुष्ठान करते? बस, यही कर्म्म की तीसरी अनिवार्यता है। कर्म्मपरित्यागाशक्यत्व ही इस अनिवार्यता का मूल है।

—३—

४–प्रकृतिसिद्धत्वात्–कर्म्मणः–अनिवार्यत्वम्

४–"कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"।[1]

हमारी अध्यात्मसंस्था **प्रकृति-पुरुष** भेद से दो भागों में विभक्त है। यहाँ पुरुष से **अव्ययपुरुष** अभिप्रेत है एवं प्रकृति से अक्षरतत्त्व अभिप्रेत है। साथ ही में–"**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**"–के अनुसार दोनों नित्य हैं एवं दोनों अविनाभूत हैं। क्षरात्मक कर्म्मप्रपञ्च पर दोनों का समान अनुग्रह रहता है। पूर्व में **रस-बल** नाम के जिन दो तत्त्वों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन दोनों से क्रमशः पुरुष एवं प्रकृतिभाव का उदय होता है। पुरुष बलगर्भित रसमूर्त्ति है, ज्ञानमय है। प्रकृति रसगर्भिता है, कर्म्ममयी है। ज्ञानमय पुरुषानुग्रह से क्षरप्रपञ्च ज्ञानमय बनता है, कर्म्ममयी प्रकृति के अनुग्रह से क्षरप्रपञ्च कर्म्ममय बनता है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के अनुग्रह से क्षरात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्म्मात्मा ज्ञान-कर्म्ममय बना रहता है। एक चमत्कार और है। कर्म्मात्मा के ऊपर यद्यपि ज्ञान-कर्म्ममय-पुरुष-प्रकृतिभाव–दोनों का समान अनुग्रह है, फिर भी पुरुष का ज्ञानानुग्रह प्रकृति द्वारा ही कर्म्मात्मा पर होता है, अतएव वह ज्ञान भी कर्म्मरूप में परिणत हो कर ही कर्म्मात्मा का अनुग्राहक बनता है। इसीलिए (ज्ञान के अनुग्रह रहने पर भी) उभयधर्म्मावच्छिन्न इस क्षरात्मा को ज्ञानकर्म्मात्मा न कह कर केवल "**कर्म्मात्मा**" शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है। कारण इसका एकमात्र है–प्रकृति का प्राधान्य।

१ गीता ३।५।

कर्म्मात्मरूप जीवात्मा की, किं वा सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति का मूलद्वार अव्यक्त नाम की कर्म्ममयी अक्षर प्रकृति ही है, जैसा कि–**"मया (अव्ययेन) ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना"–"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"–"अव्यक्तादीनि भूतानि"–"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति"–"तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते"–इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्"**–इत्यादि स्मार्त्त-श्रौत वचनों से स्पष्ट है। प्रकृति ही विश्वसृष्टि में प्रधान है, अतएव इसे 'प्रधाना' कहा जाता है। स्वयं अव्ययपुरुष निर्लेप है, सृष्टिमर्यादा से बहिर्भूत है। परन्तु प्रकृति बलात् से अव्यय के ज्ञान को अपने गर्भ में रख कर अव्यय-कर्म्म से कर्म्ममयी बन कर सृष्टिसञ्चालिका बन रही है। कर्म्म इस प्रकृति का स्वभावसिद्ध धर्म्म है। इधर प्रकृति ही कर्म्मात्मा की मूलप्रतिष्ठा है। जब तक प्रकृति है, तभी तक देही देह में प्रतिष्ठित है, एवं जब तक देही देह में प्रतिष्ठित है, तब तक उसे प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों में विवश हो कर प्रवृत्त रहना पड़ता है। बहिरंगप्रकृतिरूपा विकृति से सम्बन्ध रखने वाले वैकारिक कर्म्म अवश्य ही आप छोड सकते हैं। कारण, बहिरंग प्रकृति आप के वश में आ सकती है। परन्तु प्राकृतिक कर्म्मों का परित्याग आप नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। कारण इसका यही है कि यह प्रकृति आपके वश में नहीं है, आप प्रकृति के वश में हैं। वह आपको जैसे जिधर ले जाना चाहेगी, आपको वैसे ही उधर ही जाना पडेगा। अरे! आप क्या चीज हैं, आपके जन्मदाता सूर्य्य-चन्द्र-वायु आदि तक उसके शासन से नित्य शासित हैं। सब प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों में आरुढ़ हैं। प्रकृतिदण्ड के भय से सब स्वस्वकर्म्म में प्रवृत्त हैं। यह ठीक है कि पुरुषप्रजापति के नेदिष्ठ होने के कारण तुम थोड़े समय के लिए प्रकृति पर भी विजय प्राप्त करने का अभिमान कर लोगे, परन्तु अन्ततोगत्वा प्रकृति ही विजय प्राप्त करेगी–स्वभावसिद्धनियत कर्म्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव है। त्याग के लिए जो प्रयास होगा वह व्यर्थ जाएगा, साथ ही में सत्त्वोदय के स्थान में तमोगुण का सञ्चार हो जाएगा। देखिए! भगवान् इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥१॥[1]

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥२॥[2]

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥३॥[3]

मलमूत्र का परित्याग, सायंप्रातः भोजन, गमन, विषयदर्शन आदि प्राकृतिक कर्म्म हैं। तुम इनको रोक नहीं सकते। रोकोगे तो अपना नाश करा बैठोगे। साथ ही में कितने ही प्राकृतिक कर्म्म तो ऐसे हैं, जिनका तुम्हें पता भी नहीं रहता एवं यथासमय वे अपने आप हो जाते हैं। छिक्का, जृम्भा, श्वास-

१ गीता १८।७। २ गीता १८।६०। ३ गीता १८।६१।

प्रश्वास आदि प्राकृतिक कर्म्मों का तुम्हारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं है। **"केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तो ऽस्मि तथा करोमि"**–के अनुसार हृदयतन्त्रायी ईश्वर ही इन सब प्राकृतिक कर्म्मों का सञ्चालक है। अपने नियतसमय पर तुम्हारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए ये प्राकृतिक कर्म्म न-न करते भी हो ही पड़ेंगे। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व की कर्म्मानिवार्यता से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्म **परिस्पन्दनरूप** है। सब प्राकृतिक कर्म्मों का थोड़ी देर के लिए आप निरोध भी कर सकते हैं। परन्तु क्षणबललक्षण प्राणपरिस्पन्दनरूप कर्म्मानिवार्यता के साथ भोजन-शयन-गमनादि प्राकृतिक कर्म्मों का सम्बन्ध है। **"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः"**[1]-इस सिद्धान्त के अनुसार तुम लोकसंग्राहक कर्म्म छोड सकते हो। परन्तु शारीरक कर्म्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव है। न केवल शारीरक ही, अपितु, प्रकृति ने तुम्हारे आत्मा में **ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण** चारों में से जिस तत्त्व की प्रधानता रक्खी है तदनुसार तुम्हें अवश्य ही स्वधर्म्मरूप प्राकृतिक कर्म्म में प्रवृत्त रहना पड़ेगा। यही कर्म्म की चौथी अनिवार्यता है। प्रकृति ही इस अनिवार्यता का बीज है।

—४—

५–अनासक्तकर्म्मयोगवैशेष्यात्-कर्म्मणः–अनिवार्यत्वम्

५–कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥१॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥२॥[2]

पूर्व में बतलाया गया है कि प्रकृतिसिद्धि कर्म्म रोके नहीं जा सकते। विवश हो कर उनमें प्रवृत्त रहना पड़ता है। तुमने यदि मूर्खतावश इन्हें रोकने का प्रयास किया तो सर्वनाश है। इस पर वादी यदि अपनी यह सफाई पेश करें कि प्राकृतिककर्म्मों को हम कहाँ छोड़ते हैं? हम तो सांसारिक कर्म्मों को छोडने के पक्षपाती हैं। इन्द्रियों का दमन कर तुष्टिमूलक स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना ही हमारा मुख्य लक्ष्य है। इसीलिए हमने हमारी कर्म्मेन्द्रियों का संयम कर लिया है। हम जानते हैं कि लौकिक विषय मन को पसन्द हैं, परन्तु हम बलात्कार से इन्द्रियों के द्वारा मन का दमन कर रहे हैं। भगवान् कहते हैं–भूलते हो। इन्द्रियों को तुम ने वश में कर लिया। परन्तु मन आज भी तुम्हारे वश में नहीं है। जब तक तुम्हारी–**"विषय मन को प्रिय थे परन्तु हमने छोड दिए"**–यह भावना है, तब तक तुम्हारा मन कभी संयत नहीं कहा जा सकता। तुमने कर्म्मेन्द्रियों को वश में किया है। ज्ञानेन्द्रियाँ अभी जागृत हैं। फलतः ज्ञानेन्द्रियाधिष्ठात्री 'मन की प्रज्ञा' भी अभी जागृत है। तुम्हारा यह त्याग, त्याग नहीं, मिथ्याचार है ढोंग है। इस वृत्ति से तुम अपनी आत्मा की भी वञ्चना कर रहे हो, साथ ही में संसार को भी धोखा दे रहे हो।

---

१ गीता १८।११।   २ गीता ३।६-७।

एक व्यक्ति कहता है–अजी ! सिनेमा बहुत अच्छा है, परन्तु हमने तो देखना ही छोड दिया है । इस प्रकार इसने चक्षुरिन्द्रिय का संयम तो कर लिया, परन्तु–"**सिनेमा अच्छा है**"–यह मानसचर्वणा अभी तक बनी हुई है । विश्वास रक्खो, सिनेमा देखना उतना बुरा नहीं है, जितनी कि घर बैठे उसकी चर्वणा करना घातक है । कारण स्पष्ट है । बुरे कर्म्म का तो निरोध सरलता से किया जा सकता है, परन्तु बुरे विचार नहीं बदले जा सकते । अविद्या (कर्म्म) युक्त मनुष्य तो अन्धकार में है ही, परन्तु वे और भी अधिक अन्धकार में हैं, जिनके कि विचार दूषित हैं–"**ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः**" । कदाचित् कोई यह कहे कि–"**सिनेमा बहुत बुरा है–इसलिए हमने देखना छोड दिया है**"–तो उसका यह कथन भी उसके त्याग का उपोद्बलक नहीं बन सकता । कारण स्पष्ट है । अच्छापना जिस प्रकार राग-मूलक बनता हुआ आसक्ति का कारण है, एवमेव बुरापना भी द्वेषमूलक बनता हुआ आसक्ति का ही कारण है । दोनों में ही द्वन्द्वभाव का समावेश है एवं इस द्वन्द्वपरित्याग का एकमात्र उपाय वैराग्य-बुद्धियोग ही है ।

भगवान् इस बात के बडे ही शत्रु हैं कि इन्द्रियों का तो निरोध कर लिया एवं मन से तत्तद्-विषयों के साथ रागद्वेष किया जाए । ऐसे ही ढोंगी को "**जटाभिस्तापसः**" कह कर निन्दनीय बतलाया गया है । गृहस्थ छोड कर तन पर खाक रमा ली, चिमटा हाथ में ले लिए, जटा बढाली, पूरे साधु बन गए । इन से कोई पूछता है कि बाबाजी यह क्या ? तो यह लम्बे-चौडे शब्दों में अपनी साधुता की डींग मारते हुए कहने लगते हैं, बच्चा संसार झूँठा है । सब माया है । हमें संसार के सुख-साधनों का क्या प्रयोजन ? बाहर से तो यह ढोंग है, भीतर जो होता है, उसका कुफल आर्यजाति के सामने है । कर्म्मशून्य, कहने भर को त्यागी इन फक्कडों से आज देश में जो अनाचार फैला हुआ है, उसके स्मरण-से हृत्-कम्प हो जाता है । दरिद्रदेश के दरिद्र गृहस्थियों की गाढी कमाई का बहुत सा भाग इनकी वासना के भेंट चढ़ जाता है । कहने को बैरागी, नग्न, वीतराग । राजाओं से भी अधिक वैभव, कामुकता, इन्द्रिय-लोलुपता । देश की परतन्त्रता में इन नरराक्षसों का भी बहुत बडा भाग है । सचमुच जीवनयात्रा का बडा सीधा रास्ता है । जरा कपड़े रंग लीजिए, अन्धी जनता आपके चरणों में झुकने लगेगी । करताल ले कर हरेराम-हरेराम करने लग जाइए, भक्तराज बन जाएँगे । वर्णाश्रमधर्म्मविरोधी इन भक्तों ने एवं फक्कडों ने सचमुच देश की वास्तविक समुन्नति का सर्वनाश कर रक्खा है । इन्हीं पुरुष-पुंगवों को–"**मिथ्याचार**"–की उपाधि से समलङ्कृत करते हुए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! बलात्कार से यदि तैंने इन्द्रियों का निरोध भी कर लिया तो इससे तेरा क्या कल्याण होगा ? मन में यदि इन्द्रियार्थों का संस्मरण बना हुआ है तो यह त्याग व्यर्थ है । व्यर्थ ही नहीं, पतन का कारण है । त्याग बन नहीं सकता, इन्द्रियों के प्राकृतिक धर्म्म रोके नहीं जा सकते । रोकने का प्रयास व्यर्थ है । इन्द्रियों को रोक लेगा तो मन स्मरण करता रहेगा । ऐसी दशा में तुझे अवश्य ही कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिए । निष्कामबुद्धया इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त रहता हुआ, लोकसंग्रहदृष्टि से प्राकृतिक कर्म्मों में प्रवृत्त रह–यही सच्चा संन्यास है । कामनामात्र का परित्याग ही इस संन्यास का मूलमन्त्र है । कामना-परित्याग से वही कर्म्म अनासक्त कर्म्मयोग बन जाता है । यह कर्म्मयोग–"**योगः कर्म्मसु कौशलम्**"–के अनुसार बुद्धियोग है । यह योग चूँकि कर्म्मयोग में विशिष्ट मार्ग है, इस में स्वार्थ-परमार्थ दोनों निहित

हैं, इसलिए इसे छोडना कोई बुद्धिमानी नहीं है। यही कर्म्म की पाँचवीं अनिवार्यता है। अनासक्त कर्म्मयोग की विशिष्टता ही इस अनिवार्यता का बीज है। इसी बीज का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अर्जुन ! जो पुरुषश्रेष्ठ मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का संयम कर, तद्द्वारा संयत कर्म्मेन्द्रियों से कर्म्मयोग का अनुष्ठान करता है, वह कभी कर्म्मसंस्कार से लिप्त नहीं होता। वही विशिष्ट पुरुष माना जाता है। यही इस अनासक्तकर्म्म का कौशल (चातुरी) है। कर्म्म है और कर्म्मजनित संस्कारबन्धन नहीं है, यह क्या कम कौशल है ? अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि–"ऐसे कर्म्मानुष्ठान से कभी आत्मज्ञान की हानि नहीं है। कारण, इस कर्म्म में मन अपनी उत्थाप्याकांक्षा से काम न ले कर यन्त्रपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली उत्थिताकांक्षा से कर्म्मेन्द्रियों द्वारा कर्म्म में प्रवृत्त रहता है जैसा कि पूर्व की उपनिषदों में यह विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि उत्थिताकांशासहकृतकर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। यही मार्ग भगवान् को अत्यन्तप्रिय है। इसीलिए जहाँ शेष ६ कर्म्मानिवार्यताओं का भगवान् ने अर्द्ध-अर्द्ध श्लोकों से दिग्दर्शन कराया है, वहाँ इस अनासक्तकर्म्मयोगलक्षण कर्म्मानिवार्य्यता का दो श्लोकों में विश्लेषण किया है। निष्कर्ष यही हुआ कि प्रकृति पर दृष्टि रखते हुए जो मनुष्य अनासक्त-कर्म्म-मार्ग में प्रवृत्त रहता है, वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता। ऐसे कर्म्मयोगी से ही विश्व का विकास रहता है। गृहस्थाश्रम का यथाशास्त्र सञ्चालन करता हुआ भी यह योगी उन वीतरागों से कहीं श्रेष्ठ है, जो कि इन्द्रिय-संयम करते हुए भी मन की उत्तालतरंगों में इतस्ततः प्रवाहित रहते हैं। विषयों से हटे हुए भी ऐसे विमूढ विषयानुरक्त हैं एवं बुद्धियोगी विषयों में रत रहते हुए भी असक्त हैं।

—५—

६–कर्म्मारम्भकर्मसंन्यासयोः कर्म्मारम्भश्रेष्ठचात्-कर्म्मणः-अनिवार्यत्वम्।

६–"नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः"[1]

पूर्व की पाँच अनिवार्यता से भगवान् ने यह सिद्ध कर दिया कि कर्म्म छोडना सर्वथा बुरा है, व्यर्थ है। पहले तो प्रकृतिसिद्ध कर्म्म छोडे ही नहीं जा सकते। यदि कोई विमूढात्मा भोगप्रयुक्त हठयोग का आश्रय लेता भी है तो उसकी स्थिति एक अचेतन पाषाणवत् हो जाती है। यही उन सांख्यों की कर्म्म-त्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा का प्रतिफल है। इस प्रकार एक ओर तो यह क्लेशमयमार्ग है। दूसरी ओर आत्मप्रसादलक्षण कर्म्ममार्ग है। दोनों में कौनसा पक्ष उत्तम है ? इसका निर्णय नीरक्षीरविवेकी विद्वानों की बुद्धि पर अवलम्बित है। एकपक्ष में आरम्भ में कायक्लेश लोकस्थिति का उच्छेद, आत्मप्रसाद का अभाव, स्वार्थपरायणता आदि अनेक दोष हैं। दूसरे पक्ष में आरम्भ में क्लेशाभाव, लोकस्थितिसंरक्षण, आत्मप्रसाद, स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थसिद्धि आदि अनेक गुण हैं। ऐसी दशा में "कर्म्मारम्भ

---

१ गीता ३।८।

एवं कर्म्मसंन्यास दोनों में कर्म्मसंन्यासलक्षण अकर्म्म की अपेक्षा कर्म्म ही श्रेयःपन्थाः है। इसलिए तुझे कर्म्म ही करना चाहिए"–भगवान् का यही निर्णय हमारे लिए सर्वमान्य ठहरता है।

"नियतं कुरु कर्म्म त्वम्"–इस आदेश में बडा ही उच्च सिद्धान्त छिपा हुआ है। आबालवृद्ध के मुख पर आज गीता का माहात्म्य सुप्रतिष्ठित है। और तो और, मन्वादिधर्म्मशास्त्रों की उपेक्षा करने वाले देश के राष्ट्रीय नेता भी गीता के प्रति अपनी पूर्ण भक्ति प्रकट कर रहे हैं। गीता के कर्म्मसिद्धान्त से आकर्षित हो कर ही आज उनकी जिह्वा पर–"भगवान् ने अर्जुन को कर्म्म करने का ही आदेश दिया हैं। हमें कर्म्म ही करना चाहिए"–यह अक्षरधारा नृत्य कर रही है। हम भी उनकी इस विचारधारा का हृदय से अभिनन्दन करते हैं। यदि केवल गीता पर ही उनकी अनन्यनिष्ठा है तो फिर वे अन्य शास्त्रों को माने, अथवा न माने, कोई क्षति नहीं हैं। परन्तु उनसे हम यह विनम्र निवेदन करने की धृष्टता अवश्य करेंगे कि गीता के कर्म्मसिद्धान्त के साथ-साथ–**"नियतं कुरु कर्म्म त्वं"**–इस वाक्य पर दृष्टि रखते हुए ही कर्म्ममार्ग में कदम बढ़ाएँ। स्वयं भगवान् को यह सन्देह था कि कहीं कर्म्मादेश से भारत-संतान अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त होती हुई कल्याण के स्थान में अकल्याण न करा बैठे। अपनी इसी आशङ्का को दूर करने के लिए भगवान् को कर्म्म के साथ **"नियत"** शब्द का सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। वर्णाश्रमविहित आधिकारिक शास्त्रीयकर्म्म का ही नाम नियत कर्म्म है। प्रकृति का ही नाम नियति है। नियति से सम्बन्ध रखने वाला प्राकृतिक कर्म्म ही नियतकर्म्म है। यही गीता में **"स्वधर्म्म"** नाम से सम्बोधित हुआ है, जैसा कि–**"स्वधर्मे निधनं श्रेयः"**–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रायः सभी व्याख्याताओं ने नियत शब्द से शास्त्रीय कर्म्मों का ही ग्रहण किया है। राष्ट्र के उज्वल हीरे स्वर्गीय बालगङ्गाधर तिलक ने भी उन राष्ट्रवादियों के सामने नियत शब्द का–**"अपने धर्म्म के अनुसार"**–यही अर्थ रक्खा है। भगवान् चातुर्वर्ण्यधर्म्म के महापक्षपाती हैं। उन्हें अभिमान है कि मैने ही लोककल्याण के लिए चातुर्वर्ण्यधर्म्म की व्यवस्था की है। उसी धर्म्मभावना को व्यक्त करते हुए भगवान् कर्म्मारम्भ-कर्म्मसंन्यास दोनों में से कर्म्मारम्भ को श्रेष्ठ बतलाते हुए अर्जुन से कह रहे हैं कि तुझे नियत कर्म्म ही करना चाहिए। अर्जुन क्षत्रियवर्ण में प्रतिष्ठित था। उसका नियत कर्म्म युद्ध ही हो सकता था एवं उसी के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। फलतः प्रकरण-संगति की दृष्टि से भी नियत शब्द का–**"स्वस्ववर्णोचितशास्त्रीयकर्म्म"**–यह निष्कर्ष निकलता है। जब प्रकृति के आघात से कर्म्म करना आवश्यक ही है तो फिर नियत कर्म्म ही क्यों न किया जाए? सांख्यनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर भी उस नियत उत्तम कर्म्म को क्यों छोडा जाए, जिसके छोडने में कोई लाभ नहीं। परिग्रह में अनेक लाभ हैं। यही कर्म्म की छठी अनिवार्यता है। कर्म्मारम्भश्रेष्ठता ही इस अनिवार्यता का बीज है।

—६—

७–जीवनयात्रानिर्वाहकत्वात्–कर्म्मणः–अनिवार्यत्वम्।

७–"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः।"[१]

१ गीता ३।८।

इस अनिवार्यता का मूल बीज–"**न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः**"–यही वाक्य है। भगवान् कहते हैं, हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि शास्त्रीय कर्म्म सर्वथा बुरे हैं। शास्त्रीय कर्म्म विधि-निषेधात्मक बनते हुए हमें अशान्तिमूलक द्वन्द्वभाव में ही डालने वाले हैं। अच्छा! छोड़ दो शास्त्रीय कर्म्मों को। परन्तु सावधान!! अब किसी कर्म्म का नाम न लेना। कारण, ऐसा कोई भी कर्म्म नहीं है, जिसमें थोड़ा बहुत दोष न हो–"**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**"। क्या तुम ऐसा कर सकोगे? असंभव। शरीर में रहते शरीरचिन्तानिवृत्ति के लिए तुम कर्म्म न करो, यह असंभव है। यदि नहीं करोगे तो मर जाओगे। हाथ-पैर हिलाने से तुम उदरपोषण करने में समर्थ हो सकोगे। इस आवश्यकतम लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए तुम जिस कर्म्म का आरम्भ करोगे, उसमें अवश्य ही दोष रहेगा। अर्जुन! आज तू हम से यह कह रहा है कि पाप के कारण मैं युद्ध-कर्म्म न करूँगा। हम पूछते हैं, तू अपने जीवन की रक्षा क्या कर्म्म छोड़ कर कर सकेगा? अब तक केवल उदरपोषण के लिए तुझे छिप कर विराटराज की सेवा करनी पड़ी, भिक्षा-माँगनी पड़ी। जो न करना था, किया। उस समय तुझे यह ध्यान न आया कि राम-राम छिः-छिः मैं क्षत्रिय हो कर भीख कैसे मांगूगा? उस समय तेरी शास्त्र-निष्ठा, पुण्यपाप का वह विमर्श कहाँ चला गया था? केवल शरीरयात्रा की सिद्धि के लिए ही तो तैंने उस समय पाप-पथ का अनुगमन किया था। जब तेरे सामने स्वधर्म्म का प्रश्न आता है तो तू कहता है पाप लगेगा, मैं तो भीख ही माँग लूँगा। मानों क्षत्रिय के लिए भीख माँगना महापुण्य है एवं युद्ध में विजयश्री प्राप्त कर बाहुबल से सम्पत्ति प्राप्त करना महापाप है। यदि तू आज इस स्वधर्म्म को छोड़ देता तो भविष्य में अतीत की तरह तुझे शरीरयात्रानिर्वाह के लिए अवश्य ही कोई न कोई कर्म्म करना पड़ेगा। क्या वह पाप न होगा? सोच! खूब सोच!! बिना कर्म्म के इस कर्म्ममय विश्व में क्षणमात्र भी तेरी स्थिति न रहेगी। जब तुझे कुछ करना ही पड़ेगा, तो ऐसी दशा में निष्काम-बुद्धि से उस शास्त्रीय युद्ध-कर्म्म का अनुष्ठान ही क्यों नहीं करता, जिसके अनुगमन से शरीरयात्रा की भी चिन्ता न रहे, संसार में अशान्ति फैलाने वाले आततायी भी न रहें, साथ ही में आत्मप्रसाद भी हो। बस, यही कर्म्म की सातवीं अनिवार्यता है। शरीरयात्रासिद्धि ही इस अनिवार्यता का बीज है।

——७——

इस प्रकार सांख्ययोगनिष्ठा के वास्तविक कर्म्म को न समझने वाले अतएव भ्रान्त बने हुए अर्जुन के सामने भगवान् ने संशोधित योगनिष्ठा का स्वरूप रखते हुए सात तरह से कर्म्म की अनिवार्यता सिद्ध की है।

।। इति द्वितीयोपदेशः ।।

२

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

३–यज्ञार्थकर्म्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वात्-अवश्यकर्त्तव्यत्वम् ।
यज्ञकर्म्मणोऽवश्यकर्त्तव्यत्वात् परित्यागानौचित्यम् ।

३

तृतीयायामुपनिषदि—

तृतीयोपदेशः

३—यज्ञार्थकर्म्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वात्-अवश्यकर्त्तव्यत्वम्। यज्ञकर्म्मणोऽवश्यकर्त्तव्यत्वात् परित्यागानौचित्यम्।

——०——

१—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता ३।९)

२—सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गीता ३।१०)

३—देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (गीता ३।११)

४—इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ (गीता ३।१२)

५—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (गीता ३।१३)

——०——

१—अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥ (गीता २।१४)

२—कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ (गीता ३।१५)

३–एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥[1]

[मूलानुवाद] "यज्ञार्थ कर्म्म के अतिरिक्त जितने भी कर्म्म हैं, उन्हीं में यह लोक कर्म्म-बन्धन में बंधता है, इसलिए हे अर्जुन । आसक्तिरहित बन कर तू यज्ञार्थ कर्म्म कर । आदि युग में यज्ञद्वारा प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न कर (हमें) यह आदेश दिया है कि (हे मनुष्य !) तुम इस यज्ञ से समृद्ध बन जाओ । तुम्हारे लिए यह यज्ञ अभिलषित फलों का दोहन करने वाला (प्रदाता) है । इस यज्ञ (आहुति) से तुम देवताओं को तृप्त करो, (तृप्त) देवता तुम्हें तृप्त करें । परस्पर के इस सद्भाव से तुम परमकल्याण के भागी बनोगे । यज्ञ से तृप्त बने हुए देवता तुम्हारे लिए अबन्धन भोगप्रदान करेंगे । उन देवताओं से प्राप्त भोगों को उनके समर्पित न कर जो मनुष्य खाता है, वह चोर ही है । यज्ञोच्छिष्ट खाने वाले पुरुष सारे पापों से छूट जाते हैं । जो अपने लिए ही अन्नपरिपाक करते हैं, वे (विशुद्ध) पाप ही खाते हैं । अन्न से भूत (प्रजा) उत्पन्न होते हैं । पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है । यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है, कर्म्म से यज्ञ उत्पन्न होता है । ब्रह्म (वेद) से कर्म्म उत्पन्न होता है । अक्षर से ब्रह्म का विकास होता है । इसलिए सर्वव्यापक (अव्यय) ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है । इस प्रकार संचालित इस यज्ञ चक्र का जो मनुष्य अनुगमन नहीं करता, उसका जीवन पापमय है एवं हे पार्थ ! इन्द्रियसुखों में लिप्त ऐसे पुरुष का जीवन भी व्यर्थ है" ।

—o—

[भाष्य] द्वितीय उपनिषत् के द्वितीयोपदेश के उपक्रम में वेद एवं वेद द्वारा संचालित यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में हमने जो क्षोभ प्रकट किया था, साथ ही में जिसकी शान्ति के लिए हमने बडे आवेश के साथ–**"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"**[2]–इस वचन का अर्थ एकमात्र फलाशात्यागलक्षण निस्त्रैगुण्यभाव बतलाया था, बुद्धियोगी पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि आज स्वयं भगवान् ही अपने श्रीमुख से यज्ञकर्म्म की अबन्धनता बतलाते हुए, उसके द्वारा हमारी वेदनिष्ठा एवं वेदप्रतिष्ठ-यज्ञनिष्ठा को सर्वात्मना सुरक्षित रखते हुए तदुपदेश से हमारा क्षोभ शान्त कर रहे हैं । इस प्रकरण के एवं उस प्रकरण के समन्वय के लिए हमें सम्पूर्ण गीताशास्त्र को बुद्धियोगपरक ही मानना पड़ेगा । ऐसी दशा में जिन व्याख्याताओं ने उस प्रकरण को कर्म्मत्यागलक्षणसंन्यासपरक लगाते हुए वेद के यज्ञप्रतिपादक ब्राह्मणभाग को सर्वथा अनुपादेय एवं उपनिषद्भाग को उपादेय बतलाया है, उनकी इस व्याख्या का कोई मूल्य नहीं रहता । एक व्याख्याता को छोड कर शेष सब व्याख्याताओं ने–**"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"**–इस उपनिषत्सिद्धान्त को चरितार्थ करते हुए गीता के उस प्रकरण की वेद के ब्राह्मणभाग की भाँति निन्दापरक ही व्याख्या की है । उनकी दृष्टि में कर्म्मकाण्डप्रतिपादक वेदभाग ही त्रिगुणभाव का जनक है, जैसा कि निम्नलिखित व्याख्यावचन से स्पष्ट है—

---

१ गीता ३।१६ । २ गीता २।४५ ।

"त्रैगुण्येति । त्रैगुण्यविषयास्त्रैगुण्यं संसारो विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते वेदास्त्रैगुण्यविषयाः । त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" ।[1]

इसी पक्ष का समर्थन करते हुए श्री नीलकण्ठ ने अपने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि इस छोटे से जीवन में सम्पूर्ण वेद का अनुष्ठान तो हो नहीं सकता । इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि जिस प्रकार एक तृषार्त्त व्यक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल की अपेक्षा न रखता हुआ घटमात्रजल से अपनी तृषा शान्त कर लेता है, एवमेव वह भी अगाधवेद-समुद्र के घटमात्रावच्छिन्न जलस्थानीय उपनिषत् के द्वारा ही अपना कल्याण कर ले । केवल उपनिषत् ही आत्मकल्याण के लिए पर्य्याप्त है । इसके लिए ब्राह्मण-भागादि में व्यर्थ श्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं है । निम्नलिखित पङ्क्तियों से नीलकण्ठ अपने यही भाव व्यक्त कर रहे हैं—

"सर्वतः संप्लुतोदके महति उदपाने जलाशये पुरुषस्य यावानर्थो यावत् स्नानपानादिकं प्रयोजनं घटमात्रजलनिर्वर्त्यं भवति, न कृत्स्नजलाशयव्यय-निर्वर्त्यं, तावानेवार्थो विजानतो व्युत्पन्नचित्तस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोः सर्वेषु वेदेषु वेदैकदेशोपनिषच्छ्रवणमात्रनिर्वर्त्यो भवति, न कृत्स्नवेदार्थानुष्ठानं स्वसिद्धयर्थमपेक्षते । एकेन जन्मना कृत्स्नवेदार्थानुष्ठानासम्भवात् । ऐहिकेन, जन्मान्तरीयेण वा जपादिना चित्तशुद्धौ सत्यामुपनिषच्छ्रवणान्निस्त्रैगुण्यता सम्भवतीति भावः" ।[2]

कहना नहीं होगा कि भावुक विद्वानों की दृष्टि में नीलकण्ठ के उक्तभाव का कोई मूल्य नहीं हैं, जैसा कि–"यावानर्थ उदपाने०"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । अब एक ऐसे भावुक व्याख्याता के भी विचार हम अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहते हैं, जिसने मूलग्रन्थ को आधार मान कर पूर्वापरसगति का पूर्ण ध्यान रखते हुए गीता के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने में आंशिक रूप से सफलता प्राप्त की है । वे व्याख्याता वही काश्मीराभिजन श्री अभिनवगुप्ताचार्य हैं, जिनका कि पूर्वप्रकरणों में कई बार नामोल्लेख किया जा चुका है । वे इस सम्बन्ध में कहते हैं—

"गुण्येन कारणेन विशेषेण चिन्वन्ति बध्नन्तीति बन्धकाः । यस्मात् सुख-दुःखमोहबुद्धया कर्म्माणि वैदिकानि क्रियमाणानि बन्धकानि, अतस्त्रैगुण्यं कामरूपं त्याज्यम् । यदि तु वेददूषणपरमेतदभविष्यत्, प्रकृतं युद्धकरणं व्यघटिष्यत, वेदादन्यस्य स्वधर्म्मनिश्चायकत्वाभावात् । येषां तु फलाभिलाषो

---

२ गीता २।४५ शांकर भाष्य । ३ गीता २।४६ नीलकण्ठव्याख्या ।

विगलितस्तेषां न वेदा बन्धकाः, यतो वेदाः परं तेषां सम्यग् ज्ञानोपयोगिनः । अतएवाह यावानर्थेति । यस्य धर्म्ममात्रे ज्ञाने च प्राधान्यं परिमितादपि वेदभाषितात् कार्यं, अतश्च कर्म्मण्यस्तु इति कर्म्ममात्रे त्वं व्यापृतो भव, न तु कर्म्मफलेषु । ननु कर्म्मणि जाते नान्तरीयकतयैव फलमापततीति । मैवम् । तत्र हि यदि त्वं फलकामनाकालुष्यव्याप्तो भवसि, तदा कर्म्मणां फलं प्रति हेतुत्वम् । यदप्रार्थ्यमानं फलं ज्ञानं नानिच्छोस्तदिति । ++++ । योगबुद्धियुक्ताः कर्म्मणां फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धं त्यजन्ति, ब्रह्मसत्तामवाप्नुवन्ति" ।[1]

उक्त कथन से आचार्य का अभिप्राय यही है कि पुनः-पुनः अनुध्यान से ही वैदिककर्म्म बन्धन के कारण बनते हैं, जैसा कि-"**ध्यायतो विषयान् पुंसः०**"-इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । सुखदुःखादिद्वन्द्वों के आक्रमण से मोहकलिला बनी हुई जो मलिन बुद्धि है, उसे प्रधान बनाते हुए जब वैदिक कर्म्म किए जाते हैं तो वे अवश्य ही द्वन्द्वमूलक त्रिगुणभाव की वजह से त्रैगुण्यभाव के कारण बन जाते हैं । वैदिककर्म्म त्रिगुणभाव के कारण नहीं हैं, अपि तु, हमारी फलकामना उन कर्म्मों को त्रिगुणभाव का प्रवर्त्तक बना देती है । कामना ही त्रैगुण्य की प्रतिष्ठा है, अतः कामरूप इस त्रैगुण्य को छोड कर ही वेदोक्त कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिए । यदि प्रकृत प्रकरण वेद, किं वा तदुक्तकर्म्म को ही दूषित बतलाने वाला मान लिया जाएगा तो फिर प्रकृत युद्धकर्म्म का आदेश करना किसी भी दशा में उचित न कहा जाएगा । कारण, स्वधर्म्म का निश्चय सिवाय वेद के और कोई नहीं कर सकता । जिन की फलकांक्षणा विलीन हो गई है, उनके लिए वैदिक कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते । क्यों कि वेद तो उन योगमार्गप्रवर्त्तकों के लिए महाज्ञानोदय के साधक हैं । फलकामना ही कर्म्मफलबन्धन का कारण है । यही त्रैगुण्य है । कामनापरित्याग से बन्धन होता नहीं, ब्रह्मसत्ता का उदय हो जाता है" ।

"नैष्कर्म्योदय के लिए अबन्धन यज्ञार्थकर्म्म का अनुष्ठान कितना आवश्यक है" ? इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं हैं । प्रकृत तृतीय उपनिषत् अथ से इति तक इसी निष्काम कर्म्म की उपादेयता सिद्ध कर रही है । पूर्व के उपदेश में बतलाया गया है कि कर्म्मानिवार्य्यता के तो सात कारण हैं एवं अबन्धन कर्म्म चार भागों में विभक्त हैं । इन चारों में यज्ञकर्म्म भगवान् की दृष्टि में विशेष महत्त्व की वस्तु है । इसीलिए चारों में सर्वप्रथम तृतीयोपदेश से भगवान् ने उसी का निरूपण किया है । पहले यज्ञकर्म्मात्मक-**ब्राह्मण** भाग है, पीछे **उपनिषत्** है । सर्वान्त में ब्राह्मण-उपनिषत् का समन्वय कराने वाला **गीताशास्त्र** हमारे सामने आता है । पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि ईश्वरीय प्रेरणा से हमने इसी क्रम से तीनों का विवरण-लेख बद्ध किया है । यज्ञकर्म्म के स्पष्टीकरण में **शतपथ-ब्राह्मण** अद्वितीयग्रन्थ है । सबसे पहले इसी ब्राह्मण पर विज्ञानभाष्य लिखा गया है । इसके अनन्तर १० उपनिषदों पर विज्ञानभाष्य लिखा गया है । सर्वान्त में क्रमप्राप्त गीताभाष्य पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है । हम

१ गीता २।४५-४७, ५१ अभिनवगुप्ताचार्यव्याख्या ।

कह चुके हैं कि वेद एवं तत्सिद्ध यज्ञकर्म्म पर हमारी बडी निष्ठा है। यज्ञ क्या पदार्थ है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए तो जिज्ञासुओं को स्वतन्त्र रूप से यज्ञकर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों का ही आनुपूर्वी से अध्ययन करना चाहिए। इस लघुकाय यज्ञप्रकरण में यज्ञ के सब रहस्यार्थों का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। तथापि अपनी मौलिकनिष्ठा के नाते संक्षेप से हम यहाँ भी यथासम्भव यज्ञविद्या के विश्लेषण का प्रयास करेंगे। सचमुच भगवान् की भाषा बडी अपूर्व है। स्थितप्रज्ञ भगवान् की भाषा अतिसंक्षिप्त होती हुई भी सम्पूर्णयज्ञरहस्य को अपने उदर में मुक्त किए हुए है। प्रकृत प्रकरण से आठ श्लोकों में भगवान् ने सम्पूर्ण यज्ञविद्या का अथ से इति तक विश्लेषण कर डाला है। इस प्रकरण में आठ ही श्लोक रक्खे गए हैं, यह भी एक चमत्कार है। इसी प्रकरण में यह चमत्कार नहीं है, अपि तु, गीता के प्रत्येक प्रकरण में रहने वाली श्लोक-संख्या में कोई न कोई चमत्कार अवश्य है। परन्तु आवश्यकता से अधिक विस्तार हो जाने के भय से हमने उन संख्याविज्ञानों को पाठकों की बुद्धि पर ही छोड दिया है। भाष्यभूमिका में केवल सम्पूर्णग्रन्थ के ७०० श्लोकों का विज्ञान बतलाया गया है।[1] निदर्शन के लिए केवल प्रकृत उपनिषत् से सम्बन्ध रखने वाले संख्या-विज्ञान का थोड़े से शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है। इसी के आधार पर अन्य स्थलों के संख्या-विज्ञानों का अपने बुद्धिवैभव द्वारा विज्ञपाठकों को अनुमान लगा लेना चाहिए।

पाठकों को विदित है कि प्रकृत उपनिषत् का हमने–"**बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्**"। (बुद्धियोगी को किसी भी अवस्था में कर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए) यह नाम रक्खा है। इस उपनिषत् (विज्ञानसिद्धान्त) का स्पष्टीकरण करने के लिए भगवान् ने सात उपदेश दिए हैं। प्रत्येक उपदेश में क्रमशः १(३), २(५), ३(८),४(३$\frac{१}{२}$), ५(६$\frac{१}{२}$), ६(४), ७(२) इतने श्लोक हैं। सम्भूय पूरी उपनिषत् में ३३ श्लोक हैं। इन्हीं का प्रकृत में क्रमशः विचार करना है। पहले समष्टिरूप से सप्तोपदेशप्रतिपादिका ३३ संख्या का विचार कीजिए। ३३ श्लोकों से भगवान् ने बुद्धियोगी को यह आदेश दिया है कि तुझे कर्म्मपरित्याग नहीं करना चाहिए। विज्ञपाठकों को यह विदित है कि जिस प्रकार मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है, एवमेव बुद्धि की प्रतिष्ठा सूर्य्य माना गया है। "**धियो योनः प्रचोदयात्**"–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य ही हमारी बुद्धि का स्वरूपसमर्थक है। '**चित्रं देवानामुदगात्**"–के अनुसार सूर्य्य देवघन है। अग्निमय देवता–"**त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः**"–के अनुसार संख्या में ३३ हैं। इन्हीं को यज्ञिय देवता कहा जाता है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

इति स्तुतासो असथा रिशादसो।
ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः॥[2]

सौर अग्नि ही ३३ अवस्थाओं में परिणत हो कर देवसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता हुआ कर्म्माध्यक्ष (कारयिता-क्षेत्रज्ञ) बनता है। इस प्रकार त्रयस्त्रिंशद् देवतामय सूर्य्य की अंशभूता बुद्धि इन ३३ देवप्राणों से युक्त हो कर ही बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होती है। यदि बुद्धि मन के अधिकार में चली

१ द्रष्टव्य-स्व० शास्त्री जी कृत गीताविज्ञानभाष्यभूमिका बहिरङ्ग परीक्षा।

२ ऋग्वेद मं० ८।३०।२।

जाती है तो इस पर ६६ असुर आक्रमण कर लेते हैं। असुर आप्यप्राणप्रधान हैं। मन सौम्य होने से आपोमयभृगु का सजातीय है। इसकी प्रधानता में अवश्य ही बुद्धि की दैवीसंपत् का तिरोभाव एवं आसुरी सम्पत् का उदय हो जाता है। ऐसी अयुक्त बुद्धि, बुद्धि ही नहीं है, जैसा कि–**"नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य०"** –इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यही बुद्धियोगनिष्ठा की विच्युति है। ३३ में बुद्धियोग है, दैवी सम्पत् है, ३३ की समष्टि व्यवसायात्मिका एक बुद्धि, किं वा बुद्धियोग है। ६६ में बुद्धियोगाभाव है, आसुरी-सम्पत् का साम्राज्य है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए भगवान् ने व्यवसायलक्षण अतएव एकत्वलक्षण एक बुद्धियोगोपनिषत् में दैवीसम्पत्सूचक ३३ श्लोकों का समावेश किया है।

—०—

उक्त ३३ श्लोक सात उपदेशों में विभक्त हैं। **"यः सप्तरश्मिस्तुविष्मान्"**–इस ऋङ्मन्त्रवर्णन के अनुसार सूर्य्यदेवता सप्तरश्मियों से युक्त माने जाते हैं। जैसा कि आगे जा कर आत्मगतिविज्ञान में स्पष्ट होने वाला है। सप्तरश्मियुक्त सूर्य्य ही तो बुद्धि की प्रतिष्ठा है। फलतः इस में भी सप्तरश्मिभाव का विकास सिद्ध हो जाता है। यही बुद्धियोग का प्रातिस्विक स्वरूप है। बुद्धि के, किं वा बुद्धियोग के इसी सप्तरश्मिभाव को व्यक्त करने के लिए ३३ श्लोकों को सात उपदेशों में विभक्त किया है।

—०—

प्रथमोपदेश में तीन श्लोक हैं। आरम्भ के दो श्लोकों में अर्जुन की जिज्ञासा है, उत्तर के एक श्लोक में भगवान् का समाधान है। लोक में सांख्य एवं योग नाम की दो निष्ठाएँ प्रचलित हैं। इन दो को पृथक्-पृथक् दो निष्ठाएँ समझना ही अर्जुन के व्यामोह का मूल है। इन दो निष्ठाओं को व्यक्त करने के लिए ही प्रश्न को दो श्लोकों से व्यक्त किया है। भगवान् ने दोनों निष्ठाओं का एकीकरण करते हुए एकत्वलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा का ही उपदेश दिया है। इस एकत्वलक्षण बुद्धियोग को व्यक्त करने के लिए ही उत्तर को एक श्लोक में व्यक्त किया है। इस प्रकार प्रथमोपदेश के तीन श्लोक **सांख्य-योग-बुद्धियोग** इन तीन निष्ठाओं के ही सूचक बने हुए हैं।

—०—

द्वितीय उपदेश में सात तरह से कर्म्म की अनिवार्यता बतलाई गई है। स्वाभाविक कर्म्म को ही **"यज्ञकर्म्म"** कहा जाता है। **"पाङ्क्तो वै यज्ञः"**–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह स्वाभाविक यज्ञकर्म्म पाँच भागों में विभक्त हैं। किं वा पञ्चावयव हैं। अनिवार्य कर्म्म की इसी पाङ्क्तता (पञ्चावयवता) को सूचित करने के लिए दूसरे उपदेश में ५ श्लोक रक्खे गए हैं।

—०—

तीसरा उपदेश यज्ञकर्म्म की अबन्धनता बतलाता है। 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः" के अनुसार अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है। अग्नि ही यज्ञ की योनि है। यह अग्नि देवता गायत्री छन्द से छन्दित होने के कारण अष्टावयव माना जाता है। "अष्टाक्षरा वै गायत्री"–"गायत्रमग्नेश्छन्दः"–गायत्रोऽग्निः" –इत्यादि निगमों के अनुसार यज्ञकर्म्माधिष्ठाता अग्नि अष्टावयव है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए यज्ञकर्म्मप्रतिपादक तृतीय उपदेश में आठ श्लोक रक्खे गए हैं।

——०——

चतुर्थ उपदेश लोकस्थितिनिर्वाहक विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त-दत्त नाम के तीन सत्कर्म्मों की ही अबन्धनता बतलाता है। इन तीनों के साथ-साथ यज्ञ-तप-दान नाम के तीन विद्यासापेक्ष प्रवृत्ति-कर्म्म भी युक्त हैं। इनका पाँचवें उपदेश में निरूपण होने वाला है। तात्पर्य्य कहने का यह है कि पहले तीनों का व्यष्टिरूप से चौथे उपदेश में भगवान् ने निरूपण किया है एवं पाँचवें उपदेश में छहों का समष्टिरूप से निरूपण किया है। इस रहस्य को सूचित करने के लिए, साथ ही में चतुर्थ एवं पञ्चम प्रकरण के विषय परस्पर में सम्बद्ध हैं, यह सूचित करने के लिए ३½ श्लोक चतुर्थ उपदेश में रक्खे हैं एवं ६½ श्लोक पञ्चम उपदेश में रक्खे हैं।

——०——

छठा उपदेश स्वभावसिद्धसहजकर्म्मों की अबन्धनता बतलाता है। नियतकर्म्म को ही स्वभावसिद्ध-कर्म्म कहा जाता है एवं चातुर्वर्ण्यमूलक कर्म्मों को ही नियतकर्म्म कहा जाता है, जैसा कि पूर्वोपदेश में– "नियतं कुरु कर्म्म त्वम्"–इत्यादि व्याख्यान में कहा जा चुका है। ये नियतकर्म्म चार वर्णों के कारण ब्राह्मणकर्म्म, क्षत्रियकर्म्म, वैश्यकर्म्म, शूद्रकर्म्म भेद से चार भागों में विभक्त है। चारों वर्ण अपने-अपने नियत, स्वभावसिद्धकर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए कभी बन्धन में ही नहीं पड़ते। इसी वर्णचतुष्टयी को व्यक्त करने के लिए छठे उपदेश में चार श्लोक रक्खे गए हैं।

——०——

सातवाँ उपदेश विभिन्न सांख्य-योगनिष्ठाओं को एकनिष्ठापरक बतला रहा है। दो निष्ठाओं का भगवदभिमत एक बुद्धियोगनिष्ठा में समन्वय करना ही सप्तमोपदेश का मुख्य लक्ष्य है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए इसमें दो श्लोक रक्खे गए हैं।

——०——

१–बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषत्

१–प्रथमोपदेशः——→३ (सांख्य[1]–योग[2]–बुद्धियोगाः[3])

२–द्वितीयोपदेशः——→५ (कर्म्मणः पाङ्क्तता)

३–तृतीयोपदेशः——→८ (यज्ञाधिष्ठाता-अग्निर्गायत्रः)

४–चतुर्थोपदेशः——→३½ (इष्टापूर्त्तदत्तकर्म्माणि)

↑
०———————————०
↓

५–पञ्चमोपदेशः-→६½ (इष्टापूर्त्तदत्तयज्ञतपोदानकर्म्माणि)

६ षष्ठोपदेशः——→४ (चातुर्वर्ण्यमूलानि चत्वारि नियतकर्म्माणि)

७–सप्तमोपदेशः——→२ (सांख्य[१]-योग[२]निष्ठयोरेकत्र समन्वयः)

३२ (३३–दैवीसंपत्)

——०——

उक्त सांख्य-विज्ञान के सम्बन्ध में हमने थोड़ा सा मिथ्याभाषण किया है । श्लोक हैं ३२, बतलाए हैं ३३ । इस मिथ्याभाव से बतलाना यह है कि प्रकृति में दैवीसम्पत् के अधिष्ठाता देवता यद्यपि ३३ ही हैं, परन्तु तुम उन्हें ३२ बनाकर ही कर्म्म में प्रवृत्त हो सकते हो । **"न्यूनाद्ध प्रजाः प्रजायन्ते"**–इस सिद्धान्त के अनुसार न्यूनभाव में वैज्ञानिकों ने पूर्णता मानी है एवं पूर्णता में न्यूनता मानी है । पूर्णसंख्या अधूरी अर्थात् अपूर्ण है, क्योंकि वहाँ आगे धाराक्रम नहीं चलता एवं अपूर्णसंख्या पूर्ण है, क्योंकि वहाँ आगे बढ़ने के लिए विकास रहता है । यदि ३३ पर विश्राम कर लिया जाएगा तो आगे विकास न होगा । एक को कम करना आवश्यक है । इससे ३३ संख्यात्मक छन्द पर कोई आघात न होगा, जैसा कि–**"न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्"**–इत्यादि से स्पष्ट है । इसी विकास को सूचित करने के लिए व्यासदेव ने भगवान् की उपनिषत् के ३३ के स्थान पर ३२ श्लोकों को ही हमारे सामने रक्खा है । ३२ उद्देश्य हैं, ३३ वीं वहीं बुद्धियोगोपनिषत् है ।

——०——

यों तो भारतश्री के ह्रास का उपक्रम महाभारत से कुछ शताब्दियों पीछे ही हो गया था, परन्तु सर्वनाश का मूल उपक्रम तो उस युग में हुआ, जिसमें भारतीय प्रजा ने श्री शङ्कराचार्य के गुप्त उद्देश्य को भुलाते हुए कर्म्मसंन्यास का पारायण आरम्भ करते हुए–**"कलौ वेदान्तिनः सर्वे"**–इस मूलमन्त्र का अविष्कार किया । जिस यज्ञकर्म्म से इस लोक में अभ्युदय एवं परलोक में निःश्रेयसभाव की प्राप्ति होती है, वह यज्ञकाण्ड सर्वथा विलुप्त हो गया । **"संसार मिथ्या है, यज्ञ, यागादि क्रियाविशेषबहुल हैं"**–इस प्रकार की घोषणाओं ने कर्म्मठ आर्य जाति के वैभव का सर्वनाश कर डाला । इसके अनन्तर जो भी साम्प्रदायिक आचार्य हुए, उन्होंने वैदिक कर्म्मकाण्ड पर विशेष लक्ष्य न देकर भक्तिनिष्ठा को ही सर्वोच्च आसन प्रदान किया । इस प्रकार आर्यजाति, जिसने किसी युग में यज्ञविद्या के बल से सम्पूर्ण

विश्व पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा था, कालान्तर में उस वैभव से सर्वथा वञ्चित हो गई। भूमा की उपासना करने वाली आर्यजाति अल्पता के गह्वर में निमग्न हो गई। यह भी हमारा नहीं, यह भी हम से पृथक् है, हमें यह भी नहीं करना चाहिए, इस प्रकार भूमाभाव का तिरस्कार करते-करते आज यह जाति इस दशा में पहुँच गई है कि इसे उदर-पोषण के लिए भी दूसरों का आश्रय ढूंढना पड़ रहा है। संसार के किसी कर्म्म में इसकी यत्किञ्चित् भी प्रगति नहीं है। अतीत तक अनुधावन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। थोड़े से शब्दों में वर्त्तमान की गाथा गा लेना ही पर्य्याप्त होगा।

वैधयज्ञ के प्राकृतिक (मौलिक) स्वरूप से सर्वथा परा-परावत् आज का विद्वत्समाज केवल ज्ञानचर्चा में ही अपना परम पुरुषार्थ समझ रहा है। ज्ञान भी कैसा? खण्ड-खण्ड में परिणत अतएव विज्ञानभाषा के अनुसार मृत्युलक्षण। पाठक यह जानते हैं कि वेद के सम्यक् परिज्ञान के लिए ऋषियों ने **शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द** इन ६ अङ्गों का विधान किया है। द्विजाति के लिए वेदाध्ययन आवश्यक कर्त्तव्य है, उधर बिना उक्त छहों अङ्गों का ज्ञान प्राप्त किए अङ्गीभूत वेदशास्त्र का परिज्ञान सर्वथा असम्भव है। इसी आधार पर वेदवित् महर्षियों का—"**ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**"—यह आदेश सुप्रतिष्ठित है। उधर **शारीरकदर्शन, मीमांसादर्शन, शाण्डिल्यदर्शन** ये तीनों दर्शन क्रमशः मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के ब्राह्मण-भाग की मीमांसा करते हैं। फलतः ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् इन तीनों ब्राह्मणभागों के सम्यक् परिज्ञान के लिए तीनों दर्शनों का सम्यक् परिज्ञान भी आवश्यक है। सांख्य, वैशेषिक दोनों दर्शन क्रमशः वेदोक्त अक्षर, क्षर तत्त्वों की मीमांसा करने के कारण विजिज्ञास्य हैं। इन आस्तिक दर्शनों के सम्यक् परिज्ञान के लिए ६ नास्तिक दर्शनों का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक हो जाता है। वेदोक्त ऐतिह्य घटनाओं एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रमों के सम्यक् परिज्ञान के लिए इतिहास (महाभारत), पुराण का उपबृंहण भी आवश्यक है। श्रुति के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य धर्म्म प्रतिष्ठित है। इसका उपबृंहण मन्वादिस्मार्त्तग्रन्थों एवं पारस्करादि सूत्रग्रन्थों में हुआ है। फलतः वैदिकधर्म्म के सम्यक् परिज्ञान के लिए इन सबका जानना भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार उस वेदसम्राट् के सम्यक्रूप से स्वरूपपरिचय प्राप्त करने के लिए सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। बिना सर्वशास्त्रसंग्रह के कोई भी अपने आपको विद्वान् नहीं कह सकता। अवश्य ही दूरदर्शी ऋषियों की शिक्षाप्रणाली आज की भ्रष्ट शिक्षाप्रणाली से सर्वथा विभिन्न थी। तभी तो २५ वर्ष के ब्रह्मचर्याश्रम में द्विजाति सर्वशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर समावर्त्तन संस्कार का अधिकारी बन जाता था। ऐसा विद्वान् न केवल पारलौकिक तत्त्वों का ही अधिष्ठाता माना जाता था, किन्तु वेदवित् अतएव सर्ववित् ऐसे विद्वान् के लिए ऐहलौकिक कर्म्मों के सञ्चालन में कोई कठिनता न थी। भगवान् मनु ने तो यह तक कहा है कि सेनापति, अमात्यपद, आदि राज्याङ्गों का सञ्चालन भी जिस उत्तमता से एक वेदवित् विद्वान् कर सकता हैं, अन्य नहीं कर सकता। संसार में पारलौकिक एवं ऐहलौकिक ऐसा कौन सा कर्म्म है, जिसे भारतीय वेदवित् ब्राह्मण न कर सकता हो? ऐसा कौन सा काम है, जिस की शिक्षा द्विजाति न दे सकता हो? न केवल भारतवासी ही, अपि तु, समस्त विश्व के मनुष्य इन वेदवित् भारतीय ब्राह्मणों से अपना-अपना चरित्र सीख सकते हैं। देखिए भगवान् मनु क्या कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।[1]

वर्त्तमान दशा पर दृष्टि डालिए । वेदाध्ययन की कथा तो कोसों दूर रही, अङ्गाध्ययन की भी आज पूर्णता उपलब्ध नहीं होती । भारतीय विद्वान् बडे अभिमान से यह कहा करते हैं कि हम **वैय्याकरण** हैं, हम **ज्योतिर्वित्** हैं, हम **नैय्यायिक** हैं, हम भागवती पण्डित हैं, हम **दार्शनिक** हैं । आश्चर्य तो यह है कि केवल एक-एक खण्ड में अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने पर भी इनका यथावत् परिज्ञान नहीं होता । ऐसे विद्वानों से भारतवर्ष का क्या उपकार हुआ है, क्या हो रहा है, भविष्य में ये क्या पुरुषार्थ दिखलाएँगे ? इन प्रश्नों के समाधान की कोई आवश्यकता है । लोकसंग्रह का तो इन विद्वानों में लेशमात्र भी नहीं हैं । सबने अपना-अपना एक स्वतन्त्र दायरा बना रक्खा है । विश्वयज्ञ में सहयोग देना इनकी दृष्टि में पाप है । राष्ट्रीय आन्दोलन हो रहा होगा, इनकी बला से । यह इनका कर्म्म नहीं है । देश में अकाल पड़ रहा है, बला से । इन्हें तो अपनी चहार दीवारी से बाहर निकलने की ही शपथ है । राम ! राम !! क्या ये काम पण्डितों के हैं ? पण्डितों का काम है, शुष्ककलह करना । उन्नति के कार्यों में विघ्न उपस्थित करना । धर्म्म की दुहाई दे देकर अपने स्वार्थों की रक्षा करना । इतिहास-भूगोल-वाणिज्य-शास्त्रीकरण-संगठन आदि से इनका क्या सम्बन्ध ? ये पैदा हुए हैं पैर पुजवाने को, भोजन करने को । दक्षिणा लेने को । कैसा बीभत्सदृश्य है !

इस सम्बन्ध में ऐसी ही घटित एक घटना से आज भी हमारा अन्तरात्मा आनन्द से आप्लावित हो जाता है । **"लोकनाथ"**–नाम से प्रसिद्ध एक मैथिल पण्डित-दरभङ्गा राजसभा को सुशोभित करते थे । यद्यपि ये नैय्यायिक नाम से प्रसिद्ध थे, परन्तु इनकी सर्वशास्त्रों में अप्रतिहतगति थी । एक बार इन्होंने राजसभा में–"विद्वान् के लिए कोई भी ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका वह उत्तर न दे सके, साथ ही में कोई भी ऐसा कर्म्म नहीं है, जिसे वह न कर सके"–ये शब्द कह डाले । उपस्थित पण्डितमण्डली इनके इस उत्कर्ष को कैसे सह सकती थी ? तत्काल एक चर्म्मकार (चमार) को बुलाया गया एवं उसके द्वारा यह प्रश्न कराया गया कि भगवन् ! जूती गाँठते समय दोनों हाथ तो जूती के पकड़ने में ही काम आ जाते हैं, फिर इसमें टांका कैसे लगाया जाए ? धन्य है, उस पुरुषपुङ्गव को । जरा भी संकोच न किया । तत्काल खड़े हो गए, चर्म्मकार के हाथ से जूता ले कर क्षणमात्र उसे इधर-उधर से देखा; तत्काल दोनों हाथों से जूता पकड़ कर मुख से सूत्र को तान कर जूता गांठ दिया । चर्म्मकार पैरों में पड़ गया । बोला महाराज ! क्षमा कीजिए, यह मेरा अपराध न था । मैंने तो पण्डितों के आग्रह से यह धृष्टता की थी । लोकनाथ के इस कृत्य से सभा में सन्नाटा छा गया ।

बात साधारण सी है । साथ ही में इस घटना से हमारा यह तात्पर्य्य भी नहीं है कि विद्वान् आज से जूता गांठना ही शुरू कर दे । कर्म्म से प्रेम करना, किसी कर्म्म से पीछे न हटना, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लेना, स्वावलम्बी बनना, उन कर्म्मठ शिल्पियों को शिक्षण देना;

---

१ मनुस्मृति २।२० ।

लोकसंग्राहक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना, परस्पर में सद्‌भावना रखते हुए एक दूसरे की मदद करना, यही तो द्विजाति का वास्तविक द्विजातित्व है। ब्राह्मणों के इस ज्ञान शैथिल्य से ही आज विश्वयज्ञ का स्वरूप छिन्न-भिन्न हो रहा है। लोग उत्पथ कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं, परन्तु भारतीय विद्वत्-समाज कर्म्मोपनिषत् से वञ्चित होता हुआ इस कुत्सित प्रवृत्ति को रोकने में सर्वथा असमर्थ है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि ज्ञान-कर्म्म दोनों विभिन्न मार्गों का आश्रय लेते हुए अपना स्वरूप खो रहे हैं। कर्म्ममार्ग से वञ्चित पण्डित भी हतश्री बन रहे हैं, ज्ञानमार्ग से वञ्चित कर्म्मठ भी अपना, अपने साथ-साथ देश का सर्वनाश कर रहे हैं। अभिगन्ता-कर्त्ता दोनों स्थूल सहयोग से वञ्चित हो रहे हैं। अभिगन्ताब्रह्म कर्त्ताक्षत्र से विरोध कर रहा है, कर्त्ताक्षत्र अभिगन्ताब्रह्म का तिरस्कार कर रहा है। ब्रह्मानुयायी ब्राह्मणवर्ग क्षत्रानुयायी क्षत्रिय को वश में नहीं कर सकता। कर्त्ताक्षत्रिय ब्राह्मण का कोई मूल्य नहीं समझता। राष्ट्रवादी कर्म्मठ हैं, विद्वद्‌वर्ग ज्ञानी है। परन्तु दोनों में आज अश्वमाहिष्य है। वे इनकी नहीं सुनते, ये उनकी नहीं सुनते। सनातनी ब्रह्म है, आर्यसमाजी कर्म्म है। दोनों में सहज बैर हो रहा है। बंगाल ब्रह्म है, पंजाब कर्म्म है। एक के पास मस्तिष्क बल है, दूसरे के पास हृदयबल है। परन्तु दोनों विच्छिन्न हो रहे हैं। इसी मृत्युभाव ने देश की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रक्खा है। हजारों सम्प्रदायें, हजारों मतवाद, प्रत्येक व्यक्ति का विचार-स्वातन्त्र्य, सबका अपना-अपना स्वतन्त्र धरातल, पिता-पुत्र से स्वतन्त्र, स्त्री पति से स्वतन्त्र, कौटुम्बिकव्यवस्था (ज्वायन्ट फैमेली सिस्टम) का सर्वनाश, यही सब कारण विश्वयज्ञ के विनाश के कारण हैं। नाम संगठन का है, परन्तु है नानाभाव, पार्थक्य। आर्यसमाज पैदा हुआ था, संगठन के लिए। परन्तु उसने भी ज्ञान के अभाव से संगठन के स्थान में एक नया सम्प्रदाय और खड़ा कर दिया। सुधारकों का अवतार हुआ था, संगठन के लिए, परन्तु इसकी अविवेकता ने और एक नया सम्प्रदाय चला दिया। इस प्रकार ज्ञान-कर्म्म के समन्वयमूलक यजन (संगमन-मेल-सहयोग-संगठन) लक्षण यज्ञ-विज्ञान के अभाव से देश धीरे-धीरे नानाभावलक्षण मृत्युदेवता की ओर ही आकर्षित होता जा रहा है। आज इस विश्वयज्ञ में न कोई एक यजमान है, न एक अध्वर्यु है, न एक होता है, न एक उद्‌गाता है। यज्ञकर्म्म सर्वथा क्षत-विक्षत बना हुआ है। इस सब के दोषी वे ब्राह्मण ही हैं, जिन्होंने यज्ञकर्म्म को भुलाते हुए अपना भी नाश करा लिया है एवं अपने साथ-साथ राष्ट्र का स्वरूप भी उच्छिन्न कर दिया है। इसी विप्रदोष का उद्‌घाटन करते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

विप्राणां कर्म्मदोषैस्तैः प्रजानां जायते भयम्।
हिंसा मानस्तथेर्ष्या च क्रोधोऽसूयाऽक्षमाऽधृतिः ॥१॥[1]

नाधीयते तथा वेदान्न यजन्ते द्विजातयः।
उत्सीदन्ति तथा चैव वैश्यैः सार्द्धं तु क्षत्रियाः ॥२॥[2]

---

१ मत्स्यपु० अ० १४४।३६। २ मत्स्यपु० अ० १४४।३८।

शूद्राणां मन्त्रयोनिस्तु सम्बन्धो ब्राह्मणैः सह ।
भवतीह कलौ तस्मिञ्छयनासनभोजनैः ॥३॥[१]

राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाषण्डानां प्रवृत्तयः ।
काषायिणश्च निष्कच्छास्तथा कापालिनश्च ह ॥४॥[२]

ये चान्ये देवव्रतिनस्तथा ये धर्म्मदूषकाः ।
दिव्यवृत्ताश्च ये केचिद् वृत्त्यर्थं श्रुतिलिङ्गिनः ॥५॥[३]

एवंविधाश्च ये केचिद्भवन्तीह कलौ युगे ।
अधीयते तदा वेदाञ्छूद्रा धर्म्मार्थकोविदाः ॥६॥[४]

उपहत्य तथाऽन्योऽन्यं साधयन्ति तदा प्रजाः ।
दुःखप्रचुरताल्पायुर्देशोत्सादः सरोगता ॥७॥[५]

अधर्म्माभिनिवेशित्वं तमोवृत्तं कलौ स्मृतम् ।
भ्रूणहत्या प्रजानां च तथा ह्येवं प्रवर्तते ॥८॥[६]

भूत्वा च न भवन्तीह वेदाः कलियुगेऽखिलाः ।
उत्सीदन्ते तथा यज्ञाः केवलं धर्म्महेतवः ॥९॥[७]

व्याकुलास्ताः परावृत्तास्त्यक्त्वा देवं गृहाणि तु ।
स्वान् स्वान् प्राणानवेक्षन्तो निष्कारुण्यात् सुदुःखिताः ॥१०॥[८]

नष्टे श्रौतस्मृते धर्मे कामक्रोधवशानुगाः ।
निर्म्मर्यादा निरानन्दा निःस्नेहा निरपत्रपाः ॥११॥[९]

---

१ मत्स्यपु० अ० १४४।३९ ।
२ मत्स्यपु० अ० १४४।४० ।
३ मत्स्यपु० अ० १४४।४१ ।
४ मत्स्यपु० अ० १४४।४२ ।
५ मत्स्यपु० अ० १४४।४४ ।
६ मत्स्यपु० अ० १४४।४५ ।
७ मत्स्यपु० अ० १४४।४७ ।
८ मत्स्यपु० अ० १४४।६८ ।
९ मत्स्यपु० अ० १४४।६९ ।

अनावृष्टिहतास्ते वै वार्त्तामुत्सृज्य दुःखिताः ।
आश्रयन्ति स्म प्रत्यन्तान् हित्वा जनपदान् स्वकान् ॥१२॥[1]

वर्णाश्रमपरिभ्रष्टाः संकरं घोरमास्थिताः ।
एवं कष्टमनुप्राप्ता ह्यल्पशेषाः प्रजास्ततः ॥१३॥[2]

यह सब अनर्थ क्यों हुआ ? एवं क्यों रहा है ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यज्ञकर्म्म का अभाव ही है । जब तक भारतवर्ष भगवत्प्रदर्शित यज्ञविद्या का रहस्य जानता हुआ यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त न होगा, तब तक किसी भी अन्य उपाय से विश्व में शान्ति नहीं हो सकती । भले ही मनचले लोग विश्वशान्ति-संगठन आदि का गुणगान करते हुए उत्पथमार्गों का आश्रय लेते रहें, परन्तु तब तक उनका कोई भी कर्म्म सफल नहीं हो सकता, जब तक कि वे चातुर्वर्ण्य-धर्म्ममूलक शास्त्रसिद्ध अबन्धन यज्ञकर्म्म का अपने कर्म्म में समावेश नहीं कर लेते । विद्वानों को कर्म्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा, अविद्वानों को विद्वानों का आश्रय लेना पड़ेगा । यह सच्चा आधिभौतिकयज्ञ होगा । इस यज्ञ के बल पर प्रजा आधिदैविकयज्ञ का अनुग्रह प्राप्त करेगी । देवता का प्रजा आश्रय लेगी । यज्ञ से भावित देवता प्रजा पर अनुग्रह करेंगे । प्रकृतिमण्डल शान्त हो जाएगा । समय पर वृष्टि होगी, ऋतु पर अन्न उत्पन्न होगा, ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी बनेंगे । क्षत्रिय महारथी बनेंगे । वैश्य सभेय बनेंगे । फल-ओषधियाँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होंगी । इस प्रकार इस परस्पर के सद्भाव से हमारा योगक्षेम चलता रहेगा । इसी योगक्षेम का बडे सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराते हुए वेद महर्षि कहते हैं—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान्, आशुःसप्तिः, पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।[3]

———०———

१ मत्स्यपु० अ० १४४।७१ । २ मत्स्यपु० अ० १४४।७३ ।
३ यजुर्वेद २२।२२ ।

यही यज्ञाशिष है, यज्ञ का श्रेयःफल है। सबकी मूलयोनि ब्राह्मण है। ब्राह्मण ही राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति है। यदि ब्राह्मण अपने स्वरूप से सुरक्षित रहता है, तो इतर वर्ण भी सुरक्षित रहते हैं। ब्रह्मबल का उच्छेद ही राष्ट्रोच्छित्ति का कारण है। इसीलिए श्रुति ने राष्ट्र की मंगलकामना के लिए सर्वप्रथम ब्राह्मणबल की भिक्षा माँगी है। ज्ञानमय गुप्त तेज ही ब्रह्मवर्चस् है। ज्ञान से ही तो प्रजा अपने-अपने कर्म्म में प्रतिष्ठित रह सकती है। हे प्रजापते ! आप हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजोमय ब्राह्मणों को उत्पन्न कीजिए, यही राष्ट्र की पहली एवं मुख्य मङ्गलकामना है। ब्राह्मण ज्ञान-प्रसार में तल्लीन रहता है। वह पशुबल से काम नहीं ले सकता। न पशुबल पर वह नियन्त्रण ही कर सकता। वह आदेश देने वाला अभिगन्ता है, इसकी आज्ञा से पशुबल पर शासन करने वाला क्षत्रिय कर्त्ता है। बिना क्षत्रबल का सहारा लिए केवल ब्रह्मबल विकसित नहीं हो सकता। राष्ट्र राजा का है, राष्ट्राधिपति राजा ब्राह्मण से संचालित है। अराजकराष्ट्र केवल ब्राह्मण के बल पर नहीं टिक सकता। न बिना राजा के ब्राह्मण स्थिरबुद्धि सापेक्ष ज्ञानबल को बढा सकता। इसीलिए राष्ट्र ने दूसरी क्षत्रिय की मंगलकामना की है। क्षत्रिय कैसे हों ? इसका दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति आगे जा कर कहती है—क्षत्रिय शूर हों। शरीरबल उनमें पर्य्याप्त हो। यदि केवल शरीरबल ही है तब भी काम नहीं चल सकता। बल अपने प्रसार के लिए किसी भौतिक पदार्थ की अपेक्षा रखता है। बल शक्ति है–फोर्स है। शक्ति निराकार है। फोर्स बिना मेटर के विकसित नहीं हो सकता। निराकार का विकास साकार पदार्थ में ही होता है। निर्गुण सगुणरूप में आकर ही हमारा उपास्य बनता है। इस भौतिक साधन को लक्ष्य में रख कर ही श्रुति ने–"**इषव्यः**" कहा है। इषु शब्द शस्त्रबल का ही उपलक्षण है। शस्त्र ही क्षत्रिय के शूर (बल-शक्ति) भाव की विकास भूमि है। शस्त्रबलशून्य शूर भी क्षत्रिय विजयकर्म्म में असमर्थ हो जाता है। क्षत्रिय बलवान् भी है, शस्त्र भी पर्य्याप्त हैं, परन्तु उस पर यदि समय-समय पर व्याधियाँ आक्रमण करती रहती हैं तो क्षीणशक्ति बनता हुआ, शूरभाव से वञ्चित होता हुआ, वह रहते हुए भी शस्त्रों को उपयोग में नहीं ला सकता। क्षत्रिय का प्रत्येक दशा में नीरोग रहना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से –"**अतिव्याधी**" कहा गया है। क्षत्रिय नीरोग है, शूर है, इषव्य है, परन्तु दृढ़वाहन नहीं है, तब भी काम नहीं चल सकता। जलपोत, स्थलपोत (रथ), नभपोत (विमान), आदि वाहन भी राज्य के प्रधान अंग हैं, इन्हीं को लक्ष्य में रख कर–"**महारथः**" कहा गया।

राजा प्रजा पर शासन करता है। प्रजा को शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। परन्तु राजा और प्रजा दोनों का बल कृषि है। कृषि का बल गोधन है। जिस राष्ट्र में गाएं दुधारी होती हैं, अनड्वान् भारवाही होते हैं, उसी देश में कृषि का साम्राज्य रहता है। यह हमारे जीवन की एक अत्यावश्यक सामग्री है। जिस प्रकार ब्राह्मण देश की मौलिक सम्पत्ति है, ठीक इसी प्रकार गोधन भी हमारी मूल-प्रतिष्ठा है। यही नहीं, गोधन ब्राह्मण से भी उत्कृष्ट है। इसीलिए अभियुक्तों ने–"**गोब्राह्मणहिताय च**"–कहते हुए गौ को पहला स्थान दिया है। गौ-बैल-अश्व तीनों ही कृषि के प्रधान अंग हैं। गोधन कृषि के मूलप्रभव बैलों को उत्पन्न करता हुआ कृषि में सहायक है, बैल साक्षात्‌रूप से सहायक है, शीघ्र-गामी अश्व रक्षाद्वारा परम्परया सहायक है। सहायकत्रयी से युक्त इसी कृषि-प्रतिष्ठा की मंगल-कामना के लिए–"**दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः**"–यह कहा गया है। प्रजा यदि सुशील होती है

तो वह राष्ट्र सुसंपन्न रहता है । उद्दण्डप्रजा क्षत्रिय-ब्राह्मण दोनों की उपेक्षा करने लगती है । राष्ट्र में अराजकता फैल जाती है । प्रजा कब सुशील हो सकती है ? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है- देश का नारी-धन । जिस देश में स्त्रियाँ सबल, सुशिक्षित, पतिपरायण होती हैं, वही देश सुसन्तति का अधिकारी बनता है । भोग्य (अन्न) की श्रेष्ठता खेती गाय-बैल-अश्वों की श्रेष्ठता पर निर्भर है एवं भोक्ता (प्रजा) की श्रेष्ठता योषा के पुरन्धिभाव पर निर्भर है । इसी अभिप्राय से **"पुरन्धिर्योषा"**-यह कहा गया है । हमारे यजमान का पुत्र सभाप्रिय हो, रथ में बैठ कर विजय प्राप्त करने वाला हो, वीर हो । समय-समय पर पर्जन्य देवता वृष्टि करते रहें । ओषधियाँ फलपत्ती हो कर पकती रहें । हे ब्रह्म ! इस प्रकार हम अनन्य बन कर चातुर्वर्ण्य-धर्म्म में प्रतिष्ठित रहें, प्रतिफल में आप हमारे लिए योगक्षेम की व्यवस्था करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।[1]

इस प्रकार उक्त यजुःश्रुति ने थोड़े से शब्दों में विश्वयज्ञ का सम्पूर्ण रहस्य हमारे सामने रखते हुए, हमें क्या करना चाहिए ?—इस प्रश्न का पूर्ण समाधान कर दिया है । श्रुतिनिष्ठ भगवान् यज्ञेश्वर (श्रीकृष्ण) आज उसी विश्वयज्ञ का स्वरूप हमारे सामने रखते हुए हमें आदेश कर रहे हैं कि यदि तुम ईश्वर की सत्ता मानते हो, यदि तुम संसार में शान्ति चाहते हो, यदि तुम अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की भी वाञ्छा रखते हो तो तुम्हें अनन्यभाव से विश्वचक्रस्वरूपसंरक्षक यज्ञकर्म्म में ही प्रवृत्त होना चाहिए ।

प्रकरणसङ्गति—

पूर्व में बतलाया गया है कि इस प्रकरण में कुल आठ श्लोक हैं । वैज्ञानिक दृष्टि से इन आठों को १–४–३–इस प्रकार तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथमश्लोक प्रतिज्ञासूत्रात्मक है । भगवान् ने यह बतलाया कि यज्ञार्थकर्म्म सर्वथा अबन्धन है, अतः यज्ञ के लिए तुझे आसक्तिविरहित हो कर कर्म्म करना चाहिए । वह यज्ञ **प्राणयज्ञ-भूतयज्ञ** भेद से दो भागों में विभक्त है । उत्तर के दोनों प्रकरणों से क्रमशः इन्हीं दोनों यज्ञों का निरूपण किया है । द्वितीय प्रकरण अदृश्य, प्राणात्मक दिव्ययज्ञ का निरूपण करता है एवं श्लोकत्रयात्मक तृतीय प्रकरण दृश्यभूतयज्ञ का निरूपण करता है । दिव्ययज्ञ का भूतयज्ञ के साथ समन्वय करा देना, दूसरे शब्दों में भूतयज्ञ से युक्त कर देना ही यज्ञार्थ है । दोनों की समष्टि ही यज्ञार्थकर्म्म है । भूतयज्ञ कर्म्ममय है, दिव्ययज्ञ ज्ञानमय है । ज्ञानयज्ञ की सिद्धि के लिए भूतयज्ञ का अनुष्ठान करना ही यज्ञार्थकर्म्म है । यही अबन्धनयज्ञात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा है ।

१–१–यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र० (गीता ३।९)] →प्रतिज्ञासूत्रम्

—*—

---

१ गीता ९।२२ ।

२–१–सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा० (गीता ३।१०)
३–२–देवान् भावयतानेन० (गीता ३।११)
४–३–इष्टान् भोगान् हि वः० (गीता ३।१२)
५–४–यज्ञशिष्टाशिनःसन्तः० (गीता ३।१३)
} → दिव्ययज्ञः (अदृश्यः) ज्ञानम्

—❀—

६–१–अन्नाद् भवन्ति भूतानि० (गीता ३।१४)
७–२–कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि० (गीता ३।१५)
८–३–एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्० (गीता ३।१६)
} → भूतयज्ञः (दृश्यः) कर्म्म

(ज्ञानम् + कर्म्म) → यज्ञार्थकर्म्म

—०—

१–यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र०—

जिस प्रकार वेद शब्द से आजदिन सर्वसाधारण की दृष्टि में **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** इन वेदग्रन्थों की प्रधानता है एवमेव मनुष्यों द्वारा बनाए गए गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि कुण्डों में हवि, पशु, तिल, घृत, आदि की आहुति देना ही यज्ञशब्दार्थ समझा जा रहा है । अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अयन, ज्योतिष्टोम, राजसूय, वाजपेय, चयन, सौत्रामणी आदि जितने भी यज्ञ एवं इष्टियाँ हैं, उन सबका अर्थ लौकिकयज्ञपरक ही लगाया जाता है । परन्तु आज हम अपने यज्ञप्रेमी पाठकों के इस चिरन्तन विश्वास के सर्वथा विपरीत यह कहने का साहस करते हैं कि जिस प्रकार वेदग्रन्थ वेद न हो कर वेद के ग्रन्थ हैं एवमेव उक्त सभी यज्ञ वास्तव में यज्ञ के साधन मात्र हैं । मौलिकयज्ञ की प्रतिच्छाया पर इन वैध यज्ञों का आविष्कार हुआ है । कहना नहीं होगा कि उस प्राकृतिक-यज्ञरहस्य को न जानने के कारण ही कुछ भ्रान्त वेदाभिमानियों ने यज्ञ का वातशुद्धि (हवा-फिल्टर) फल मानते हुए, स्वकपोलकल्पना से नवीन पद्धतियों के द्वारा यज्ञाभास का सञ्चालन करते हुए रही सही यज्ञविद्या का भी सर्वनाश कर डाला है । अस्तु, जिस प्राकृतिक यज्ञ कर्म्म के आधार पर सतत कर्म्मानुष्ठान करते हुए भी प्रजापति असङ्गभाव से सर्वत्र व्यस्त हो रहे हैं, संक्षेपतः उसी यज्ञ का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है । आशा है, उससे यज्ञ के वास्तविक रहस्य पर पहुँचते हुए विज्ञ पाठक अपनी इस अलौकिक एवं सर्वार्थसाधनभूता यज्ञविद्या के पुनरुद्धार में कुछ कसर न उठा रक्खेंगे—

न ह्यस्ति यज्ञविज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमन्तरा ।
अतः प्रागुपपाद्यं तद् ब्रह्मविज्ञानमुच्यते ।।

उक्त अभियुक्तोक्ति के अनुसार यज्ञ का स्वरूप जानने के लिए इससे पहले यज्ञाधारभूत ब्रह्म का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है। ब्रह्मशब्द की वेदों में अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। परन्तु यज्ञ के सम्बन्ध में ब्रह्म शब्द से हम **ऋषिप्राण** का ही ग्रहण करेंगे। हमारा विज्ञानशास्त्र **ब्रह्म-यज्ञ** भेद से दो भागों में विभक्त है। मौलिक तत्त्व को **ब्रह्म** कहा जाता है। अनेक मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न यौगिकतत्त्व को **यज्ञ** कहा जाता है। ब्रह्म का मूलरूप ब्रह्म है, तूलरूप यज्ञ है। ब्रह्म ही वितत हो कर यज्ञरूप में परिणत होता है। ब्रह्म-यज्ञ ही वर्तमान विज्ञान के फिजिक्स एवं केमेस्ट्री हैं। सम्पूर्ण विश्व क्या है? विश्व का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि ब्रह्मसंज्ञक अनेक मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न यौगिक अपूर्वभाव ही विश्व है। यही यज्ञ है। यज्ञ विश्व का आरम्भण (उपादान) है, दूसरे शब्दों में यज्ञ ही विश्व है। विश्व की उत्पत्ति यज्ञ से हुई है, यज्ञ का वितान ब्रह्म से हुआ है। ब्रह्म मौलिक प्राण है। इसी मौलिक प्राण को विज्ञानभाषा में ऋषि कहा जाता है। गतिशील यही ऋषि-प्राण सृष्टि की कामना करता हुआ वाग्-द्वारा यज्ञरूप में परिणत होता है, अतएव-"**सर्वस्माविदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः**"- इस ब्राह्मणश्रुति के निर्वचन के अनुसार इस प्राण को "ऋषि" कहा जाता है। यह ऋषि (मौलिक प्राण) अनन्त है, जैसा कि निम्नलिखित ऋग्वचन से स्पष्ट है—

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते ऽग्नेः परि जज्ञिरे ते ऽङ्गिरसः सूनवः॥[1]

इन अनन्त ऋषिप्राणों में से सात ऋषिप्राण ही विश्व-यज्ञ के सञ्चालक माने गए हैं। सात-ऋषिप्राणों की समष्टि ही "**सप्तर्षि**" नाम से प्रसिद्ध है। इसी को-"**सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति**"- कहा जाता है। यह प्रजापति अपनी प्रतिष्ठा के लिए सर्वप्रथम त्रयीवेदरूप में परिणत होता है, जैसा-कि-"**ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम्**"-इत्यादि चयन-श्रुति से स्पष्ट है। ऋषिप्राण को "**यत्**" कहा जाता है। इस यत् की आधारभूमि जूरूप आकाश है। यत् और जू की समष्टि ही यज्जू है। यज्जू ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में "**यजुः**" है। यह यजुस्तत्त्व ऋक्-साम से अविनाभूत रहता है। ऋक्साम इसकी सीमा है। इस सीमा से सीमित यजुः ही यज्ञ की प्रतिष्ठा बनता है। इस प्रकार वही ऋषिप्राण आगे जा कर त्रयीवेदरूप में परिणत हो जाता है। इसी आधार पर-"**ऋषिर्वेदमन्त्रः**"-यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। यह वेदब्रह्म ही हमारा मौलिक ब्रह्म है। इसी का नाम सत्यब्रह्म है। इसी को प्रतिष्ठाब्रह्म कहा जाता है। यही प्रथमजब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। इसी को अव्यक्तब्रह्म कहा गया है। यही यज्ञकर्म्म की मूल प्रतिष्ठा है। यद्यपि हम यह जानते हैं कि केवल ऊपर की पङ्क्तियों से ही पाठक ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को यथावत् आत्मसात् नहीं कर सकते। परन्तु साथ ही में उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह वेदभाष्य नहीं है, अपि तु, गीताभाष्य है। यह हम आरम्भ में ही कह आए हैं कि विशेष जिज्ञासा रखने वालों को शतपथ-विज्ञानभाष्यादि हमारे अन्य निबन्ध देखने चाहिए। प्रकृत में

---

१ ऋग्वेद म० १०।६२।५।

ब्रह्म के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। अस्तु, त्रयीमूर्त्ति अव्यक्तब्रह्म ही–**"यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै"–सैषा त्रयीविद्या यद्यज्ञः" "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि"**–इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार त्रयीवेद ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जाएगा।

अव्यक्तमूर्त्ति सत्यब्रह्म ही यज्ञ की योनि है। इस सत्यब्रह्म का विकास अक्षर से होता है, जैसा-कि–**"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"**–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अक्षर अव्यय से अविनाभूत है। अव्ययगर्भित अन्यर्यामी अक्षर की प्रेरणा से क्षर द्वारा ही पञ्चजन-द्वारा पुरञ्जन-रूप इस अव्यक्तब्रह्म का विकास होता है। इसी को स्वयम्भू कहा जाता है। यही स्वयम्भू ब्रह्म प्रजोत्पत्तिकामना से **सर्वमेध** यज्ञ करने वाले हैं। सर्वमेध यज्ञ भी प्रकृत प्रकरण का निष्कर्ष है। इस सर्वमेध यज्ञ में पाप्माओं का समावेश नहीं होता अतएव यह यज्ञकर्म्म सर्वथा अबन्धन रहता है। इस अबन्धन यज्ञकर्म्म के अतिरिक्त जितने कर्म्म हैं, वे पाप्मा भावों के समावेश से बन्धक बने हुए हैं। उन्हें छोड देना चाहिए एवं यज्ञार्थकर्म्म आसक्ति छोडते हुए करने चाहिए। **"पाङ्क्तो वै यज्ञः"** इस अनुगम श्रुति के अनुसार प्राकृतिक नित्ययज्ञ **पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ** भेद से पाँच भागों में विभक्त हैं। इन में पाकयज्ञ–१-**अष्टका**, २–**अन्वष्टका**, ३–**पार्वणश्राद्ध**, ४–**श्रावणी**, ५–**आग्रहायणी**, ६–**चैत्री**, ७-**आश्वयुजी** भेद से सप्तसंस्थ है। हविर्यज्ञ–१–**इष्टि**, २–**पशु**, ३–**पित्र्य** भेद से तीन भागों में विभक्त है। इष्टिरूप हविर्यज्ञ १–**अग्न्याधान**, २–**अग्निहोत्र**, ३–**दर्शपूर्णमास**, ४–**चातुर्मास्य**, ५–**आग्रयण**, ६–**इष्टचयन**, ७–**काम्येष्टि** भेद से सात भागों में विभक्त है। पशुबन्ध नाम का हविर्यज्ञ १–**निरूढपशुबन्ध**, २–**अग्नीषोमीय पशुबन्ध**, ३–**सौत्रामणीपशुबन्ध**, ४–**चयनीयपशुबन्ध** भेद से चार भागों में विभक्त है एवं पित्र्य नाम का हविर्यज्ञ १–**पितृयज्ञ**, २–**महापितृयज्ञ** भेद से दो भागों में विभक्त है। महायज्ञ १–**सोमयज्ञ**, २–**सुरायज्ञ** भेद से दो भागों में विभक्त है। सोमयज्ञ नामक महायज्ञ १–**एकाह**, २–**अहीन**, ३–**रात्रिसत्र**, ४–**अयनसत्र**, ५–**महासत्र** भेद से पाँच भागों में विभक्त है। इनमें एकाह नाम का महायज्ञ **ज्योतिष्टोम** नाम से प्रसिद्ध है। यह १–**अग्निष्टोम**, २–**अत्यग्निष्टोम**, ३–**उक्थ्यस्तोम**, ४–**षोडशीस्तोम**, ५–**अतिरात्रस्तोम**, ६–**वाजपेयस्तोम**, ७–**आप्तोर्यामस्तोम**–भेद से सात भागों में विभक्त है। इसी के लिए–**"सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः"**–यह कहा जाता है। सात ज्योतिष्टोम प्राकृतिक महायज्ञ हैं एवं वैकारिक ज्योतिष्टोम ५८ भागों में विभक्त हैं। इस प्रकार सम्भूय एकाह नाम के महायज्ञ के अवान्तर पञ्चषष्टि (६५) भेद हो जाते हैं। **द्व्यहयज्ञ** पाँच हैं, **त्र्यहयज्ञ** पन्द्रह हैं, **पञ्चाहयज्ञ** चार हैं। **चतुरह, षडह, दशाह, द्वादशाह** ये चारों अहीन दो-दो भागों में विभक्त हैं। **सप्ताह, अष्टाह, नवाह, एकादशाह** एक-एक प्रकार के हैं। इस प्रकार अहीन नाम का दूसरा महायज्ञ ३६ भागों में विभक्त है। **गोष्टोम, आयुष्टोम, सौमिकचातुर्मास्य, गर्गत्रिरात्र** आदि यज्ञों का इस अहीनयज्ञ में ही अन्तर्भाव है। रात्रिसत्र नाम का तीसरा महायज्ञ ३२ भागों में विभक्त है। **ज्योतिषामयन** नाम के मुख्य अयनसत्र १० हैं, गौण ज्योतिषामयन ४ हैं, वैकारिक–**गवामयन** ३ हैं, वैशेषिक गवामयन ३ हैं, तापश्चित ३ हैं, बहुसांवत्सरिक ८ हैं, सारस्वतसत्र ३ हैं, द्वार्षव्रत एकविध है। इस प्रकार सम्भूय अयनसत्र नाम का महायज्ञ ३५ भागों में विभक्त है। इन अयनसत्रों में प्रधानता–**गवामयनसत्र, आदित्यानामयनसत्र, अङ्गिरसामयनसत्र**, इन तीन की ही समझनी चाहिए। **भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ**

ये पाँचों महायज्ञ महासत्र नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरा है सुरायज्ञ नाम का महायज्ञ। यह–**कोकिल सौत्रामणी, चरकसौत्रामणी**–भेद से दो भागों में विभक्त है। इस प्रकार सोम-सुरा के अवान्तर भेद से महायज्ञ १७५ भागों में विभक्त हो जाता है।

पाङ्क्त यज्ञ का चौथा पर्व है **अतियज्ञ**। यह अतियज्ञ **मेधयज्ञ, राजसूय, वाजपेय, अग्निचयन** भेद से चार भागों में विभक्त है। पाँचवाँ **शिरोयज्ञ** है। यही शिरोयज्ञ–**घर्म्मयाग, प्रवर्ग्ययाग, सम्राड्याग, महावीरोपासना**–इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है।

उक्त यज्ञों में से मेध नाम का जो अतियज्ञ है वह–**अश्वमेध, गोमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध** भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों में से प्रकृत गीताप्रकरण में सर्वयज्ञों को अपने गर्भ में रखने वाले **सर्वमेध-यज्ञ** का ही ग्रहण है।

१–पाकयज्ञः
२–हविर्यज्ञः
३–महायज्ञः
४–अतियज्ञः
५–शिरोयज्ञः
} → **"पाङ्क्तो वै यज्ञः"**

१–पाकयज्ञः–सप्तसंस्थः —

१–अष्टका
२–अन्वष्टका
३–पार्वणश्राद्ध
४–श्रावणी
५–आग्रहायणी
६–चैत्री ७–आश्वयुजी
} → **पाकयज्ञः–गृह्याः**

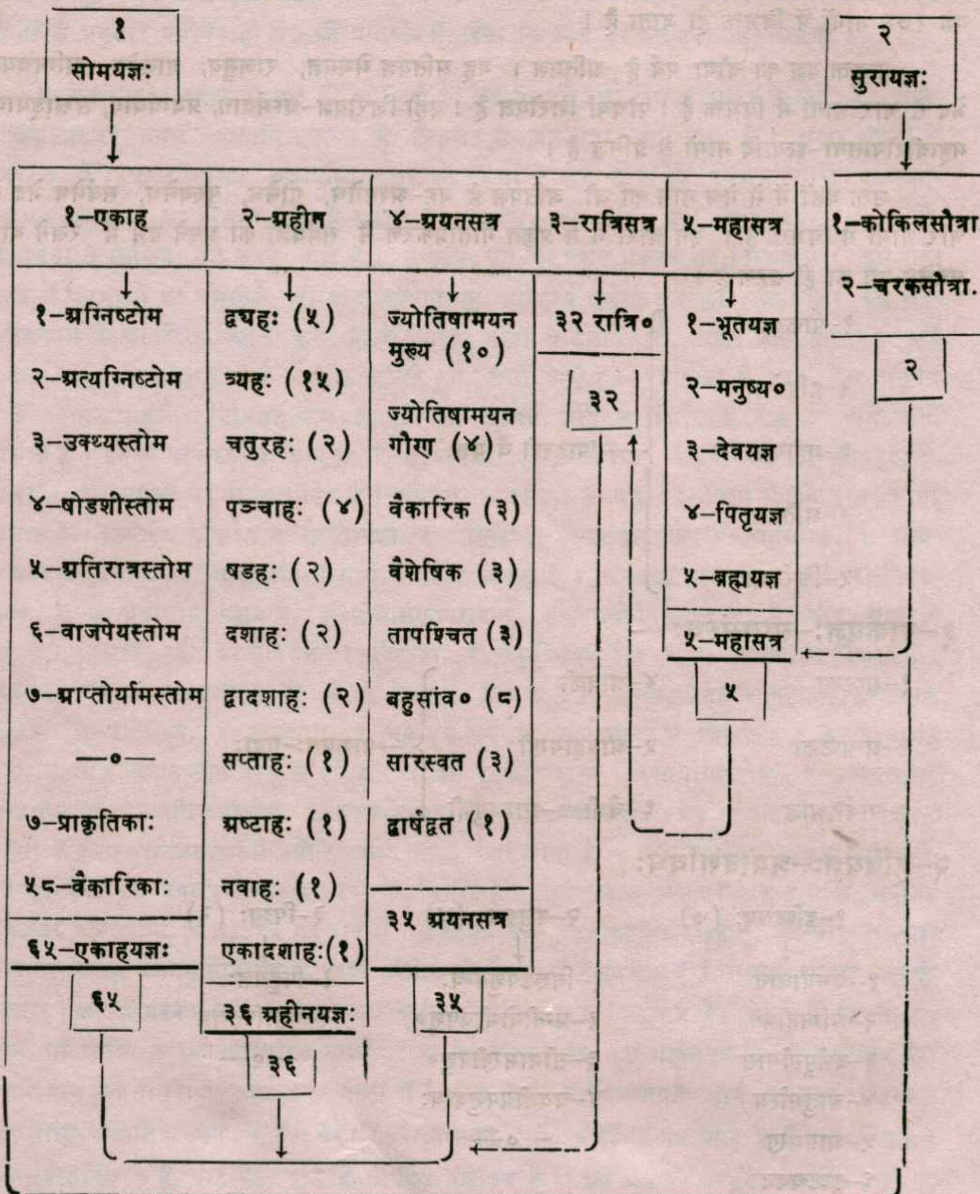
२–हविर्यज्ञः–त्रयोदशविधः

१–इष्टिरूपः (७)
↓
१–अग्न्याधान
२–अग्निहोत्र
३–दर्शपूर्णमास
४–चातुर्मास्य
५–आग्रयण
६–इष्टचयन
७–काम्येष्टि
—०—

२–पशुरूपः (४)
↓
१–निरूढपशुबन्धः
२–अग्नीषोमीयपशु०
३–सौत्रामणीपशु०
४–चयनीयपशुबन्धः
—०—

३–पित्र्यः (२)
↓
१–पितृयज्ञः
२–महापितृयज्ञ
—०—

३–महायज्ञः—


१
सोमयज्ञः
२
सुरायज्ञः
१–एकाह
२–अहीन
४–अयनसत्र
३–रात्रिसत्र
५–महासत्र
१–कोकिलसौत्रा.
२–चरकसौत्रा.
२
१–अग्निष्टोम
२–अत्यग्निष्टोम
३–उक्थ्यस्तोम
४–षोडशीस्तोम
५–अतिरात्रस्तोम
६–वाजपेयस्तोम
७–आप्तोर्यामस्तोम
—०—
७–प्राकृतिकाः
५८–वैकारिकाः
६५–एकाहयज्ञः
६५
द्व्यहः (५)
त्र्यहः (१५)
चतुरहः (२)
पञ्चाहः (४)
षडहः (२)
दशाहः (२)
द्वादशाहः (२)
सप्ताहः (१)
अष्टाहः (१)
नवाहः (१)
एकादशाहः (१)
३६ अहीनयज्ञः
३६
ज्योतिषामयन मुख्य (१०)
ज्योतिषामयन गौण (४)
वैकारिक (३)
वैशेषिक (३)
तापश्चित (३)
बहुसांव० (८)
सारस्वत (३)
द्वार्षद्वत (१)
३५ अयनसत्र
३५
३२ रात्रि०
३२
१–भूतयज्ञ
२–मनुष्य०
३–देवयज्ञ
४–पितृयज्ञ
५–ब्रह्मयज्ञ
५–महासत्र
५

४–प्रतियज्ञः

१–मेधयज्ञः (विशेषतः-राजर्षीणाम्)

२–राजसूयः (विशेषतः–राज्ञाम्)

३–वाजपेयः (विशेषतः–ब्राह्मणानाम्)

४–अग्निचयनम् (विशेषतः–ब्रह्मर्षीणाम्)

—०—

५–शिरोयज्ञः

१–धर्म्मयागः

२–प्रवर्ग्ययागः

३–सम्राड्यागः

४–महावीरोपासनम्

—०—

मेधयज्ञः—

१–अश्वमेधः

२–गोमेधः

३–पुरुषमेधः

४–सर्वमेधः (अस्यैवात्रग्रहः)

—०—

वैधसर्वमेधयज्ञस्वरूप-निर्वचन—

पूर्व में कहा जा चुका है प्रकृत में यज्ञार्थकर्म्म से स्वयम्भू-ब्रह्म द्वारा निष्पन्न होने वाले सर्वमेधयज्ञ का ही ग्रहण है । इसी को प्रजापतियज्ञ, ईश्वरयज्ञ, आधिदैविकयज्ञ, नित्यप्राकृतिकयज्ञ, विश्वयज्ञ–इत्यादि नामों से भी सम्बोधित किया जा सकता है । यजुःसंहिता में यही यज्ञ "सर्वहुत" नाम से व्यवहृत हुआ है । इसी सर्वहुत यज्ञ का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"ब्रह्म वै स्वयम्भू तपोऽतप्यत । तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति । हन्त ! अहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि–इति । तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि (हुत्वा) सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं आधिपत्यं पर्य्यैत् । तथैवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्येति । स वा एष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति । दशाक्षरा विराट् । विराड्-कृत्स्नमन्नम् । कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै । तस्मिन्नग्निं पराध्यं चिनोति । परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां यत् सर्वमेधः । परमे-

एवैनं परमतां गमयति" । ++++ । तेन हैतेन विश्वकर्म्मा भौवन ईजे । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानि । इदं सर्वमभवत् । अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान्त्सर्वमेधेन यजते, यो वैतदेवं वेद । तं ह कश्यपो याजयाञ्चकार । तदपि भूमिः श्लोकं जगौ—

न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्म्मन् भौवन मन्द आसिथ ।
उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते संगरः कश्यपाय इति ।।[1]

—०—

"स्वयम्भू ब्रह्म ने तपश्चर्य्या की । तप करते-करते स्वयम्भू ने विचार किया कि अरे ! इस तप का तो आनन्त्य नहीं हैं–अर्थात् तप से आनन्त्य (व्यापकभाव) नहीं मिल सकता । क्या ही अच्छा हो मैं (आनन्त्यप्राप्ति के लिए) अपने आपको भूतों में (विश्व में) आहुत कर दूँ एवं सम्पूर्ण भूतों की अपने आप में आहुति दे लूं (यही आनन्त्यप्राप्ति का कारण बनेगा) । यह विचार कर प्रजापति भूतों में अपनी, भूतों की अपने में आहुति देते हुए सम्पूर्ण भूतों का श्रैष्ठ्य, स्वाराज्य, आधिपत्य प्राप्त कर लिया । इसी प्रकार आज यह यजमान अपने इस (वैध) सर्वमेधयज्ञ में सम्पूर्ण मेधों की आहुति देकर सम्पूर्ण भूतों का श्रैष्ठ्य, स्वाराज्य, आधिपत्य प्राप्त कर रहा है । यह सर्वमेध नाम का यज्ञक्रतु "**दशरात्र**" होता है । प्रत्येक यज्ञ में **दीक्षा, सुत्या, उपसत्** भेद से क्रमशः तीन कर्म्म करने पड़ते हैं । सर्वमेधयज्ञ में दस दिन तक दीक्षाकर्म्म होता है, दस दिन तक सुत्याकर्म्म होता है एवं १० दिन तक ही उपसद्धोम होता है । तीनों मिलकर एक यज्ञकर्म्म है अतएव ३० दिन में सम्पन्न होने वाले इस सर्वमेध को "**दशरात्र**" कहा जाता है । यही व्यवस्था एकाह, द्व्यह, त्र्यह आदि यज्ञों में समझनी चाहिए । एकाह का अर्थ है एक दिन का यज्ञ । इसका तात्पर्य्य है, तीन दिन का यज्ञ । प्रथम दिन दीक्षाकर्म्म, दूसरे दिन सुत्याकर्म्म, तीसरे दिन उपसद्धोम, इस प्रकार एकाह (एक दिन का) यज्ञ तीन दिन में सम्पन्न होता है । इसी व्यवस्था के अनुसार दशरात्र का अर्थ ३० दिन समझना चाहिए—इस विषय का विशद विवेचन शतपथ-विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए । चूंकि सर्वमेध यज्ञक्रतु दशरात्र है अतएव १० संख्या के सम्बन्ध से इस यज्ञ में विराट्-सम्पत्ति का समावेश हो जाता है । छन्दोविज्ञान के अनुसार विराट् छन्द १० अक्षर का माना जाता है । विराट् ही सर्व अन्न है । इस सर्वान्नभूति के अवरोध (संग्रह) के लिए ही इसमें दशरात्र का समावेश हुआ है । चयनयज्ञ में इष्टकाचिति होती है । यहाँ भी अग्निचिति की प्राप्ति के लिए इष्टकाचिति करनी पड़ती है । अन्तिम संख्या परार्ध्य मानी जाती है । सर्वमेधयज्ञ में अग्नि का परार्ध्य ही चयन होता है । कारण इसका यही है कि सर्वमेधयज्ञ सम्पूर्ण यज्ञों से परम (बृहत्) है । सब यज्ञ इस परमपरार्ध्य सर्वमेधयज्ञ में अन्तर्भूत हैं । इसी परमभाव की प्राप्ति के लिए इसमें परार्ध्य

---

१ शत० ब्रा० १३।७।१।१-२,१३-१४-१५ ।

संख्यायुक्त इष्टकाओं का चयन किया जाता है। परार्ध्य चिति से परम बने हुए इस सर्वमेधयज्ञ के अतिशय से यज्ञकर्त्ता यजमान का मानुषात्मा दैवात्मा से संस्कृत होकर परम बनता हुआ उस परमभावापन्न स्वयम्भूब्रह्म के साथ सायुज्यभाव को प्राप्त हो जाता है।

सर्वमेधयज्ञ कोई साधारण यज्ञ नहीं है। अतुलद्रव्यव्ययसाध्य इस यज्ञ का अनुष्ठान कोई सा ही महापुरुष कर सकता है। सर्वमेध के इसी सर्वोत्कर्ष का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (देवयुग में) भुवन-व्यवस्था के प्रथम आविष्कर्त्ता अतएव "भौवन" नाम से प्रसिद्ध विश्वकर्म्मा प्रजापति ने सर्वमेधयज्ञ किया था। इसी यज्ञ के प्रभाव से वे सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए थे। जो विद्वान् इस यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह भी इसी प्रकार सबका अधिपति बन जाता है। साथ ही में जो विद्वान् इस यज्ञविज्ञान को जानता है, वह भी ज्ञानबल से सबमें श्रेष्ठ बन जाता है। विश्वकर्म्मा इस यज्ञ के यजमान थे एवं महर्षिकश्यप यज्ञ कराने वाले प्रधान ऋत्विक् (अध्वर्यु) थे। यज्ञ समाप्त हो गया एवं विश्वकर्म्मा दक्षिण में अपने राष्ट्र के मध्यभाग की पूर्व की ओर की भूमि कश्यप को देने लगे तो उस भूमिदान को लक्ष्य में रखते हुए कश्यप ने कहा कि हे विश्वकर्म्मन्! संसार में ऐसा कौनसा मरणधर्म्मा मनुष्य है, जो कि मुझे इस सर्वमेधयज्ञ के प्रतिफल में कुछ दे सकता है? इस महाविश्व के मध्य में कश्यप के लिए थोडी सी भूमि देना सर्वमेधयज्ञ का तिरस्कार करना है। सर्वमेध से सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य हो जाता है। इसका एवजाना अन्य विश्व ही हो सकता है, न कि थोड़ा सा भूप्रदेश। इस प्रकार कश्यप ने दक्षिणादान के समय सर्वमेध का सर्वोत्कर्षत्व बतलाया था।

सचमुच सर्वमेधयज्ञ ऐसा ही है। पाठकों को विदित है कि हमने इसे दशरात्रयज्ञ कहा है। दीक्षाकर्म्म के अनुसार सुत्याकर्म्मोपयुक्त दश दिन में क्रमशः इसमें निम्नलिखित कर्म्म किए जाते हैं। इन दसों कर्म्मों से ही इस यज्ञ की परमता प्रकट है—

१–प्रथम दिन में अग्निष्टुत् नाम का **अग्निष्टोम** होता है। अग्निदेवता ही अग्निष्टुत् है। यही अग्निष्टोम है। सम्पूर्ण देवता अग्निमुख हैं। अग्नि पृथिवीस्थानीय है। इस प्रकार प्रथम दिन में अग्निष्टोम करता हुआ यजमान पृथिवीलोकस्थ सम्पूर्ण आग्नेयदेवताओं के द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल पर अपना आधिपत्य जमा लेता है।

२–द्वितीय दिन में इन्द्रस्तुत् नाम का **उक्थ्यस्तोम** होता है। इन्द्र (मरुत्वानिन्द्र) अन्तरिक्ष के अतिष्ठावा देवता हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाले सम्पूर्ण वायव्य एवं सौम्यदेवता इन्द्र के अधिकार में हैं। इस प्रकार द्वितीय दिन में इन्द्रस्तुत् उक्थ्यस्तोम करता हुआ यजमान अन्तरिक्षलोकस्थ सम्पूर्ण इन्द्र-देवताओं के द्वारा सम्पूर्ण भुवर्लोक में अपना आधिपत्य जमा लेता है।

३–तीसरे दिन **सूर्य्यस्तुत्** नाम का उक्थ्यस्तोम होता है। सूर्य्य (सूर्य्योपलक्षित स्वर्लोकाधिष्ठाता दिव्य मघवा इन्द्र) द्युलोक के अधिष्ठाता देवता हैं। द्युलोक में रहने वाले सम्पूर्ण दिव्य देवता इस मघवेन्द्र के अधिकार में हैं। इस प्रकार तृतीय दिन में सूर्य्यस्तुत् उक्थ्यस्तोम करता हुआ यजमान द्युलोकस्थ सम्पूर्ण सौर्य्य देवताओं के द्वारा सम्पूर्ण स्वर्लोक में अपना आधिपत्य जमा लेता है।

४–चौथे दिन **वैश्वदेव कर्म्म** किया जाता है। सम्पूर्ण देवताओं की समष्टि (त्रैलोक्य के देवताओं की समष्टि) ही "**एते वै विश्वेदेवाः यत् सर्वे देवाः**"[1] के अनुसार विश्वेदेव कहलाते हैं। ये विश्वेदेव **महर्लोक** नाम से प्रसिद्ध चौथे आपोलोक के अतिष्ठावा माने गए हैं। जिस प्रकार भुवर्लोक रोदसी त्रैलोक्य का अन्तरिक्ष माना जाता है, एवमेव महर्लोक क्रन्दसीत्रैलोक्य का अन्तरिक्ष माना जाता है। इसी अभिप्राय से–"**अन्तरिक्षलोको महः**"[2]–यह कहा जाता है। यह चौथा आपोलोक वरुण के सम्बन्ध से वरुणलोक भी कहलाता है। इसी वरुणगृह में रोदसीत्रैलोक्य में रहने वाले वसु-रुद्र-आदित्यादि ३३ आग्नेयदेवताओं का तानूनप्त्र होता है। इस प्रकार चतुर्थ दिन में इन चौथे लोक के देवताओं का यजन करता हुआ यजमान चतुर्थलोकस्थ सम्पूर्ण विश्वेदेव-देवताओं के द्वारा सम्पूर्ण महर्लोक में अपना आधिपत्य जमा लेता है।

५–आश्वमेधिक नाम का पाँचवां दिन है। इसमें अश्वपशु का आलम्भन किया जाता है। अश्वपशु पारमेष्ठ्य है। परमेष्ठी को ही जनःलोक कहा जाता है। यही पाँचवां लोक है। इस लोक की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए ही पाँचवें दिन अश्वमेध किया जाता है।

६–छठे दिन पुरुषमेधयज्ञ किया जाता है। पुरुष के आलम्भन (मरण) से पुरुषगत तपःप्राण का यजमान अपने आत्मा में आधान करता हुआ संयतीत्रिलोकी के अन्तरिक्षस्थानीय तपोलोक पर अपना आधिपत्य जमा लेता है।

७–सातवें दिन **अप्तोर्य्याम** नाम का ज्योतिष्टोमयज्ञ किया जाता है। लोकसमाप्ति ही अप्तोर्य्याम है। यही सातवाँ सत्यलोक है। यही सत्य स्वयम्भूब्रह्म है। यही सर्वमेध का अधिष्ठाता है, जैसा कि पूर्वश्रुति से गतार्थ है। "**सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्**" के अनुसार इतर सम्पूर्णयज्ञ, सम्पूर्ण प्राणी, सम्पूर्णभूत, ओषधिवनस्पतियाँ सब कुछ इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। सत्यस्वयम्भू की इसी सर्वसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए सातवें दिन सातवेंलोक के प्रतिनिधिरूप अप्तोर्य्यामस्तोम किया जाता है। इस दिन अग्नि में जड़-चेतन सबकी वपाओं की आहुति दी जाती है। जिन प्राणियों में वपा नहीं होती, उनकी भी आहुति दी जाती है। ओषधि-वनस्पति, शुष्क-आर्द्रअन्न सबकी आहुति दी जाती है। इस सर्वाहुति से सबके प्राण यजमानात्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सर्वप्राणों के बल से यजमान सब पर आधिपत्य जमाने में समर्थ होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति आगे जा कर कहती है—

"अप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति, सर्वेषां यज्ञक्रतूनामाप्त्यै। तस्मिन्त्सर्वान् मेध्यानालभते, यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, वपावपावतां जुहोति। वच उत्कर्त्तमवपाकानां संव्रश्चम्। ओषधिवनस्पतीनां प्रकिरन्ति। शुष्काणां चार्द्राणां चान्नमन्नं जुहोत्यन्नस्यान्नस्याप्त्यै। सर्वं जुहोति, सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै, सर्वस्यावरुद्ध्यै"।[3]

---

१ गो०ब्रा०उ० १।२०। २ शत०ब्रा० १२।३।४।७। ३ शत०ब्रा० १३।७।१।६।

इस प्रकार उक्त प्रकार से सात दिन में क्रमशः **अग्निष्टोम, इन्द्रस्तुत्, सूर्य्यस्तुत्, वैश्वदेव, आश्वमेधिक, पौरुषमेधिक, अप्तोर्य्याम**–इन सातयज्ञों से क्रमशः **अग्नि, इन्द्र, सूर्य्य, विश्वेदेव, अश्व, पुरुष, सत्य,**–इन सात तत्त्वों को अपने मानुषात्मा में प्रतिष्ठित करता हुआ यजमान इन सातों के प्रभाव से क्रमशः **भूः–भुवः–स्वः–महः–जनः–तपः–सत्यम्**–इन सातों लोकों पर अपना आधिपत्य जमाता हुआ, सर्वमेधाधिष्ठाता स्वयम्भूब्रह्म के ब्रह्मबल को प्राप्त कर लेता है। यह ब्रह्म क्षत्र के बिना अविकसित रहता है। इसी क्षत्रभाव की प्राप्ति के लिए—

८–आठवें दिन यह यजमान **त्रिणवस्तोम** करता है। २७ अहर्गणों की समष्टि ही त्रिणवस्तोम है। सम्पत्‌विज्ञान के अनुसार वज्रत्रिणव माना गया है। वज्र क्षत्र की साक्षात् प्रतिमा है। इसी के द्वारा यह क्षत्र बल पर अपना आधिपत्य जमाने में समर्थ होता है।

९–नवें दिन **त्रयस्त्रिंशस्तोम** करता है। ३३ अहर्गणों की समष्टि ही त्रयस्त्रिंशस्तोम है। **"त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो यं वितत्निरे"**–इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार ३३ तन्तुओं की (अहर्गणों की) समष्टि ही विश्वेदेवता है। ये ही विश्वेदेवता विड्बल के स्वरूपसम्पादक माने गए हैं, जैसा कि–**"विशो वै विश्वेदेवाः"**[1]–इत्यादि वचन से स्पष्ट है। ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, क्षत्र क्रियाप्रधान है, विट् अर्थप्रधान है। अर्थ ही ज्ञान-क्रिया की प्रतिष्ठा है। बिना अर्थ के न ब्रह्मबल कुछ कर सकता, न क्षत्रबल कुछ कर सकता है। इसीलिए विड्बल को ब्रह्मक्षत्र की प्रतिष्ठा माना जाता है, जैसा कि–**"तस्मादुभे ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते"**[2]–इत्यादि से स्पष्ट है। त्रयस्त्रिंशस्तोम से यजमान ब्रह्म-क्षत्र की प्रतिष्ठारूप इस विडबल पर ही अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित करता है।

संसार में ज्ञान-क्रिया-अर्थ ये तीन ही शक्तियाँ हैं। तीनों क्रमशः **ब्रह्मवीर्य्य, क्षत्रवीर्य्य, विड्वीर्य्य** नाम से प्रसिद्ध हैं। यजमान पहले ७–१–१ इस क्रम से ९ दिनों में इन तीनों वीर्य्यों को व्यष्टिरूप से अपने अधिकार में करता हुआ—

१०–दसवें दिन **विश्वजित्** नाम का **सर्वपृष्ठ अतिरात्र** करता हुआ समष्टिरूप से सब पर अपना अधिकार जमा लेता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"विश्वजित्सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो दशममहर्भवति। सर्वं वै विश्वजित्। सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः। सर्वं सर्वमेधः। सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै"–इति।[3]

---

१ शत० ब्रा० ५।५।१।१०। २ शत० ब्रा० ११।२।७।१६।

३ शत० ब्रा० १३।७।१।१२।

"स एष सर्वमेधयज्ञः–सर्वहुतो वा सर्वभूतान्तरात्मा" —

ब्रह्म स्वयम्भूः–तदाधारेण कृतो वैधयज्ञो दर्शरात्रोऽपूर्वः परमश्च यज्ञक्रतूनां सर्वमेधः–वैधः—

१–सप्ताहयज्ञः—

१–१–प्रथममहः—→अग्निष्टुत्—→अग्निष्टोमः—→अग्निः (भूः)
२–२–द्वितीयमहः→इन्द्रस्तुत्—→उक्थ्यस्तोमः—→इन्द्रः (भुवः)
३–३–तृतीयमहः→सूर्य्यस्तुत्—→उक्थ्यस्तोमः—→सूर्य्यः (स्वः)
४–४–चतुर्थमहः→विश्वेदेवस्तुत्—→उक्थ्यस्तोमः—→विश्वेदेवाः (महः)
५–५–पञ्चममहः→अश्वस्तुत्—→उक्थ्यस्तोमः—→अश्वः (जनः)
६–६–षष्ठमहः—→पुरुषस्तुत्—→उक्थ्यस्तोमः—→पुरुषः (तपः)
७–७–सप्तममहः→यामस्तुत्—→अप्तोर्यामस्तोमः→सत्यम् (सत्यम्)

} →ब्रह्मवीर्य्यं

—•—

२–एकाहयज्ञः—

८–१–त्रिणवमष्टममहः→वज्रस्तुत्→इन्द्रःक्षत्रम्]→क्षत्रवीर्य्यम्

—०—

३–एकाहयज्ञः—

९–१–त्रयस्त्रिशं नवममहः→प्रतिष्ठास्तुत्→विश्वेदेवाः-विशः]→विड्वीर्य्यम्

—०—

४–एकाहयज्ञः—

१०–१–विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्री दशममहः→सर्वस्तुत्→सर्वम्]→समुच्चयः

} सर्वमेधः

प्राकृतिक सर्वमेधयज्ञ-स्वरूपनिर्वचन—

"प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" "देवाननुविधा वै मनुष्याः" "यद्दै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"– इत्यादि आप्त सिद्धान्त के अनुसार हमारे सारे वैधयज्ञों की मूलप्रतिष्ठा आधिदैविक जगत् में होने वाले प्राकृतिक नित्ययज्ञ ही हैं। विश्वास कीजिए, अग्न्याधान से आरम्भ कर शिरोयागपर्य्यन्त पूर्वप्रतिपादित जितने भी यज्ञ हैं, प्रकृति में वे सब यज्ञ ज्यों के त्यों हो रहे हैं। इसीलिए विश्वेश्वर को यज्ञेश्वर कहा जाता है। यज्ञ की प्रतिष्ठा त्रयीवेद है, अतएव उस यज्ञेश्वर को वेदमूर्त्ति कहा जाता है। मानव संसार में सबसे पहले भारतीय महर्षियों ने ही अपने चिरकालिक तपोयोग के प्रभाव से दिव्यदृष्टि प्राप्त कर उसके द्वारा प्रकृतिदेव के उस गुप्त सन्देश का अध्ययन किया। तद्द्वारा विश्वप्रजा के उपकार के लिए वैधयज्ञों का आविष्कार किया। प्राकृतिक यज्ञानुसार ही सम्पूर्ण कर्म्मकलाप ब्राह्मण एवं सूत्रग्रन्थों के द्वारा हमारे सामने रक्खा। यज्ञविद्या बच्चों का खेल नहीं है। यज्ञ करना विद्युत्-यन्त्र के साथ क्रीड़ा करना है। आप्तग्रन्थों में यज्ञ की जैसी आवृत् (पद्धति) बतलाई गई है, उसका अक्षरशः पालन करने में ही कल्याण है। यदि अपनी ओर से उन चिरन्तन यज्ञ-पद्धतियों में किसी काल्पनिक कर्म्म का समावेश कर दिया जाता है तो इस मानुषभाव के प्रवेश से वही यज्ञ श्रेयोभाव के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाता है। यह एक महादुःख का विषय है कि कुछ समय पूर्व भारतवर्ष में ब्राह्मण जाति में ही एक ऐसे पुरुष का जन्म हुआ, जिसने यज्ञरहस्य को जानते हुए, यज्ञ को केवल वातशुद्धिपरक मानते हुए अपनी कपोल कल्पना से नवीन पद्धतियों का निर्म्माण कर उनके द्वारा यज्ञविद्या का रहा सहा तत्त्व भी नष्ट कर डाला। केशर–कर्पूर–नारियल–गुग्गुलु आदि द्रव्यों का हवनीय द्रव्यों में समावेश कर यज्ञ को एक गन्धी की दूकान बना डाला गया।

नित्यसिद्ध यज्ञकुण्डों के स्वरूपज्ञान से सर्वथा अपरिचित उस पुरुष के अनुयायियों द्वारा जब हम सड़कों पर उन ताम्रमय अवैध यज्ञकुण्डों का विक्रय देखते हैं तो हमारा अन्तस्तल कांप उठता है। सहसा हमारे हृदय से ये उद्गार निकल पड़ते है कि भगवन्! आज आपकी इस यज्ञविद्या की दुर्दशा से हमारी यह दुर्दशा हो रही है। जिस प्रकार आपने देवयुग में स्वर्गभूमि से बृहस्पति को भारतवर्ष में यज्ञविद्या के उद्धार के लिए भेजा था, उसी प्रकार फिर एक बार अपने किसी प्रतिनिधि को भेज कर अविद्यावश नाश की ओर द्रुतगति से जाती हुई आर्यजाति की रक्षा कीजिए। बृहस्पतिसम्बन्धी आख्यान यों है। देवयुगकाल में एक बार भारतीय प्रजा ने "जो यज्ञ करते हैं, उनको भूखों मरना पड़ता है, जो यज्ञ नहीं करते वे आनन्द से अपना जीवन बिताते हैं, फिर हम क्यों उस यज्ञ का अनुष्ठान करें, जिससे हमें आनन्द के स्थान में दुःख पाना पड़े"–यह कहते हुए यज्ञकर्म्म का तिरस्कार कर दिया। उस समय स्वर्ग में इन्द्र का शासन था। इन्द्र भारतवर्ष के सम्राट् थे। मनु भारतवर्ष के सार्वभौम राजा थे। जब भारतवर्ष से उक्त समाचार इन्द्र के पास पहुंचे तो उन्हें बडा खेद हुआ। तत्काल अपनी सुधर्म्मा-सभा में उन्होंने देवताओं की पर्षत् बुलाई एवं सर्वसम्मति से यह निर्णय किया कि बृहस्पति को भारतवर्ष में भेजा जाए एवं वे उन भ्रान्त भारतीयों को यज्ञविद्या का मौलिक रहस्य समझाते हुए उनकी पुनः यज्ञकर्म्म में निष्ठा उत्पन्न करें। निर्णयानुसार बृहस्पति भारतवर्ष में पधारे। यहाँ उन्होंने देखा कि सब द्विजातियों ने यज्ञकर्म्म छोड़ दिया है, सब यज्ञकर्म्म की निन्दा कर रहे हैं। बृहस्पति ने सबको एकत्रित

किया और पूछा कि–"**कथा न यजध्वम् ?** तुम यज्ञ क्यों नहीं करते। उत्तर में वे कहने लगे कि "**किं काम्या यजेमहि । ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति, य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्ति**"–इति (हम क्यों यज्ञ करें, किस प्रयोजन के लिए यज्ञ करें, जब कि हम यह देखते हैं कि जो यजन करते हैं, वे दुःख पाते हैं, जो यजन नहीं करते, वे आराम से रहते हैं)। भारतीय द्विजातिवर्ग के इस उत्तर से बृहस्पति ने जान लिया कि अवश्य ही यज्ञानुष्ठान में इन्होंने मानुषभाव का समावेश करते हुए कोई भारी गलती की है। भारतीय प्रजा ने यज्ञकर्म्म में जो गलती की थी, अतीतानागतज्ञ देवगुरु ने उसे दिव्यदृष्टि से जान लिया। वह गलती क्या थी ? यह भी सुन लीजिए। यज्ञ के लिए वेदि बनाई गई, हवि का परिपाक कर लिया गया। अब वेदि पर कुशास्तरण होने वाला था। इस बर्हिस्तरण से पहले ही किसी ऋत्विक् ने वेदि का स्पर्श कर लिया। उसे यह ध्यान न था कि वेदि स्पर्श से क्या हानि हो जाएगी। भूगर्भ को फोड़ कर वेदि बनाई गई थी। वेदि में विद्युत्प्राण प्रतिष्ठित है। उसके वेग को रोकने के लिए ही बर्हिरूप विजातीय विद्युत्प्राण से इस वेद-विद्युत् का अवरोध किया जाता है। यदि बर्हिस्तरण से पहले वेदि का स्पर्श कर लिया जाता है तो वेदि की विद्युत् मनुष्य के मानुषवीर्य्य से स्वयं भी हतवीर्य्य बनती हुई यज्ञातिशय उत्पन्न करने में असमर्थ होती है एवं वह यज्ञकर्त्ता यजमान अपना स्वरूप भी खो बैठता है। इस एक साधारण सी भूल से वही अभ्युदयमूला यज्ञविद्या इन भारतीय मनुष्यों के लिए प्रत्यवाय का का कारण बन रही थी। बृहस्पति ने इसी गलती का संशोधन किया, यज्ञविद्या से उखड़ी हुई श्रद्धा पुनः प्रतिष्ठित हुई। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स ये हाग्रे-ईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद, ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति, इति (वदन्तः)। तत इतो देवान् हविर्न जगाम। इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति॥ ते ह देवा ऊचुः-बृहस्पतिमाङ्गिरसम्। अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्। तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति। स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः-कथा न यजध्वऽइति। ते होचुः-किङ्काम्या यजेमहि ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति इति। स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः-यद्वै शुश्रुमः-देवानां परिषूतं, तदेष यज्ञो भवति। यञ्छृतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिः, तेनावमर्शमचारिष्ट। तस्मात् पापीयांसोऽभूत। तेन अनवमर्शं यजध्वं, तथा श्रेयांसो भविष्यथ। आ कियत (कब तक) इति। आ बर्हिषस्तरणात्–इति। बर्हिषा हवै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत, बर्हिरेव तत्स्तृणन्नपास्येत्। अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति, अपि पदाभितिष्ठन्ति। स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति, तस्मादनवमर्शमेव यजेत"।[1]

[1] शत० ब्रा० १।२।५।२४-२६।

एक साधारण सी भूल से किसी समय यज्ञकर्म्म प्रत्यवाय का कारण बन गया था। और आज की तो बात ही न पूछिए। आज तो पद-पद पर देवता का अपमान होता है। प्राक्प्रवणा, उदक्प्रवणा के स्थान में वेदि दक्षिणाप्रवणा बना दी जाती है। मन्त्र-प्रयोगकाल में उदात्तादि स्वरों के प्रयोग का तो परिज्ञान ही नहीं है। मन्त्र शुद्ध बोलें जाएँ, यह भी कठिन समस्या हो रही है। प्राकृतिक अग्नि-वायु-आदित्यादि देवताओं को आत्मसात् करने के लिए मन्त्रों का प्रयोग किया है। प्राकृतिक देवता भिन्न-भिन्न छन्दों से छन्दित हैं। उन्हीं छन्दों के आधार पर मन्त्रछन्दों का निर्माण हुआ है। प्राकृतिक देवता की जैसी ऊँची-नीची सम लहर है, उसी के अनुसार मन्त्रों में उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि स्वर-लहरी डाली गई है। यदि ठीक स्वर-संधान के साथ मन्त्र का प्रयोग किया जाता है तो नभोमण्डल में व्याप्त छन्दोमय देवता सजातीय वाग्बन्धन से बद्ध होते हुए आत्मसात् हो जाते हैं। यदि मात्रा-स्वर-वर्ण के प्रयोग में जरा भी असावधानी हो जाती है तो विजातीया मनुष्यवाक् उस दैवीवाक् के प्रबल आघात से आत्मनाश का कारण बन जाती है। इसी दोष को लक्ष्य में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

इसी पाप से आज भारतवर्ष के वे धर्म्माभिमानी संत्रस्त हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। परन्तु बुलाकर उत्पथविधियों द्वारा उनका अपमान करना सर्वनाश का बीज है। जो दशा देवयुग में कुछ दिन के लिए भारतवर्ष की थी, वही दशा आज है। आज सर्वसाधारण में यह भावना दृढमूल बनती जा रही है कि धर्म्म से हमारी अवनति हो रही है, इसलिए इसे छोड देना चाहिए। सावधान! धर्म्म कभी अवनति का कारण नहीं है। अवनति का कारण है—व्याज से धर्म्म का आचरण करना, धर्म्म के नाम पर अधर्म्म करना, उत्पथविधियों का आश्रय लेना—"**न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्**"—अपनी कल्पना का शास्त्रोक्त पद्धतियों में समावेश करना ही व्याज है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञकर्म्मों की पद्धति बतलाते हुए पद-पद पर—

"तदु हैकेऽन्वाहुः—"होता यो विश्ववेदस" इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति। तदु तथा न ब्रूयात्। मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषम्। नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति। तस्माद्यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयात्"।[1]

—इत्यादि रूप से शास्त्रसिद्धकर्म्म में मनुष्यभाव के समावेश का निरोध करते हुए शास्त्रसिद्ध पद्धतियों के अनुसार ही कर्म्म करने का आदेश दिया गया है। स्वयं गीताचार्य भी—"**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य**"—इत्यादि प्रकरण में इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाले हैं।

---

१ शत० ब्रा० १।४।१।३५।

हम कह आए हैं कि सम्पूर्ण वैधयज्ञों की मूलप्रतिष्ठा प्राकृतिक नित्ययज्ञ ही है। उदाहरण के लिए अग्निहोत्रादि को ही लीजिए। संवत्सर एक प्रकार का यज्ञ है। इस संवत्सर में केवल ऋताग्नि, ऋतसोम का समन्वय है। ऋताग्नि में ऋत-सोम की आहुति होने से ही "ऋतु" का जन्म होता है। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सरयज्ञ ही प्रजा का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है, जैसा कि–"**सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। संवत्सरावच्छिन्न अग्नि-सोम ही आगे जा कर अयन, चातुर्मास्य, पक्ष, अहोरात्र, स्वयं संवत्सर भेद से पाँच भागों में विभक्त हो जाता है। दिन अग्नि है, रात्रि सोम है। दोनों की समष्टि अहोरात्र-यज्ञ है। यही अग्निहोत्र है। शुक्लपक्ष अग्नि है, कृष्णपक्ष रात्रि है। दोनों की समष्टि मास है। यही दर्शपूर्णमास यज्ञ है। वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा अग्नि है, शरत्, हेमन्त शिशिर सोम है। दोनों की समष्टि ऋतु हैं। यही चातुर्मास्ययज्ञ है। उत्तरायण अग्नि है, दक्षिणायन सोम है, दोनों की समष्टि अयन है। यही पशुबन्ध-यज्ञ है। इन चारों से संवत्सर-यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है अतएव इन्हें–"**प्राक्सौमिकयज्ञ**"–कहा जाता है। पाँचवाँ समष्टिरूप स्वयं संवत्सरयज्ञ है, इसे ही **सोमयाग** कहा जाता है। प्रकृति की पाँचों शक्तियों का जिस प्रक्रिया से हम अपने आत्मा में आधान करते हैं, वे प्रक्रियाएँ ही अग्निहोत्रादि नामों से प्रसिद्ध हैं। जैसा प्रकृति में हो रहा है एवं प्रकृति अपने नियत अबन्धन यज्ञकर्म्म से जो फल प्राप्त कर रही है, ठीक उसी की नकल पर हम यज्ञकर्म्म करते हैं एवं हमें भी वही फल मिलता है। प्रकृति का शासन-सूत्र ही यज्ञ है। इसी सूत्र के बल से प्रकृति-देवी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं करने में समर्थ बनी हुई है। यज्ञकर्म्म द्वारा ऋषियों ने प्रकृति की इस यज्ञ-नियति को ही हमारे सामने रक्खा। ऐसा कौन सा काम है, जो हम यज्ञ द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते? प्रजापति ने यज्ञ से देवप्रजा उत्पन्न की। उत्पन्न प्रजा ने प्रार्थना की कि भगवन्! आज्ञा दीजिए, हमारा क्या कर्त्तव्य है? प्रजापति ने उत्तर दिया, जो काम (यज्ञ) हमने किया, वही तुम भी करो। अस्तु, जाने दीजिए इन सब यज्ञप्रवादों को, यहाँ हमारा लक्ष्य केवल सर्वमेधयज्ञ है। उसी का प्राकृतिक स्वरूप बतलाना प्रकृत प्रकरणार्थ है।

यों तो यज्ञकर्म्म में सैकड़ों पदार्थ अपेक्षित हैं, परन्तु उन सबकी गणना करना एवं साथ ही में उनका मौलिक स्वरूप बतलाना प्रकृत के संक्षिप्त यज्ञ-प्रकरण में असम्भव है। यहाँ उन स्थूल पदार्थों की गणना कर देना ही पर्य्याप्त होगा, जो कि यज्ञिय उपकरण सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं—**वेदि, आहवनीयकुण्ड, दक्षिणाग्निकुण्ड, गार्हपत्याग्नि, आहुतिद्रव्य,** आहुतिग्रहण करने वाला **आहवनीय अग्नि, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा** ये चार **ऋत्विक्, यज्ञकर्त्ता यजमान, यजमानपत्नी, ध्रुवा, स्रुव, स्रुक् और** जिन मन्त्रों से आहुति दी जाती हैं, वे **वेदमन्त्र**। बस, प्रकृत में इन्हीं यज्ञोपकरणों का स्वरूप विजिज्ञास्य है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यज्ञकर्म्मभेद से वेदि, कुण्ड आहुति-द्रव्य, अग्नि, ये भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रकृत में सर्वमेधयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले वेदि, कुण्डादि का स्वरूप ही बतलाया जाएगा।

१–वेदिः

वेदि उस उपकरण का नाम है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण यज्ञकर्म्मकलाप प्रतिष्ठित रहता है। मूलधरातल का ही नाम वेदि है। वेदि से ही वेद की उपलब्धि होती है। वेदि पर प्रतिष्ठित वेद से

ही यज्ञकर्म्म का वितान होता है। न केवल वेद ही, अपि तु, वेदमूलक यज्ञ भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है अतएव–"अन्वविन्दन् यत्र देवा यज्ञं वेदाञ्च"–इस निर्वचन के अनुसार इस वेद-यज्ञ प्रतिष्ठा को वेदि कहा जाता है। वेदि यदि योषा (स्त्री) है, तो वेद एवं यज्ञ वृषा (पुरुष) है। वेदि योषास्थानीया है, अतएव मनुष्यकृत वैधयज्ञ में वेदि का स्वरूप स्त्री की आकृति के अनुसार ही बनाया जाता है। स्त्री वह प्रशस्ता मानी जाती है, जिसका श्रोणिभाग विपुल हो, स्कन्धभाग छोटा हो, मध्यभाग कृश हो। वेदि ठीक इसी आकार की बनाई जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्, मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्तात्–उर्वी। एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति। पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्या–इति। जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति"।[1]

वेदि शब्द का अर्थ है "पृथिवी"। आज दिन पृथिवी उसे ही समझा एवं कहा जाता है, जिस पर हम प्रतिष्ठित हैं। यह भी वेदि अवश्य है, परन्तु यही वेदि नहीं। प्रतिष्ठा स्थान को पृथिवी कहा जाता है। हमारी प्रतिष्ठा यह पृथिवी है तो पितरों की प्रतिष्ठा चन्द्रमा है, देवताओं की प्रतिष्ठा सूर्य्य है, विश्वेदेवों की प्रतिष्ठा परमेष्ठी है। ऋषियों की प्रतिष्ठा स्वयम्भू है। पिण्ड ही प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा ही पृथिवी है। पृथिवी ही वेदि है। प्रत्येक पिण्ड एक-एक स्वतन्त्र पृथिवी है। सम्पूर्ण ग्रह-तारा-सूर्य्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी सब एक-एक पृथिवी हैं। अनन्त पृथिवीयाँ हैं। फलतः अनन्त वेद हैं–"**अनन्ता वै वेदाः**"[2] समष्टिरूप से सप्तलोकात्मिका एक ही पृथिवी है। एक ही वेदि है। एक ही वेद है। यही सर्वमेध की सर्ववेदि है, सर्ववेद है, सर्वयज्ञ है। आज हम अपने पाठकों के सामने ऋक्संहिता के वे दो मन्त्र उपस्थित करना चाहते हैं, जिन से वेदी, यज्ञ, आहुति द्रव्य, यजमान, चारों का स्पष्टीकरण हो जाता है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१॥[3]

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या, अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो, ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥[4]

उक्त दोनों मन्त्रों का सीधा-सीधा यही अर्थ है कि मैं तुम से पृथिवी का अन्त (अन्तिम सीमा) पूछता हूँ, जहाँ इस भुवन की नाभि है, उस स्थान को पूछता हूँ"। दूसरा मन्त्र कहता है—यह वेदि ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है, यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, यह सोम ही वर्षणशील अश्व का रेत है। यह ब्रह्म ही वाक् का परमाकाश है।

---

१ शत० ब्रा० १।२।५।१६।　　　　२ तै० ब्रा० ३।१०।११।४।
३ ऋग्वेद मं० १।१६४।३४।　　　४ ऋग्वेद मं० १।१६४।३५।

सचमुच उत्तरश्रुति ने थोड़े से शब्दों में यज्ञविद्या का सर्वात्मना विश्लेषण कर डाला है। सप्तलोकात्मिका महापृथिवी ही वेदि है। यह वेदि भूतभागप्रधाना है। विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य ही यज्ञ है। स्वयम्भू ब्रह्म ही परम आवपनरूप खं ब्रह्म है एवं सोम ही विश्वयज्ञ का आहुति द्रव्य है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि विश्व **स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी** भेद से त्रिपर्वा है। इन तीनों के अधिष्ठाता क्रमशः **ब्रह्मा-विष्णु–महेश** ये तीन देवता हैं। ब्रह्मा एकाकी हैं। ब्रह्मागर्भित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-तीनों की समष्टि विष्णु हैं, ब्रह्मागर्भित इन्द्र, अग्नि, सोम तीनों की समष्टि महेश्वर हैं। स्वयम्भू ब्रह्मा की मूल प्रतिष्ठा हैं, सूर्य्य विष्णु की मूल प्रतिष्ठा है एवं पृथिवी महेश्वर की मूल प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा ज्ञानपति हैं, विष्णु कर्म्मपति हैं, महेश्वर अर्थपति हैं। महेश्वर वाक्प्रधान होते हुए भूतप्रधान हैं, अतएव इन्हें **भूतेश** कहा जाता है। विष्णु प्राणप्रधान बनते हुए कर्म्मरूप यज्ञप्रधान हैं अतएव इन्हें "**यज्ञेश्वर**" कहा जाता है। ब्रह्मा मनःप्रधान बनते हुए ज्ञानप्रधान हैं अतएव इन्हें **चित्पति** कहा जाता है। इन तीनों की व्याप्ति ही विश्वव्याप्ति है। भूतेश ही व्यक्त ब्रह्म हैं। इन्हीं पर सम्पूर्ण अव्यक्तभाव प्रतिष्ठित है। ये ही व्यक्त महादेव अव्यक्त पदार्थों के लिङ्ग (परिचायक) हैं, अतएव इनकी लिङ्गरूप से उपासना की जाती है अतएव इन्हें पृथिवीस्थानीया वेदि कहा जा सकता है। इसी भूतमयी वेदि के आधार पर सूर्य्यरूप यज्ञकर्म्म प्रतिष्ठित है। एवं ब्रह्मा इस अपनी ज्ञानशक्ति से भूताधार पर इस यज्ञकर्म्म का संचालन करते हुए, इस विश्वयज्ञ के यजमान बन रहे हैं। स्वयम्भू-सूर्य्य की सन्धि में पारमेष्ठ्य दिक्सोम (पवित्र सोम) है एवं सूर्य्य और पृथिवी के मध्य में भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध चान्द्रसोम है। सोमत्वेन दोनों सोम एक है। यही सोम इस विश्वयज्ञ का आहुति द्रव्य है। अपनी नीचे की रश्मियों से सूर्य्य चान्द्रसोम को अपने सावित्राग्नि में आहुत करता है एवं ऊपर की रश्मियों से पारमेष्ठ्य सोम को अपने में आहुत कर रहा है। सोमाहुति के प्रभाव से ही–"**त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ**"–इस मन्त्रवर्णन के अनुसार सूर्य्य त्रैलोक्य में प्रकाशित हो रहा है। यही तो यज्ञनारायण के साक्षात् दर्शन हैं। सोम ही इस विश्वयज्ञ का आहुति द्रव्य है। यही तो सर्वमेधयज्ञ की साक्षात् प्रतिमा है। "**पाङ्क्तो वै यज्ञः**"–इस अनुगम श्रुति के अनुसार यह सर्वमेधयज्ञ वेदि (पृथिवी), यज्ञ (सूर्य्य), ब्रह्मा (स्वयम्भू), पारमेष्ठ्यसोम, चान्द्रसोम से पाङ्क्त (पञ्चावयव) बन रहा है। सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि भू से आरम्भ कर सत्यलोक पर्य्यन्त जो एक विश्वधरातल है, वही सर्वमेधयज्ञ की वेदि है। इसी महावेदि पर प्रतिष्ठित हो कर वेदोपलब्धि द्वारा प्रजापति सर्वमेधयज्ञ करने वाले हैं। निम्नलिखित श्रौत वचन वेदि के उक्त स्वरूप का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

१–वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्—

१–वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीं सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि।
गर्भं बिभर्ति भुवनेष्वन्तस्ततो यज्ञो जायते विश्वदानिः॥[1]

---

१ तै० ब्रा० ३।३।६।१०।

२–त्वया वेदिं विविदुः पृथिवीं त्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः ।
अच्छिद्रं यज्ञमन्वेषि विद्वान् त्वया होता संतनोत्यर्धमासान् ॥[1]

३–अयं वेदः पृथिवीमन्वविन्दत् । गुहा सतीं गहने गह्वरेषु ।
स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्रं यज्ञं भूरिकर्म्मा करोतु ॥[2]

४–तं (यज्ञं) वेद्यामन्वविन्दन् । यद्वेद्यामन्वविन्दंस्तद्वेदेर्वेदित्वम् ।[3]

५–यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम् ।[4]

६–एतावती वै पृथिवी । यावती वेदिः ।[5]

७–तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीति ।[6]

८–वेदिर्वै सलिलम् ।[7]

९–स विश्वाचीरभिचष्टे, घृताचीः, इति स्रुचश्चैतद्वेदीश्चाह ।[8]
(विश्वाची वेदिः)–घृताची स्रुक्)

१०–योषा वै वेदिर्वृषा वेदः ।[9]

११–वेदिर्वै परोऽन्तः पृथिव्याः ।[10]

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व के वैध सर्वमेधयज्ञ-प्रकरण में हमने बतलाया है कि भौवन वैश्वकर्म्म के प्रति दक्षिणादान अवसर पर कश्यप ने–"उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये"–यह कहा था । सलिल का मध्य स्थान यज्ञ है । यही सूर्य्यस्थानीय है । "इमे वै लोकाः सरिरम्"[11]–"वाग्वै सरिरम्"[12]–"आपो वै सरिरम्"[13]–"आपो वा इदमग्नेमहत् सलिलमासीत्"[14]–"अद्भ्यः पृथिवी"[15]–"लोका ह्यप्सु

१ तै० ब्रा० ३।७।४।१२ ।
२ तै० ब्रा० ३।७।६।१३ ।
३ ऐ० ब्रा० ३।६ ।
४ शत० ब्रा० १।२।५।१० ।
५ तै० ब्रा० ३।२।६।१२ ।
६ शत० ब्रा० १।२।५।७ ।
७ शत० ब्रा० ३।६।२।५ ।
८ शत० ब्रा० ६।२।३।१७ ।
९ शत० ब्रा० १।६।२।२१ ।
१० तै० ब्रा० ३।६।५।५ ।
११ शत० ब्रा० ७।५।२।३४ ।
१२ शत० ब्रा० ७।५।२।५३ ।
१३ शत० ब्रा० ७।५।२।१८ ।
१४ जै० उ० १।५६।१ ।
१५ तैत्तिरीयोप० २।१ ।

प्रतिष्ठिताः" (महाभारत)–"वेदिर्वै सलिलम्"–इत्यादि वचनों के पूर्वापर समन्वय से हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि वेदि से सप्तलोकात्मक विश्व ही (सर्वमेधयज्ञ में) अभिप्रेत है। बिना इस समन्वय के सर्वमेध का सब यज्ञक्रतुओं की अपेक्षा परमत्व ही सिद्ध नहीं होता। बस, सर्वमेधयज्ञ की वेदि कौन सी है ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

——०——

२–अग्निकुण्ड—

जितने भी वितानयज्ञ होते हैं, उन सबमें (प्रत्येक में) **आहवनीय-दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य** भेद से तीन-तीन अग्निकुण्ड होते हैं। हमारे इस सर्वमेधयज्ञ में सत्यलोकाधिष्ठाता स्वयम्भू आहवनीयकुण्ड है, स्वर्लोकाधिष्ठाता सूर्य्य दक्षिणाग्निकुण्ड है एवं भूलोकाधिष्ठात्री पृथिवी गार्हपत्यकुण्ड है। विराट् प्रजापति के इन्हीं तीनों कुण्डों के लिए यजुःश्रुति ने क्रमशः **सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्** यह कहा है। आहवनीयकुण्डात्मक स्वयम्भू इस यज्ञ का मस्तक है। दक्षिणाग्निकुण्डात्मक सूर्य्य इस यज्ञ का चक्षु – हृदय है एवं गार्हपत्यकुण्डात्मिका पृथिवी (स्तौम्या पृथिवी-महापृथिवी) इस यज्ञ के पाद हैं। इन तीनों कुण्डों से यज्ञमूर्त्ति बना हुआ विराट् प्रजापति सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है।

——०——

३–आहुतिद्रव्य—

पूर्व के वेदिप्रकरण में हमने सोम को आहुतिद्रव्य बतलाया है। जिस प्रकार अग्नितत्त्व देवसृष्टि का आरम्भक बनता है, एवमेव सोमतत्त्व भूतसृष्टि का आरम्भ बनता है। अग्नि के गर्भ में जा कर सोम ही भूतरूप में परिणत होता है। ऐसी दशा में सोमोपलक्षित सम्पूर्ण भूतों को (पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश पाँचों भूतों को) हम इस यज्ञ का आहुतिद्रव्य मानने के लिए तय्यार हैं। और-और जितने भी यज्ञ हैं, उनमें केवल नियत भूत ही आहुतिद्रव्य बनते हैं। किसी में पुरोडाशभूत, किसी में पशुभूत, किसी में सोमभूत, आहुतिद्रव्य बनते हैं, परन्तु इसमें सम्पूर्णभूत आहुतिद्रव्य हैं। साथ ही में इसमें स्वयं यज्ञकर्त्ता प्रजापति का आत्मा भी आहुतिद्रव्य बना हुआ है। सम्पूर्णभूत आत्मा में आहुत हैं एवं आत्मा इन सम्पूर्ण-भूतों में आहुत है। यही तो इस सर्वमेधयज्ञ की सर्वता, परमता एवं सर्वोत्कृष्टता है। जैसा कि पूर्व की वैधसर्वमेधयज्ञनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है।

——०——

४–आहवनीय अग्नि—

स्वयम्भू को हमने आहवनीयकुण्ड बतलाया है। आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि ही आहवनीयाग्नि कहलाता है। यों तो अग्नि की अनेक जातियाँ है। परन्तु–"**चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास**"–इस निगम-श्रुति के अनुसार अग्नि की चार प्रधान जातियाँ मानी गई हैं। वे ही चारों

जातियाँ क्रमशः **सत्याग्नि, देवाग्नि, अन्नादाग्नि, भूताग्नि,** नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयम्भू में रहने वाला वेदमूर्त्ति अग्नि सत्याग्नि कहलाता है। वाङ्मयभाग के कारण इसे **वागग्नि,** यजुःसम्बन्ध से इसे **सार्वयाजुषाग्नि,** ब्रह्मा के सम्बन्ध से इसे **ब्रह्माग्नि,** वेद के सम्बन्ध से इसे वेदाग्नि, सत्यलोक के सम्बन्ध से इसे **सत्याग्नि,** कहा जाता है। इसी अग्नि से प्रजापति अपने आत्मा एवं सम्पूर्ण भूतों की आहुति देता है। सत्याग्नि के गर्भ में विश्व-विश्वात्मा दोनों आहुत हो रहे हैं। **"सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्"**। सूर्य्यरूप दक्षिणाग्निकुण्ड में रहने वाला अग्नि देवाग्नि है। आंगिरोऽग्नि के-सम्बन्ध से इसे **अङ्गिराग्नि,** गायत्रीमात्रिकवेदसम्बन्ध से इसे **गायत्राग्नि** कहा जाता है। यही इस यज्ञ की दक्षिणाग्नि है। यही श्रपणाग्नि है। महापृथिवीरूप गार्हपत्यकुण्ड में रहने वाला अग्नि ही **अन्नादाग्नि** है। संवत्सरस्वरूपसमर्पक होने से इसे **संवत्सराग्नि,** भूतों के अधिष्ठाता होने से इसे **भूतानां पतिः,** प्राण-अपान-व्यान के मन्थन से उत्पन्न होने के कारण इसे **वैश्वानराग्नि,** यज्ञमात्रिकवेद के सम्बन्ध से इसे **यज्ञाग्नि** कहा जाता है। यही इस यज्ञ का गार्हपत्याग्नि है। इसे ही चितेनिधेय अग्नि कहा जाता है। यज्ञभाषा में इस महापृथिवी को ही नूतन गार्हपत्य कहा जाता है। भूपिण्डरूप गार्हपत्य में प्रतिष्ठित रहने वाला मर्त्य अग्नि ही **भूताग्नि** है। चयन-सम्बन्ध से इसे चित्याग्नि, मृत्यु-सम्बन्ध से इसे **मर्त्याग्नि,** ज्ञान-क्रिया की प्रतिष्ठा होने से इसे **प्रतिष्ठाग्नि,** मर्त्यवाङ्मय होने से इसे **वागग्नि** भी कहा जाता है। यज्ञभाषा में भूताग्नि अधिष्ठाता इस भूपिण्ड को **पुराणगार्हपत्य** कहा जाता है। यहीं भूताग्नि प्रतिष्ठित रहता है। इस भूताग्नि के अधिष्ठाता नूतनगार्हपत्य में रहने वाले अर्थाधिष्ठाता भूतपति महेश्वर (अन्नादाग्नि) हैं। देवाग्नि के अधिष्ठाता कर्म्माध्यक्ष यज्ञमूर्त्ति विष्णु हैं एवं सत्याग्नि के अधिष्ठाता ज्ञानाध्यक्ष चिन्मूर्त्ति ब्रह्मा हैं। महावेदि में एक उत्तरावेदि और रहती है। सौर हिरण्मयमण्डल ही इस सर्वमेधयज्ञ की उत्तरावेदि है। कहना यह है कि इन चारों अग्नियों में से सत्यस्वायम्भुव अग्नि ही सर्वमेधयज्ञ का आहवनीय अग्नि है। इसी में उभयविध (आत्मा एवं भूत) आहुतिद्रव्यों की आहुति हो रही है। **"आहूयन्ते यत्राहुतिद्रव्याणि"**—इस निर्वचन के कारण ही इस अग्नि को आहवनीय कहा जाता है।

चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास—

१–सत्याग्निः→आहवनीयाग्निः	]→स्वायम्भुवः	]—ब्रह्मा	
२–देवाग्निः-→दक्षिणाग्निः	]→सौरः	]—विष्णुः	
३–अन्नादाग्निः→नूतनगार्हपत्याग्निः	]→पार्थिवः	} —महेश्वरः	
४–भूताग्निः--→पुराणगार्हपत्याग्निः	]→भौमः	}	

५–सर्वमेधयज्ञ के ऋत्विक्—

आहुतिद्रव्यों के द्वारा ऋतुरूप यज्ञसम्पत्ति का सम्पादन करने वाले दक्षिणाक्रीत याज्ञिक ही **"ऋत्विक्"** कहलाते हैं। ऋत्विक् ही यज्ञ की प्रधान सम्पत्ति मानी गई है। यदि ऋत्विक् अयोग्य है तो इतर सब सामग्रियों के रहते हुए भी यज्ञ स्वसंपत्ति से च्युत होता हुआ यज्ञकर्त्ता यजमान के नाश का

कारण बन जाता है । यदि ऋत्विक् योग्य है तो सामग्री की अल्पता में भी समृद्धि से युक्त हो जाता है । इसी ऋत्विक्-सम्पत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—ऋत्विजो हैव देवयजनम् । ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति, सैवाह्वला । एतन्नेदिष्ठमामिव मन्यामहे"—इति ।[1]

आज हमें अपने यज्ञ में ऋत्विक् ही तो नहीं मिलते । इसीलिए तो आज हमारा सर्वमेधयज्ञ वृद्धि के स्थान में व्यृद्धि का कारण बन रहा है । अस्तु, विचार यह करना है कि सर्वमेधयज्ञ में ऋत्विक् कौन हैं ? **होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा** भेद से यज्ञ में चार ऋत्विक् अपेक्षित हैं । होता **शास्त्रकर्म्म** करता है, अध्वर्यु **ग्रहकर्म्म** करता है । उद्गाता **स्तोत्रकर्म्म** करता है एवं ब्रह्मा तीनों कर्म्मों का निरीक्षण करता है । ऋग्वेदी होता का कर्म्म **हौत्रकर्म्म**, यजुर्वेदी अध्वर्यु का कर्म्म **आध्वर्यवकर्म्म**, सामवेदी उद्गाता का कर्म्म **"औद्गात्रकर्म्म"** एवं त्रिवेदी, किं वा चतुर्वेदी ब्रह्मा का कर्म्म **ब्रह्मत्व** नाम से प्रसिद्ध है । प्रकृत में अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है एवं बृहस्पति ब्रह्मा हैं । सम्पूर्ण भूतों की आहवनीय में आहुति देना है । पार्थिव अग्नि की प्रतिष्ठा ऋग्वेद है । ऋग्वेदावच्छिन्न पार्थिव अग्नि ही हौत्ररूप शास्त्रकर्म्म करता हुआ होता बन रहा है, जैसा कि—**"अग्निमीळे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्"** —इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । अन्तरिक्ष में वायु का साम्राज्य है । इसकी प्रतिष्ठा यजुर्वेद है । यजुर्वेदावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य वायु ही आध्वर्यवरूप ग्रहकर्म्म करता हुआ अध्वर्यु बन रहा है । वायुद्वारा ही आहुतिद्रव्य आहवनीयाग्नि में आहुत होते रहते हैं । द्युलोक में मघवा नाम से प्रसिद्ध इन्द्र नाम के ज्येष्ठ आदित्य का साम्राज्य है । इसकी प्रतिष्ठा सामवेद है । सामवेदावच्छिन्न द्युलोकस्थ आदित्य ही औद्गात्ररूप स्तोत्रकर्म्म करता हुआ उद्गाता बन रहा है । सूर्य्यलोक से ऊपर आपोमय परमेष्ठीमण्डल बतलाया गया है । इसी के लिए—**"अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः"**—यह कहा जाता है ।

सम्पूर्ण विश्व के पूर्व-उत्तर भेद से दो विभाग माने गए हैं । विश्व केन्द्रस्थ सूर्य्य ही इन दोनों का विभाजक है । सूर्य्य से ऊपर-ऊपर का भाग पूर्वभाग है एवं सूर्य्य से नीचे-नीचे का भाग उत्तरभाग है । इन दोनों भागों में से पूर्वभाग में रहने वाले **स्वयम्भू, विश्वकर्म्मा, सूत्रात्मा, सविता, वाचस्पति, शिव, हंस, ब्रह्मणस्पति** आदि जितने भी ग्रहोपग्रह हैं, बृहस्पति उन सब के अन्त में है । बृहस्पति तीन प्रकार के हैं । सुप्रसिद्ध लुब्धकबन्धु नाम के नक्षत्र को भी बृहस्पति कहा जाता है । **"स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु"** से यह नाक्षत्रिक बृहस्पति ही अभिप्रेत है । दूसरा सुप्रसिद्ध ग्रहबृहस्पति है । मंगल के बाद देवसेना, देवसेना के आगे-आगे चलने वाले बृहस्पति ग्रहात्मक हैं । **"इन्द्र आसां (देवसेनानां) नेता, बृहस्पतिर्दक्षिणा"** —इत्यादि से यह ग्रह बृहस्पति ही अभिप्रेत है । ये दोनों ही बृहस्पति रोदसी त्रैलोक्य के गर्भ में (सूर्य्य-पृथिवी के मध्य में) प्रतिष्ठित हैं । तीसरा बृहस्पति क्रन्दसी-त्रिलोकी के प्रधानग्रह परमेष्ठी का उपग्रह

---

१ शत० ब्रा० ३।१।१।५ ।

है । यह सूर्य्य से ऊपर है । सूर्य्यगत दिव्य-इन्द्र जहाँ **राजसूययज्ञ** का अधिष्ठाता माना जाता है, वहाँ यह पारमेष्ठ्य बृहस्पति **वाजपेययज्ञ** का संचालक माना गया है । इसीलिए वाजपेय-यज्ञ को **"बृहस्पतिसव"** कहा जाता है । राजसूय से **"राजा"** भाव प्राप्त होता है, वाजपेय से साम्राज्यपद मिलता है–**"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति, सम्राड्वाजपेयेन"** । सौरसाम बृहतीवाक् के सम्बन्ध से **बृहत्साम** कहलाता है । सूर्य्य से ऊपर रहने वाला, पूर्वभागस्थ पूर्वग्रहों के अन्त में प्रतिष्ठित बृहस्पति ही इस बृहतीवाक् का किं वा बृहत्साम का पति है अतएव इसे बृहस्पति कहा जाता है । जिस प्रकार पूर्वभागस्थ पूर्वग्रहोपग्रहों में बृहस्पति सबके अन्त में है एवमेव उत्तरभागस्थ **इन्द्र (सूर्य्य) बृहस्पति-मंगल-शनि-देवसेना-बुध-चन्द्रमा-पृथिवी** इन सब उत्तर ग्रहोपग्रहों में इन्द्र सबके आरम्भ में हैं, जैसा कि–**'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः''**–इस वचन से स्पष्ट है । इन्द्ररूप आदित्य उद्गाता है । इन्द्र से नीचे रहने वाला अन्तरिक्षस्थ वायु अध्वर्यु है, वायु से नीचे रहने वाला पार्थिव अग्नि होता हैं । इन तीनों ऋत्विजों का निरीक्षक पारमेष्ठ्य लोकस्थ बृहस्पति ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है । इसमें चारों वेद अन्तर्भूत हैं । सर्वमेध-यज्ञातिरिक्त सांवत्सरिक-यज्ञों में होता आदि तो अग्नि-वायु-आदित्य ही रहते हैं, परन्तु ब्रह्मा चन्द्रमा बनता है, जैसा कि–**"ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु-चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः"**[1]–इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । परन्तु इस सर्वमेधयज्ञ में बृहस्पति ही ब्रह्मा है । इस प्रकार **अग्नि-वायु-आदित्य, बृहस्पति** ये चारों ऋत्विक् ऋक्सम्बन्धीहौत्र (शस्त्र), यजुः सम्बन्धी आध्वर्यव (ग्रह), सामसम्बन्धी औद्गात्र (स्तोत्र), त्रयीवेद सम्बन्धी ब्रह्मत्व-कर्म्म का अनुष्ठान करते हुए उस विश्वमूर्त्ति प्रजापति के सर्वमेधयज्ञ का सञ्चालन कर रहे हैं । शस्त्र-स्तोत्रादिकर्म्मों का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान आगे के **"यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः"** इस प्रकरण में किया जाएगा ।

—o—

६–यज्ञकर्त्ता यजमान—

प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही इस यज्ञ का यजमान है । पुरुष षोडशी है, प्रकृति पञ्चावयवा है । एकल अव्यय, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर की समष्टि ही षोडशी पुरुष है । प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद की समष्टि ही पञ्चावयवा प्रकृति है । प्रकृति कर्म्मप्रधाना है, पुरुष ज्ञान-प्रधान है । ज्ञानमूर्त्ति पुरुष कर्म्ममयी प्रकृति के समन्वय से ही उक्त सर्वमेधयज्ञ में प्रवृत्त होता है । इस यज्ञसिद्धि के लिए वह सर्वप्रथम प्रकृति के प्राणभाग से वेद ही उत्पन्न करता है, जैसा कि–**"ब्रह्माक्षर-समुद्भवम्"**–इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । प्रकृति के सहारे इस यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ अपने आपकी (पुरुषभाग की) भी उक्त सत्याग्नि में आहुति दे देता है एवं प्रकृतिरूप भूतभाग की भी आहुति दे देता है । इस यज्ञ का परिणाम यह होता है कि वह सबमें व्याप्त हो जाता है, सब उसमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं । वेदमूर्त्ति बन कर ही वह इस यज्ञ का यजमान बनता है । वेद से

---

१ शत० ब्रा० १३।२।७।७ ।

ही स्वयम्भू ब्रह्म का विकास होता है, अतएव अन्ततोगत्वा यजमान शब्द का **"पुरुष-प्रकृतिगर्भित वेदमूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्म ही यजमान है"**–इस वाक्य पर पर्यवसान मानना पड़ता है। यही आनन्त्यप्राप्ति के लिए सर्वमेधयज्ञ में प्रवृत्त होता है।

—०—

७–यजमानपत्नी—

प्रकृतिपुरुषगर्भितवेदमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म यज्ञ करने की इच्छा करता है। परन्तु बिना पत्नी के वह यज्ञ करने में सर्वथा असमर्थ है। साथ ही में इस समय स्वयम्भूब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुतत्त्व का सर्वथा अभाव है। अपनी इसी समस्या को हल करने के लिए स्वयं स्वयम्भू यजमान को अपने शरीर के दो टुकड़े कर आधे को पुरुष बनाना पड़ता है, आधे को स्त्री बनाना पड़ता है। जैसा कि–**"एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च०"**–इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों से स्पष्ट है। **ऋक्-यजुः-साम** की समष्टि ही त्रयीब्रह्म है। यही उस यजमान का शरीर है। वस्तुतः ऋक्-साम तो शरीर के आयतन मात्र हैं। शरीर तो केवल यजुः ही है। इस यजुः में यत्–जू–दो भाग हैं। यत् प्राण है, जू वाक् है। प्राणमयी वाक् ही यजुः है। यही इसका शरीर है। प्राणव्यापार से वाक् ही **वाक्-पानी** दो रूप धारण कर लेती है। **"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्"**–इस सिद्धान्त के अनुसार वाक् अंशात्मना पानी के रूप में परिणत होती है। यही यज्ञसिद्धि का पहला द्वार है। इसीलिए यज्ञकर्म्म में सबसे पहले **अपांप्रणयन** कर्म्म किया जाता है, जैसा कि शतपथविज्ञानभाष्य[1] के उक्त प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है। यही 'आप' उसका अर्द्धनारीशरीर है। वाक्भाग पुरुष है, पानीभाग स्त्री है। यही अप्तत्त्व इस यजमान की पत्नी है। इसके समन्वय से प्रजापति यज्ञद्वारा विराट् विश्व को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। यही विश्वसृष्टि के मूलदम्पती हैं। सर्वमेधयज्ञाधिष्ठाता इसी यजमान एवं यजमान की पत्नी का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

> **द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।**
> **अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥**[2]

८–ध्रुवा, ९–स्रुव, १०–स्रुक्—

ध्रुवादि के प्राकृतिकस्वरूप-परिज्ञान से पहले वैधयज्ञसम्बन्धी ध्रुवादि का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। वैधयज्ञ में **स्रुव, ध्रुवा, जुहू, उपभृत्, अग्निहोत्रहवणी,** ये पाँच पात्र प्रधान माने गए हैं। इन्हीं से आहुतिकर्म्म सम्पन्न होता है। इन पाँचों की समष्टि **"स्रुक्"** है। इन्हीं के लिए **ब्राह्मण-**ग्रन्थों में **"स्रुचः"** शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन पाँचों में से अग्निहोत्रहवणी को छोड़ते हैं। शेष चारों का ही प्रकृत में सम्बन्ध है। ध्रुवा **ध्रुवा**[1] है, स्रुव **स्रुव**[2] है एवं जुहूपभृत् की समष्टि **स्रुक्**[3] है।

---

१ द्रष्टव्य शास्त्री जी कृत शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्ड।
२ मनुस्मृति अ० १।३२।

८–ध्रुवा—

विकङ्कत काष्ठ से इसका निर्म्माण होता है। इसका आकार ठीक जुहू जैसा होता है। यज्ञारम्भ से यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त यह नियत स्थान में प्रतिष्ठित रहती है। इसमें आज्य भरा रहता है अतएव इसे **"आज्यस्थाली"** भी कहा जाता है। आहुतिकर्म्म में जितना आज्य अपेक्षित रहता है, वह पहले से इसमें भर दिया जाता है। न आवश्यकता से अधिक, न आवश्यकता से कम, किन्तु अपेक्षित आज्य इसमें रहता है। यदि बच जाता है तो वह अतिरिक्त भाग शत्रुसमृद्धि का कारण बनता है एवं कम रहता है तो यज्ञसमृद्धि के नाश का कारण बनता है। जब-जब आहुति की आवश्यकता होती है, तब-तब स्रुव के द्वारा इस ध्रुवा से घृत ले लिया जाता है। स्वयं ध्रुवा एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसे "ध्रुवा" (स्थिर) कहा जाता है।

९–स्रुवा—

खदिर (खैर) की लकड़ी का स्रुव बनाया जाता है। इसके अग्रभाग में अंगुष्ठपर्वमात्र वर्त्तुलबिल बनाया जाता है। यह अरत्निमात्र अथवा बाहुमात्र लम्बा होता है। वैकङ्कतस्रुव इसी का अवान्तर भेद है। चूंकि आज्यादिद्रव्य इससे स्रुत होता है, अतएव इसे स्रुव कहा जाता है।

१०–स्रुक्—

पलाश (छीला) की लकड़ी की जुहू बनाई जाती है। **"हूयते अनया"**–इस निर्वचन के अनुसार इसे जुहू कहा जाता है। पुष्कर स्रुक् इसी का अवान्तर भेद है। इसका आकार अग्निहोत्रहवणी जैसा होता है। इसी से अग्नि में आहुति दी जाती है।

अश्वत्थ की लकड़ी से उपभृत् का निर्म्माण होता है। ठीक जुहू जैसा ही इसका आकार होता है। इसका दण्ड २४ अंगुल लम्बा रहता है। यह जुहू के नीचे लगी रहती है, अतएव इसे उपभृत् कहा जाता है। स्रुव से जुहू में घृत डालते समय अथवा जुहू से आहुति देते समय जो घृत गिरता है, वह इसी में प्रतिष्ठित होता रहता है, इसलिए भी इसे उपभृत् कहा जाता है। यदि जुहू का घृत जमीन पर गिर जाएगा तो इससे–**"यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं तद्भ्रातृव्यमभिगच्छति"**–इस सिद्धान्त के अनुसार शत्रुपक्ष की वृद्धि होगी। इस दोष को हटाने के लिए ही जुहू के नीचे उपभृत् लगाया जाता है। जुहूपभृत् दोनों की समष्टि ही स्रुक्" है। यज्ञ में जिन-जिन उपकरणों की अपेक्षा होती है, उन सबका स्वरूप यज्ञोपकरण परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है।[1]

—o—

मनुष्यकृत आधिभौतिकयज्ञ (वैधयज्ञ) में ध्रुवादि का क्यों उपयोग होता है? इस प्रश्न की उपनिषत् पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) है एवं पुरुषयज्ञ में ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न की उपनिषत् आधिदैविक सर्वमेधयज्ञ है। आधिदैविक से आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ उत्पन्न हुआ है एवं इसी पुरुषयज्ञविज्ञान

१ द्रष्टव्य शास्त्री जी कृत शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्ड प्रथमखण्ड 'पारिभाषिक सूचनाएँ'।

के अनुसार ऋषियों ने आधिभौतिक यज्ञ का आविष्कार किया है। पुरुषयज्ञ उस आधिदैविकयज्ञ की अपेक्षा से समीप है, अतः पहले उसी के ध्रुवादि का विचार कीजिए। हमारी आत्मसंस्था में **खं–कं–रं** भेद से तीन ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं। खंब्रह्म **आवपन** है, कंब्रह्म **अन्नाद** है, रंब्रह्म **अन्न** है। **प्रत्यगात्मा** आवपन है। **शारीरक आत्मा** अन्नाद है, विषययुक्त इन्द्रियवर्ग **अन्न** है। प्रत्यगात्मा परिपूर्ण है। इसमें आहुतिद्रव्य भरा हुआ है। यह सर्वथा अविचाली है। **"तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति"** के अनुसार इसी के प्रत्यशों को ले लेकर सब जीवित हैं। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-विज्ञान-आनन्द पाँच तरह का आज्य इसमें भरा हुआ है। यह स्वयं भोक्ता नहीं है, अपितु, सब भोक्ताओं की भोगसामग्री का कोश है। इसीलिए हम अनशन, आवपनरूप खंब्रह्मात्मक इस प्रत्यगात्मा को इस आध्यात्मिकयज्ञ का "ध्रुवा" कह सकते हैं। न यह पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है। है तो सब कुछ है, नहीं तो सबसे पृथक् है। लिङ्गाधिष्ठाता ध्रुवा सर्वथा अलिङ्ग है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने–**"आत्मैव ध्रुवा"**–यह कहा है। **"तस्मादुध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति"** का भी यही रहस्य है।

इन्द्रियाँ मन को अपना आलम्बन बनाती हुई उस आत्मध्रुवा में प्रतिष्ठितद्रव्य के प्रत्यंशरूप भौतिक भागों को संस्काररूप से अपने में ले-लेकर उनसे कर्म्मात्मा की तृप्ति किया करती हैं। कर्म्मात्मा भोक्ता है, इसी को हमने शारीरक आत्मा कहा है। यही पुरुष है। समनस्क सविषय इन्द्रियाँ भोग्य होने से इसकी स्त्री हैं। मन इन्द्रियों का आलम्बन है। मन क्या आलम्बन है, मन की प्रज्ञा आलम्बन है। यही उपभृत् है। प्रज्ञारूप इस उपभृत् पर इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रियाँ तो स्व-स्व नियत स्थानों पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रिय-वृत्तियाँ प्रज्ञा पर प्रतिष्ठित हैं। वृत्तियों से ही तो आहुति होती हैं। ये ही इन्द्रिय-वृत्तियाँ आहुति देने वाली जुहू है। मन की प्रज्ञा भी **"इयं"** है, इन्द्रियवृत्ति भी **"इयं"** है। एक इयं उपभृत् है, एक इयं जुहू है। दोनों–**"न हि प्रज्ञापेता धीः"**–के अनुसार अविनाभूत हैं। केवल इन्द्रियों की आहुति कर्म्मात्मा का कोई हितसाधन नहीं करता। केवल मन की प्रज्ञा भी आहुति देने में असमर्थ है। दोनों की समष्टि आहुति देने में समर्थ है। स्रुवस्थानीय साशन (अन्नभोक्ता) शारीरक आत्मा यदि पुरुष है, तो उपभृत्-जुहूस्थानीय प्रज्ञा-इन्द्रियवृत्तियाँ इसकी स्त्री हैं। इसी अभिप्राय से–**"तस्य–इयमेव जुहूः, इयमुपभृत्, आत्मैव ध्रुवा"–"योषा (स्त्री) वै स्रुक्, वृषास्रुवः"**–यह कह गया है। निष्कर्ष यह हुआ कि ध्रुवा प्रत्यगात्मा है। यही खंब्रह्म है। यही आवपन है। यही अनशन ब्रह्म है। यही साक्षी है। यह न योषा है, न वृषा है। शारीरक आत्मा स्रुव है। यही कंब्रह्म है। यही अन्नाद है। यही साशन ब्रह्म है। यही भोक्ता है। यह वृषा (पुरुष) है। मन (प्रज्ञा), उपभृत् है, इन्द्रियाँ (इन्द्रिय वृत्तियाँ) जुहू हैं। दोनों की समष्टि स्रुक् है। यही रंब्रह्म है। यही अन्न है। यही अशनब्रह्म है। यही भोग्य है। यह योषा (स्त्री) है। इस प्रकार शारीरक आत्मारूप यजमान का यज्ञ प्रत्यागात्मरूप ध्रुवा, मनोरूप उपभृत्, इन्द्रियरूप जुहू के समन्वय से सञ्चालित हो रहा है। इन सबमें यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा ध्रुवस्थानीय प्रत्यगात्मा ही है। हमने शारीरक आत्मा को इस आध्यात्मिकयज्ञ का यजमान बना रक्खा है। इसीलिए यह यज्ञकर्म्म हमारे बन्धन का कारण बन रहा है। यदि प्रकृतिवत् हम प्रत्यगात्मा को यजमान समझें एवं शारीरक आत्मा में यज्ञकर्म्म का उपकरण समझें तो वही यज्ञ, किं वा **यज्ञार्थकर्म्म** हमारे लिए (संस्कार-लेप का कारण न बनता हुआ) अबन्धन हो जाए।

स एष आध्यात्मिको यज्ञः—

१–प्रत्यगात्मा→ध्रुवा]→ध्रुवा—खंब्रह्म
२–शारीरकः→स्रुवः]→स्रुवः—कंब्रह्म
३–प्रज्ञानंमनः→उपभृत्
४–इन्द्रियाणि→जुहूः } →स्रुक्—रंब्रह्म
} —**आध्यात्मिकयज्ञः**

———०———

१–खंब्रह्म→आवपनम्–अनशनं ब्रह्म–साक्षी–**"न स्त्री न पुमान्"**
२–कंब्रह्म→अन्नादः—साशनं ब्रह्म—भोक्ता–**"पुमान्"**
३–रंब्रह्म→अन्नम्——अशनंब्रह्म—भोग्यम्–**"स्त्री"**
} →**शंब्रह्म**

———०———

प्रकारान्तर से तीनों पात्रों के स्वरूप का विचार कीजिए । **ज्ञान-क्रिया-अर्थ** आत्मा के तीन तन्त्र माने गए हैं । ज्ञानतन्त्र का अध्यक्ष मन है । क्रिया, किं वा कर्म्मतन्त्र का अध्यक्ष प्राण है एवं अर्थतन्त्र का अध्यक्ष वाक्तत्त्व है तीनों ही त्रिवृत् हैं, जैसा कि पूर्व की दोनों उपनिषदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है । प्रत्यगात्मा मनःप्रधान है । शारीरक आत्मा प्राणप्रधान है एवं समनस्क सविषय इन्द्रियवर्ग वाक्-प्रधान है । वाक् भोग्य है, यही जुहूपभृत् है । प्राण भोक्ता है, यही स्रुवस्थानीय कर्म्मात्मा वास्तव में प्राणप्रधान है । तभी तो इसे कर्म्मात्मा कहना अन्वर्थ बनता है । स्रुव को प्राणपरक बतलाना ही यह सूचित करता है कि ध्रुवात्मा मनोमय है एवं स्रुव इन्द्रियमन वाङ्मय है । मन-प्राण-वाक् रूप ध्रुवा-स्रुव-स्रुक् ही आध्यात्मिकयज्ञ के प्रधान उपकरण हैं ।

१–मनः→ध्रुवा–प्रत्यगात्मा
२–प्राणः→स्रुवः–शारीरकात्मा
३–वाक्→स्रुक्–मनः, इन्द्रियाणि
उपभृत्–जुहूः
} →**स एष आध्यात्मिको यज्ञः**

———०———

यह तो हुआ आध्यात्मिकयज्ञ का विचार, अब आधिदैविक (सर्वमेध) यज्ञ के उक्तपात्रों का विचार कीजिए । जिस प्रकार पृथिवी का विश्वरूप **"आन्दम्"**, चन्द्रमा का वैश्वरूप्य **"नक्षत्रम्"**, सूर्य्य का

वैश्वरूप्य "**संवत्सर**", परमेष्ठी का वैश्वरूप्य "**महासमुद्रः**", कहलाता है. एवमेव स्वयम्भू प्रजापति का वैश्वरूप्य "**व्योम**" नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्मसंस्था की अपेक्षा से इसी व्योम के **परमाकाश, पुराणाकाश, शरीराकाश, हृदयाकाश, दहराकाश** ये पाँच भेद हो जाते हैं। इन पाँचों में परमाकाश ही व्योम है। इसे ही "**परमेव्योमन्**" कहा जाता है। यही उस विश्वव्यापक ईश्वरप्रजापति का वास्तविकस्वरूप है। इसी के लिए–"**योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद**"–यह कहा जाता है। इसी को "**गुहा**" कहा जाता है। इसी गुहा का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यते एतद्वैतत् ।।[1]

परमाकाशरूप सप्तलोकाधारभूत विश्वात्मा ही सर्वमेधयज्ञ का ध्रुवा है। सम्पूर्ण विश्वयज्ञ इस ध्रुवा से ही सञ्चालित है। पारमेष्ठ्य सोम ही इस ध्रुवा में भरा हुआ आज्य है। इसी आज्याहुति से सर्वमेधयज्ञ हो रहा है। सौरहिरण्मयमण्डल इस यज्ञ का स्रुव है। उस ध्रुवा में से वह आज्य (सोम) सर्वप्रथम स्रुवरूप इसी हिरण्मयमण्डल में आता है। चन्द्रमा उपभृत् है, पृथिवी जुहू है। दोनों की समष्टि स्रुक् है। यह स्रुक् स्त्री है। सूर्य्यरूपस्रुव पुरुष है। स्वयं परमाकाश दोनों का आधार भूत खंब्रह्म है। जैसी स्थिति अध्यात्म में बतलाई गई है, ठीक वैसी ही स्थिति यहाँ समझिए। न केवल अध्यात्म-अधिदैवत में ही, अपि तु, प्रत्येक पदार्थ में आप इन तीनों भावों के दर्शन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए विद्याकाण्ड को ही लीजिए। गुरु ध्रुवा है। इसमें ज्ञानरूप आहुतिद्रव्य प्रतिष्ठित है। योग्य विद्यार्थी स्रुव है। अयोग्य विद्यार्थी जुहूपभृत् है। राजा ध्रुवा है, मन्त्री स्रुव है, कर्त्तव्यसंचालक भृत्यवर्ग स्रुक् है। पिता ध्रुवा है, माता स्रुव है, सन्तान स्रुक् है। राष्ट्र ध्रुवा है, राष्ट्रपति स्रुव हैं, राष्ट्रीय प्रजा स्रुक् है। समुद्र ध्रुवा है, मेघ स्रुव है, वारिधारा स्रुक् है। निदर्शनमात्र है। सर्वत्र इसी यज्ञकर्म्म की व्याप्ति है।

प्रकारान्तर से आधिदैविक पात्रों का समन्वय कीजिए। **भूः-भुवः-स्वः** इन तीन महाव्याहृतियों के गर्भ में सातों व्याहृतियाँ समा रही हैं। तीनों में से प्रत्येक की **भूः-भुवः-स्वः** तीन-तीन अवान्तर व्याहृतियाँ हैं। तीनों महाव्याहृतियों की क्रमशः पृथिवी-सूर्य्य-स्वयम्भू ये तीन संस्थाएँ मूलप्रतिष्ठा हैं। पृथिवी भू नाम की, सूर्य्य भुवः नाम की, स्वयम्भू स्वः नाम की महाव्याहृति है। प्रणवविद्या के अनुसार पृथिवी सबकी प्रतिष्ठा है। यही ध्रुवा है। अन्तरिक्षरूप प्राणप्रधान सूर्य्य उपभृत् है एवं स्वयं स्वयम्भू आहुति देने वाली जुहू है। इसी प्रकार का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"तस्य-असावेव द्यौर्जुहूः । अथेदमन्तरिक्षमुपभृत् । इयमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति" ।[2]

---

१ कठोप० २।१।६। २ शत० ब्रा० १।३।२।४।

उक्त दोनों प्रकारों में बडा विरोध प्रतीत होता है। परन्तु दोनों ही प्रकार सर्वथा सत्य हैं। पहले प्रकार में संचर पक्ष की प्रधानता है एवं दूसरे प्रकार में प्रतिसंचर का प्रभुत्व है। स्वयम्भू का पृथिवी तक आना संचर है, पृथिवी का स्वयम्भू के साथ सम्बन्ध कर लेना प्रतिसंचर है। यही तो सर्वमेधयज्ञ की सर्वता है। पूर्व में कहा गया है कि आनन्त्यप्राप्ति के लिए प्रजापति ने आत्मा को भूतों में आहुत कर लिया एवं भूतों को आत्मा में आहुत कर दिया। यही तो संचर-प्रतिसंचर पक्ष है। स्वायम्भुव आत्मा ही भूतरूप में परिणत हुआ है। उद्देश्य आत्मा है, विधेय भूत है। इसी पक्ष को ले कर परमाकाशरूप स्वयम्भू को ध्रुवा, सूर्य्य को स्रुव, चन्द्रमा-पृथिवी को स्रुक् कहा गया है। पृथिवी ही आत्मा में आहुत हो कर आत्मरूप में परिणत हो जाती है। भूत उद्देश्य है, आत्मा विधेय है। इसी पक्ष को ले कर पृथिवी को ध्रुवा, सूर्य्य को स्रुव एवं स्वयम्भूरूप द्यौ को जुहू कहा गया है।

१–संचरपक्षे-आधिदैविकयज्ञः–(भूतेषु-आत्मानं जुहवानि)

१–१–स्वयम्भूः→(परमाकाशः)
२–१–परमेष्ठी→आज्यम्
} →ध्रुवा–खं ब्रह्म

३–१–सूर्य्यः——→स्रुवः] →स्रुवः–कं ब्रह्म

४–१–चन्द्रमाः→उपभृत्
५–२–पृथिवी→जुहूः
} →स्रुक्–रं ब्रह्म

} →संचरयज्ञः

१–खं ब्रह्म→आवपनम्–अनशनं ब्रह्म——साक्षी–"न स्त्री न पुमान्"
२–कं ब्रह्म→अन्नादः–अनशनात्मकं ब्रह्म–साक्षी–"पुमान्"
३–रं ब्रह्म→अन्नम्–अशनं ब्रह्म———भोग्यम्–"स्त्री"
} →शंब्रह्म

—o—

२–प्रतिसंचरपक्षे-आधिदैविकयज्ञः–(भूतानि चात्मनि जुहवामि)

१–पृथिवी→(भूताकाशः)
१–चन्द्रमाः→आज्यम्
} →पृथिवी (भूः)–ध्रुवा–खं ब्रह्म

१–सूर्य्यः——→स्रुवः] →अन्तरिक्षम् (भुवः)–स्रुवः–कं ब्रह्म

१–परमेष्ठी→उपभृत्
२–स्वयम्भूः→जुहूः
} →द्यौः (स्वः)—स्रुक्–रं ब्रह्म

} →प्रतिसंचरपक्षः

—•—

१–खं ब्रह्म–आवपनम्–अनशनं ब्रह्म—साक्षी–"**न स्त्री न पुमान्**"		
२–कं ब्रह्म–अन्नादः–अनशनात्मकं ब्रह्म–साक्षी–"**पुमान्**"	→	"**शं ब्रह्म**"
३–रं ब्रह्म–अन्नम्–अशनं ब्रह्म——भोग्यम्–"**स्त्री**"		

—o—

विजिज्ञास्य सभी यज्ञोपकरणों का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जा चुका है। केवल **वेदमन्त्र** नाम का अन्तिम यज्ञोपकरण रहा है। इसका विवरण–"**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**"–में किया जाएगा। अब केवल दो बातें बतला कर इस प्राकृतिक सर्वमेधनिरुक्ति-प्रकरण को समाप्त किया जाता है। **यज्ञानुबन्ध** एवं **यज्ञपाप्मा** इन दोनों का स्वरूप समझ लेने पर ही–"**यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र**"–का यथावत् समन्वय हो सकता है—

यज्ञानुबन्धाः—

यज्ञकर्त्ता आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। इस आत्मा के यज्ञ में **काम-तप-श्रम**–ये तीन अनुबन्ध प्रधान रहते हैं। आत्मा अपने मनोभाग से कामना करता है, प्राणभाग से तप करता है एवं वाक्भाग से श्रम करता है। काम-तप-श्रम के समन्वय से ही यज्ञ किं वा यज्ञमूला विश्वसृष्टि की प्रवृत्ति होती है, अतएव इन्हें सृष्टयनुबन्ध भी कहा जाता है। इन तीनों सृष्टयनुबन्धों का आत्मा से सम्बन्ध है, दूसरे शब्दों में तीनों आत्मरूप ही हैं एवं आत्मा को हमने सर्वमेधयज्ञ का ध्रुवा कहा है, अतएव हम कह सकते हैं कि तीनों बन्ध ध्रुवा (आत्मा) में प्रविष्ट हैं। आत्मा सर्वथा असङ्ग है, फलतः आत्मरूप इन तीनों अनुबन्धों की भी असङ्गता सिद्ध हो जाती है। काम पहला कर्म्म है, तप दूसरा कर्म्म है, श्रम तीसरा कर्म्म है। काम ज्ञानमय कर्म्म है, तप क्रियामय कर्म्म है, श्रम अर्थमय कर्म्म है। तीनों ही आत्मकर्म्म हैं। यही यज्ञार्थ (आत्मार्थ) कर्म्म हैं। ये ध्रुवा से सम्बन्ध रखने के कारण सर्वथा अबन्धन हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन्हीं तीनों अबन्धन-कर्म्मों की प्रधानता मानी गई है, जैसा कि–"**सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्**"–इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है। जो व्याख्याता उपनिषदों को कर्म्ममर्य्यादा से बाहर मानते हैं, उनकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए उपनिषत् में बतलाए गए यज्ञानुबन्धों का स्वरूप बतलाना भी आवश्यक हो जाता है। मुण्डकोपनिषत् में इन अबन्धन यज्ञानुबन्धों का बडे विस्तार से निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए केवल तीन मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं—

१–यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥[1]

---

१ मुण्डकोप० १।१।७।

२–तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चामृतम् ॥[1]

३–यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥[2]

"जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) जाल उत्पन्न करती है, समेटती है, जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित पुरुष से (शरीर से) केशलोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है । तप से ब्रह्म चित होता है, इस चिति से अन्न होता है । अन्न से प्राण, मन, सत्य, लोक एवं कर्म्म में अमृतभाव उत्पन्न होता है । जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिसका तप ज्ञानमय है, उसी से ब्रह्म-नामरूप-अन्न उत्पन्न होते हैं"–यह है उक्त तीनों मन्त्रों का अक्षरार्थ । इस विषय का विशद विवेचन तो मुण्डकोपनिषद्भाष्य में देखना चाहिए । यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए संक्षेप से मन्त्रोक्त यज्ञानुबन्धों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

अक्षर को विश्वकर्त्ता (यज्ञकर्त्ता यजमान) बतलाया गया है । जैसा कि–"**तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापि यन्ति**"–इत्यादि अन्य वचनों से भी स्पष्ट है । प्राणात्मा को अक्षर कहा जाता है, मनोमय आत्मा को अव्यय कहा जाता है एवं वाङ्मय आत्मा को क्षर कहा जाता है । सिसृक्षाकाल में एक ही आत्मा अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है एवं मुमुक्षा-काल में तीनों एक रूप में परिणत हो जाते हैं, जैसा कि–"**अयं सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्**"–इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है । प्राणमूर्त्ति अक्षर चूंकि मध्य में हैं अतएव यह उस ओर रहने वाले ब्रह्म (क्षर) से भी युक्त रहता है । स्वयं अव्यय भी मन-प्राण-वाङ्मय अवश्य है । परन्तु यह मनोघन, प्राणघन, वाग्घन होता हुआ अप्राण, अमना, अवाक् है । मन में मन नहीं रहता, प्राण में प्राण नहीं रहता, वाक् में वाक् नहीं रहती, अतएव मन-प्राण-वाङ्मूर्त्ति अव्यय के लिए–"**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, ह्यक्षरात् परतः परः**"–यह कहा जाता है । अव्यय की इन तीनों कलाओं का ही क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन अधिकरणों में विकास होता है । अव्यय मनोमूर्त्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, क्षर वाङ्मूर्त्ति बनता हुआ कर्म्मात्मा है एवं अक्षर अव्यय के मन से मनोमय बनता हुआ कामात्मा है, स्वयं अपने प्राणभाग से कर्म्मात्मा है, क्षर के वाग्भाग से अर्थात्मा है । प्राण की प्रधानता से अक्षर ही सृष्टिव्यापार-सञ्चालन में समर्थ होता है । अव्यय की कृपा से यह सर्वज्ञ बना हुआ है, क्षर के अनुग्रह से सर्वार्थवित् बना हुआ है । स्वयं अपने प्राणभाग से ज्ञानमय तपोमूर्त्ति बना हुआ है । अक्षर का कर्म्म (तप) वास्तव में ज्ञानमय ही है । तभी तो यह कर्म्म लेप का कारण नहीं बनता । अक्षर का तप अव्ययानुगामी है । अव्यय ज्ञानमूर्त्ति है । क्षरानुगामी तप बन्धन का कारण बनता है, न कि अव्ययानु-

---

१ मुण्डकोप० १।१।८ । २ मुण्डकोप० १।१।९ ।

गामी तप। इस प्रकार अक्षर में तीनों आत्मविवर्त्तों का संग्रह हो जाता है। अक्षर की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

"एतद्धेयवाक्षरं ब्रह्म, ह्येतदेवाक्षरं परम्।
एतद्धेयवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥"[1]

इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर मुण्डकश्रुति ने अक्षर से ही सृष्टि का विकास बतलाया है। अक्षर ही अव्यय मन की कृपा से **कामयते**, अक्षर ही स्वयं अपने प्राण से **तप्यति**, अक्षर ही क्षर-वाक् की कृपा से **श्राम्यति**। इस प्रकार ज्ञानमयतपःकर्म्म से (काम-तप-श्रम से) सर्वप्रथम अव्ययक्षरानुगृहीत अक्षरात्मा सर्वप्रथम **प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ** इन तीन उत्तर सृष्टयनुबन्धों को ही उत्पन्न करता है। ब्रह्मप्रतिष्ठा है—**"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"**। नाम-रूप ज्योति है। अन्न यज्ञ है। बस, इन तीनों अनुबन्धों के समन्वय से ही सम्पूर्ण विश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। ब्रह्म वेदतत्त्व है, इसी के लिए आगे जा कर भगवान्—**"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्"**—यह कहने वाले हैं। यह मनःप्रधान है। नामरूप प्राण-प्रधान हैं एवं अन्न वाक्प्रधान है। मन चित्त है, अन्न वाक् है। अन्न से ऊर्क् बनता है, ऊर्क् से प्राण बनता है। प्राण पुनः अन्नाधान कर मन की चिति सुरक्षित रखता है। इस प्रकार वाक् चित्त के उत्तरोत्तरिक्रम से, किं वा अन्न-ऊर्क्-प्राण के अन्योऽन्यपरिग्रह से यह अबन्धन यज्ञकर्म्म सञ्चालित हो रहा है, जैसा कि—**"वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः"**—**"अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः"**—इत्यादिवचनों से स्पष्ट है। यही अर्थ—**"एवं प्रवर्तितं चक्रम्०"**—इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। **"तपसा चीयते ब्रह्म"** इस पूर्वश्रुति ने इसी चक्रयज्ञ का स्पष्टीकरण किया है।—**"सतो बन्धुमसति निरविन्दन्"**—इस मन्त्रवर्णन के अनुसार सत् का असत् के साथ बन्धन हो जाना ही सृष्टि का बीज है। मौलिक भाव को ही असत् कहा जाता है। यह सद्रूप है, सत् में सत् नहीं रहता अतएव सद्रूप इस मौलिकभाव से **"असत्"** कहा जाता है। **"असद्वेदमग्रमासीत्"** से यही मौलिक तत्त्व अभिप्रेत है। असत् का सत् के साथ सम्बन्ध क्यों होता है? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है, **"काम"**। मन के रेत का ही नाम काम किं वा कामना है। इसी के प्रभाव से **तप-सत्य-बलप्राण** इन चार भावों का सत् के साथ सम्बन्ध हो जाता है। सदसत् के समन्वय से ही—**"ततः सदजायत"**—के अनुसार यज्ञमूर्ति सत् विश्व का विकास होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"॥[2]

कामबीज की प्रेरणा से तप का विकास हुआ। इसमें ब्रह्म (ज्ञान) की आहुति हुई। तप असत् था, ज्ञान सत् था। तप अग्नि था, ब्रह्म सोम था, दोनों के समन्वय से सत्यरूप सत् का विकास हुआ। सत्य असत्रूप अग्नि था, ऋत सत्रूप सोम था, इसकी आहुति से बल का विकास हुआ। बल असत्

१ कठोप० १।२।१६। २ ऋग्वेद मं० १०।१२९।४।

था, अन्न सत्‌रूप सोम था, इसकी आहुति से अग्नि का विकास हुआ। अन्न असत् था। इसमें बलरूप सोम की आहुति हुई। प्राण का विकास हुआ। तप-सत्य-बल-प्राण चारों अग्नि हैं। ब्रह्म-ऋत-अन्न-ऊक्‌- चारों आहुतियाँ हैं। यही सृष्टि के प्रधान अनुबन्ध हैं। इन चारों की मूल प्रतिष्ठा काम ही है। तप-सत्य तप है, बल-प्राणश्रम है। इस प्रकार इन चारों का अन्ततोगत्वा काम-तप-श्रम इन तीन यज्ञानुबन्धों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इन अनुबन्धों का मौलिकस्वरूप तप ही है। तप कर्म्म है। सत्य, बल, प्राण तीनों एक प्रकार से कर्म्म ही हैं। ऐसा विशुद्ध तपःकर्म्म कभी आनन्त्य-प्राप्ति का कारण नहीं बन सकता। वह तपःकर्म्म आनन्त्यप्राप्ति का कारण है, जिसके द्वारा आत्मा सब भूतों में एवं सम्पूर्ण भूत आत्मा में आहुत हो जाएँ। प्रजापति ने इसीलिए सर्वमेधयज्ञ का अनुष्ठान किया। जैसा कि पूर्वोक्त निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

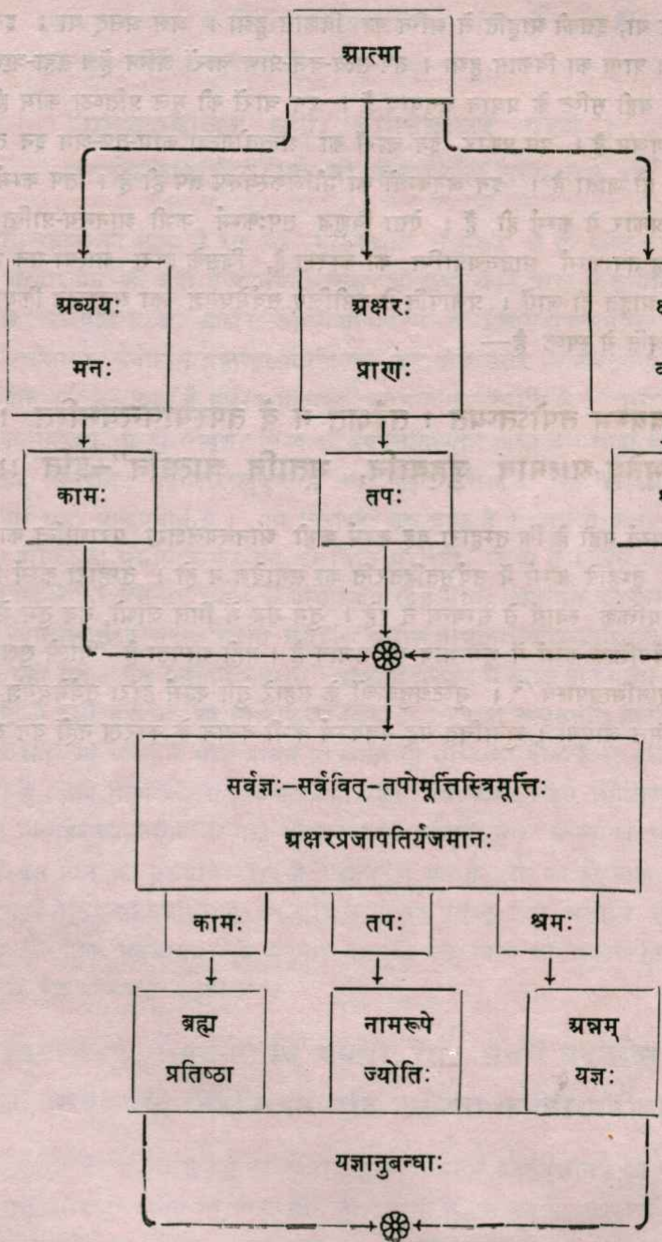
"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्त-अहं भूतेषु-आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि"—इति ॥[1]

श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि तुम्हारा वह कर्म्म कभी आनन्त्यलक्षण पराशान्ति का कारण नहीं बन सकता, जब तक तुम्हारे कर्म्म में सर्वभूतहितरति का समावेश न हो। तुम्हारा कर्म्म विश्वकल्याण के लिए हो, उसका वैयक्तिक स्वार्थ से सम्बन्ध न रहे। तुम सब में मिल जाओ, सब तुम में मिल जाए, यही सर्वमेधयज्ञ है। वैयक्तिक कर्म्म में भूमाभाव का अभाव है। यही अल्पता है—**"नाल्पे सुखमस्ति, यो वै भूमा तत् सुखम्। भूमानमित्युपास्व"**[2]। सृष्टयनुबन्धों के सहारे तुम कर्म्म द्वारा सर्वमेधयज्ञ करो, बन्धन होगा नहीं, आनन्त्य मिल जाएगा। ध्रुवाचित यह यज्ञकर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बन सकते।※

---

१ शत० ब्रा० १३।७।१।१। २ छान्दोग्योप० ७।२३।१।

※ तालिका अगले पृष्ठ पर देखें।


आत्मा
अव्ययः
मनः
अक्षरः
प्राणः
क्षरः
वाक्
कामः
तपः
श्रमः
सर्वज्ञः–सर्वंवित्–तपोमूर्त्तिस्त्रिमूर्त्तिः
अक्षरप्रजापतिर्यजमानः
कामः
तपः
श्रमः
ब्रह्म
प्रतिष्ठा
नामरूपे
ज्योतिः
अन्नम्
यज्ञः
यज्ञानुबन्धाः

कामः—

तपः, तत्र ब्रह्माहुतिः । ततः सत्यविकासः । सत्ये ऋताहुतिः । ततो बलविकासः । बले-अन्नाहुतिः । ततः प्राणविकासः । तपः-सत्यं-बलं-प्राणः-इत्येते चत्वारोऽग्नय-असदाख्याः । **ब्रह्म-ऋतं-अन्नं-ऊर्क्-इत्येते** चत्वारः-सोमाः (आहुतिद्रव्याणि) सदाख्याः । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्-कामधरातले । ततः सदजायत । विश्वोत्पत्तिः । उत्पन्ने भौतिके विश्वे, आत्माहुतिः, आत्मनि च भूताहुतिः । ततः सर्वमेध निष्पत्तिः । ततश्चानन्त्यम्-आनन्त्यम् । सर्वसमृद्धिः ।

कामः

↓

तपः	सत्यम्	यः	बलम्	प्राणः	अग्निः
ब्रह्म	ऋतम्		अन्नं रसो वा	ऊर्क्-वाग् वा	आहुतयः

तपः	कामः	श्रमः

इति यज्ञानुबन्धाः

—०—

यज्ञपाप्मानः—

सर्वमेधयज्ञसञ्चालक तपोमूर्त्ति (कर्म्ममूर्त्ति) अक्षरप्रजापति ही जीव-सृष्टि का अधिष्ठाता है–यही विश्वात्मा है, जगदाधार है, जैसा कि–"**इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**"–इत्यादि से स्पष्ट है । जीव उसी प्रजापति का अंश है । सचमुच यह एक महाजटिल समस्या है कि जब जीवात्मा उस परमात्मा का ही अंश है, परमात्मा में रहने वाली ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों का ही जब इसमें समावेश होता है ध्रुवाचित अबन्धन यज्ञकर्म्मों का ही जब इसमें समावेश होता है, तो फिर जीवात्मा क्यों कर्म्मजाल में बद्ध हो जाता है ? ऐसी कौन सी सामग्री है, जिसके समावेश से यह विशुद्धात्मा कलिलात्मा बन जाता है ? यज्ञपाप्मा इसी प्रश्न का समाधान करते हैं । ईश्वरीय यज्ञकर्म्म में यज्ञपाप्मा कभी समाविष्ट नहीं होते, अतएव वह कर्म्म करता हुआ भी निर्लेप बना रहता है । इधर जीवसृष्टि में भी यज्ञकर्म्म का ध्रुवारूप ईश्वरांशरूप प्रत्यगात्मा है उसमें यज्ञपाप्माओं का समावेश नहीं होता । इन्हें आक्रमण करने का अवसर मिलता है–शारीरक आत्मा पर । ये ही इसके बन्धन के कारण हैं । ध्रुवा

(प्रत्यगात्मा) से पृथक् रहने वाले, शारीरकात्म-सम्बन्धी इन्हीं यज्ञपाप्माओं का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

पर्य्यायोर्म्याशयावस्थाः क्लेशकर्म्मविपक्तयः ।
सप्तैते यज्ञपाप्मानो ध्रुवातः पृथगाचिताः ॥[1]

बन्धपर्य्याय, मुक्तपर्य्याय भेद से पर्य्याय दो हैं। कभी जीव बद्ध रहता है, कभी मुक्त रहता है। मुक्तावस्था में बन्धन का अभाव है, बन्धावस्था में मुक्ति का अभाव है। **क्षुधा-पिपासा** (भूख-प्यास), **शोक-मोह** (रंज-गफ़लत), **जरा-व्याधि** (बुढ़ापा-रोग) ये ६ ऊर्म्मियाँ हैं। इन तरंगों में जीव तरङ्गायित रहता है। संस्कार का ही नाम आशय है। इन्हीं में यह सर्वात्मना सुप्त रहता है, अतएव संस्कार को आशय कहा जाता है। ज्ञानजनित संस्कार भावना है, कर्म्मजनित संस्कार वासना है। दोनों ही संस्कार शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) भेद से दो-दो प्रकार के हैं। सद्ज्ञान, शुभ कर्म्म से शुभ भावना-वासना सस्कार होते हैं। असद्ज्ञान एवं अशुभ कर्म्म से अशुभ भावना-वासना संस्कार होते हैं। इस प्रकार **शुभ आशय** (पुण्यसंस्कार), **अशुभ आशय** (पापसंस्कार) भेद से दो आशय हो जाते हैं। **जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, मोह-मूर्च्छा-मृत्यु** ये ६ अवस्थाएँ हैं। **अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश** ये पाँच क्लेश हैं। ***क्रतु-चेष्टा-भाव-संस्कार-सत्त्व-विकार** ये ६ कर्म्म हैं। **जाति** (योनि), **आयु** (उम्र), **भोग** (दौलत) ये तीन विपाक (कर्म्मविपाक-कर्म्मफल) हैं। संभूय ७ पाप्माओं के ३० पाप्मा हो जाते हैं। इन ३० पाप्माओं का मूलाधार क्षेत्रत्रयी (बीजचितिरूप कारणशरीर, देवचितिरूप सूक्ष्मशरीर, भूतचितिरूप स्थूलशरीर) है। यदि इनका भी पाप्माओं में समावेश कर लिया जाता है तो ३३ पाप्मा हो जाते हैं। ❀

उक्त पाप्मा अध्यात्मसंस्था में तो क्यों प्रविष्ट हो जाते हैं एवं ईश्वरसंस्था में इनका प्रवेश क्यों नहीं होता ? योगदर्शन के शब्दों में ईश्वर तो क्यों क्लेश-कर्म्म-विपाक-आशयादि से अपरामृष्ट रहता है एवं जीव क्यों इनसे परामृष्ट रहता है ? पाप्माओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न बच जाता है। पूर्णेन्द्रभाव एवं अर्द्धेन्द्रभाव ही इस प्रश्न का समाधान करते हैं। ईश्वर पूर्णेन्द्र है, जीव अर्द्धेन्द्र है। पूर्णभाव में उत्थाप्याकांक्षा का अभाव है। वहाँ केवल उत्थिताकांक्षामूला आत्मकामना ही रहती है। अपूर्णता में ही विषयजिघृक्षामूला उत्थिताकांक्षा का उदय होता है। यही कामना कर्म्मद्वारा बन्धक पाप्माओं के आगमन का मुख्य द्वार है। ईश्वरीय आधिदैविक-संस्था के अमृत-ब्रह्म-शुक्र तीन विभाग माने गए हैं।

---

१ श्रीगुरुप्रणीत यज्ञविज्ञान।

* इन छहों कर्म्मों का वैज्ञानिक स्वरूप **"किं कर्म्म किमकर्म्मेति"** प्रकरण में होने वाला है।

❀ तालिका अगले पृष्ठ पर देखें।

सूर्य्य से ऊपर अमृतभाग की प्रधानता है, यही ब्रह्मसंस्था है। सूर्य्य से नीचे मृत्युभाग है, जैसा कि- **तस्माद्यत् किंचार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्**"-इत्यादिवचन से स्पष्ट है, यही भूतसंस्था है-

१-पर्य्यायः→बन्धपर्य्यायः[१], मुक्तपर्य्यायः[२] ।——→२

२-ऊर्म्मिः→१-क्षुत्[१], २-पिपासे[२], १-शोक[३], २-मोहौ[४], १-जरा[५], २-व्याधी[६] ।——→६

३-आशयः→शुभाशयः[१], अशुभाशयः[२] ।——→२

४-अवस्था→१-जाग्रत्[१], २-स्वप्न[२], ३-सुषुप्तयः[३], १-मोह[४], २-मूर्च्छा[५], ३-मृत्यवः[६] ।——→६

५-क्लेशः→अविद्या[१], अस्मिता[२], रागः[३], द्वेषः[४], अभिनिवेशः[५] ।——→५

६-कर्म्म→१-क्रतुः[१], २-चेष्टा[२], ३-भावः[३] । १-संस्कारः[४], २-विकारः[५], ३-सत्त्वम्[६] ।——→६

७-विपाकः→जातिः, आयुः, भोगः ।——→३

३०

↓

१-बीजचितिः——कारणशरीरम्

२-देवचितिः——सूक्ष्मशरीरम्

३-भूतचितिः——स्थूलशरीरम्

क्षेत्रत्रयी

↓

तदेतच्छुक्रम्

कर्म्माश्वत्थः सान्तानिकः

संसारः

इसी को शुक्रसंस्था कहा जाता है । स्वयं सूर्य्य ब्रह्मसंस्था है । सूर्य्य से ऊपर ब्रह्मयज्ञ है, सूर्य्य से नीचे भूतयज्ञ है । दोनों का संघाता मध्यस्थ सूर्य्य है । सर्वमेधयज्ञ द्वारा इन दोनों यज्ञों का परस्पर में ओत-प्रोतभावसम्बन्ध हो रहा है । ब्रह्मयज्ञ (आत्मा) भूतयज्ञ में आहुत हो रहा है, भूतयज्ञ ब्रह्मयज्ञ (आत्मा) में आहुत हो कर ब्रह्मरूप में परिणत हो रहा है । इस प्रकार आहुतिग्रहण करने वाले ब्रह्म की तरह भूतरूप आहुतिद्रव्य भी ब्रह्मरूप में ही परिणत हो रहा है, जैसा कि–"**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः०**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । निष्कर्ष यह हुआ कि सर्वमेधयज्ञ के प्रभाव से ब्रह्मयज्ञ के समावेश से ईश्वरीय भूतयज्ञ भी अमृतप्रधान बन रहा है । स्वयम्भू से पृथिवी तक एकत्व का साम्राज्य है । एकत्व ही अमृतभाव है–यही ब्रह्मयज्ञ है–यही पूर्णयज्ञ है । इसमें अपूर्णता निबन्धन पाप्माओं के समावेश को अवसर ही नहीं मिलता । स्वयम्भू-परमेष्ठीरूप अमृतात्मप्रधान (अव्ययात्मप्रधान) **ब्रह्मयज्ञ**, सूर्य्यरूप ब्रह्मात्मप्रधान (अक्षरात्मप्रधान) **देवयज्ञ** एवं चन्द्रमा-पृथिवीरूप शुक्रात्मप्रधान (क्षरात्मप्रधान) **भूतयज्ञ** तीनों के समन्वय का ही नाम सर्वमेधयज्ञ है । यही इस यज्ञकर्म्म की पूर्णता एवं अबन्धनता है । इन्हीं तीनों का पाँच भागों में विकास होता है । स्वयम्भू यज्ञ **ब्रह्मयज्ञ** है । परमेष्ठी यज्ञ पितृयज्ञ है । इसकी सत्ता सूर्य्यरूप देवयज्ञ से ऊपर है, अतएव देवयज्ञ की अपेक्षा इस पितृयज्ञ को विशेष महत्त्व दिया जाता है, जैसा कि-"**देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते**"–इत्यादि स्मार्त्त वचन से स्पष्ट है । सूर्य्ययज्ञ देवयज्ञ है । चन्द्रमायज्ञ अतिथियज्ञ है एवं पृथिवीयज्ञ भूतयज्ञ है । ये ही पाँचों सुप्रसिद्ध महायज्ञ हैं–ये ही महासत्र हैं । "**पञ्चयज्ञान्न हापयेत्**" । महासत्र ही सर्वमेध है । ब्रह्मयज्ञ से ऋषिऋण, पितृयज्ञ से पितृऋण, देवयज्ञ से देवऋण, अतिथियज्ञ से मनुष्यऋण एवं भूतयज्ञ से भूतऋण का अपाकरण होता है । पाँचों में अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ मर्त्य हैं, शेष तीनों अमृत हैं । इसी मुख्यभाव को लक्ष्य में रख कर–"**त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते । एष वा अनृणी०**"–इत्यादि कहा जाता है ।

१–स्वयम्भूः–ब्रह्मयज्ञः }
२–परमेष्ठी–पितृयज्ञः } →ब्रह्मयज्ञः }
१–सूर्य्यः—देवयज्ञः] → देवयज्ञः } → "**सर्वमेधयज्ञः**"
१–चन्द्रमाः–अतिथियज्ञः }
२–पृथिवी—भूतयज्ञः } →भूतयज्ञः }

हमारी मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य है, जैसा कि–"**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । सूर्य्य अक्षरमूर्त्ति है, अतएव आरम्भ में हमने अक्षर को ही जीवसृष्टि की प्रतिष्ठा बतलाया है । सौरी चेतना चान्द्रसोम, पार्थिवअग्निरूप शुक्रशोणित के मिथुनभाव में प्रतिष्ठित हो कर हमारे जन्म का कारण बनती है । यही हमारी अपूर्णता है । स्वभावतः हमारे जन्म में भी मृत्युमय भाग की ही प्रधानता रहती है एवं हम यावज्जीवन प्रतिष्ठित भी मृत्युलोक में रहते हैं । इस मृत्युप्रधानता से शुक्रभाग प्रधान हो जाता है । शुक्र की प्रधानता से सजातीय मन प्रबल हो जाता

है। मन की प्रबलता से बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खो बैठती है। फलतः पूर्वोक्त सब पाप्मा हमारे पर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। फलतः जो कर्म्म हमारी बन्धन-मुक्ति का कारण हैं, वही पाप्मसंयोग से काममय बनता हुआ मुक्ति-बन्धन का कारण बन जाता है। दूसरे शब्दों में हमारा भूतयज्ञ (कर्म्म) उस ब्रह्मयज्ञ (ज्ञान) से वञ्चित होता हुआ आत्मपतन का कारण बन जाता है। पाप्माओं को हटाने के लिए हमें शुक्र का बल कम करना पड़ेगा। तदर्थ निष्कामभाव से उस ब्रह्मयज्ञ की प्राप्ति के लिए कर्म्म करना पड़ेगा। तभी हम उस सर्वमेधयज्ञ की पूर्णता से आनन्त्यभाव के अधिकारी बन सकेंगे।

इति सर्वमेधयज्ञनिरुक्तिः

—○—

श्लोकार्थसमन्वय

७ पाप्माओं में कर्म्म भी पाप्मा है। कर्म्म में प्रवृत्त होना पाप्मा में प्रवृत्त होना है। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए सांख्याभिमानी अर्जुन ने—"**तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव**"—यह प्रश्न कर डाला। तत्काल भगवान् ने सर्वमेधयज्ञ का स्वरूप आगे रखते हुए यज्ञार्थकर्म्म की अबन्धनता बतलाते हुए—"**यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः**"—यह आदेश दिया। क्या भगवान् यह चाहते थे, कि अर्जुन दशरात्र सर्वमेधयज्ञ करे? नहीं, तो फिर प्रकृत यज्ञ को सर्वमेधपरक कैसे माना जा सकता है? उत्तर स्पष्ट है। स्वस्ववर्णानुसार अपने-अपने कर्म्म में आरूढ रहते हुए सबके कर्म्मों में यथाशक्ति सहयोग देते रहना ही सर्वमेधयज्ञ है। यही भावात्मक सर्वमेधयज्ञ है। परन्तु ऐसी वृत्ति का उदित होना कठिन है। इसी कठिनता को दूर करने के लिए ऋषियों ने पूर्वप्रतिपादित वैध सर्वमेध-प्रक्रिया का आविष्कार किया है। इस यज्ञ से आत्मा में अवश्य ही पूर्णता, सर्वभूतहितरति, आदि भावों का उदय हो जाता है। अग्न्याधान से आरम्भ कर शिरोयज्ञ जितने श्रौत यज्ञ हैं एवं जितने भी स्थालीपाकादि स्मार्त्तकर्म्म हैं, वे सब यहाँ यज्ञार्थकर्म्म से अभिप्रेत हैं। ब्राह्मणोक्त सभी यज्ञकर्म्म अबन्धन हैं, परन्तु कब? जब कि ये यज्ञकर्म्म केवल यज्ञ के लिए ही हों। यज्ञ विश्व का स्वरूप है। विश्वस्वरूपरक्षा के लिए जो कर्म्म किए जाएँगे, वे सब यज्ञार्थ कर्म्म कहलाएँगे एवं वे सब अबन्धन होंगे। "**यज्ञार्थात्**" का "**ब्रह्म-यज्ञयुक्त (आत्मयज्ञयुक्त) भूतयज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः**"—यही तात्पर्य समझना चाहिए।

हमारा भारतीय सनातनी विद्वत्समाज स्वामीदयानन्द के ईश्वरवाद से सर्वथा असहमत है। कारण, स्वामीजी ने वैदिकसाहित्य के अन्तस्तल पर न पहुँचने के कारण कितनी ही बातों में अशास्त्रीयभावों को प्रधानता देती है। उदाहरण के लिए देवतावाद को ही लीजिए। स्वामी जी ने इन्द्र-वरुण-मित्र-कुबेर-अग्नि-वायु-आदित्यादि सम्पूर्ण देवताओं को परमेश्वर का पर्य्याय माना है। उनकी दृष्टि में एक ही ईश्वर के ये विविध नाम हैं। सनातनधर्म्मियों का चिरकालिक एकेश्वरवाद की मूलभित्ति पर प्रतिष्ठित देवतावाद स्वामीमहोदय की दृष्टि में सर्वथा अशास्त्रीय है। साथ ही में स्वपक्ष समर्थन के

लिए स्वामी जी ने–"**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**"–इत्यादि प्रमाणों से भोली जनता की पर्य्याप्त वञ्चना की है। हम मानते है कि–"**एकं वा इदं बिबभूव सर्वम्**"–"**पुरुष एवेदं सर्वम्**"–"**ब्रह्मै वेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन**"–इत्यादि वचनों के अनुसार सारा विवर्त्त एक परात्मा की विभूति है। सर्वत्र अद्वैत ब्रह्म का ही साम्राज्य है। "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**"–यह श्रुति भी इसी अद्वैतवाद का समर्थन करती है। परन्तु इससे अनेकत्ववाद को अशास्त्रीय मान बैठना कौनसी बुद्धिमानी है ? "**एकं**" जहाँ अद्वैतवाद की घोषणा करता है, वहाँ "**विबभूव सर्वम्**" जगत् की सत्यता प्रकट करता है। उदाहरण के लिए अध्यात्म-संस्था को ही लीजिए। कान-नाक-आँख-मुख सब विभिन्न इन्द्रियाँ हैं। परन्तु सबके लिए समानरूप से मैं सुनता हूँ, मैं सूंघता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं बोलता हूँ–इस प्रकार एक ही अहंपरार्थ का प्रयोग होता है। वास्तव में सभी अहं है। परन्तु ये कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा कि कान ही नाक है, नाक ही आँख है, आँख ही मुख है ? **गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्**–इस न्याय के अनुसार गुणभूत सभी इन्द्रियाँ परार्थ (आत्मार्थ) होती हुई परस्पर में कभी अभिन्न नहीं हो सकती। ठीक यही परिस्थिति ईश्वरीय जगत् में समझिए। इन्द्र-मित्रादि सभी देवता "ओम्" (परमात्मा) के गर्भ में निविष्ट होते हुए परमात्मरूप ही हैं। परन्तु इन्द्र कभी वरुण नहीं है, वरुण कभी अग्नि नहीं है। यदि ये सब अभिन्न होते तो–"**अग्नये स्वाहा–इन्द्राय वौषट्–भूःस्वाहा**"–इत्यादि कर्म्मकलाप का कोई भी मूल्य नहीं रहता। बस, इसीलिए सनातनी जगत् ने स्वामीजी के उस अवैदिक ईश्वरवाद का तिरस्कार किया है जो कि शास्त्रीयदृष्टि से सर्वथा उचित है।

सनातनधर्म्मियों की उक्त शास्त्रनिष्ठा का हम हृदय से अभिनन्दन करते हुए आज उन्हीं से यह प्रश्न करना चाहते हैं कि जब बहुदेवतावाद आपकी दृष्टि में वस्तुतत्त्व है तो फिर आप ही के उन व्याख्याताओं ने प्रकृत श्लोक के यज्ञशब्द का परमात्मा अर्थ क्यों किया है ? गीता के अष्टश्लोकात्मक प्रकृत प्रकरण को अपने सामने रखिए और फिर विशुद्ध आत्मा से "**यज्ञ**" शब्दार्थ का विचार कीजिए। व्याख्याताओं की लीला सामने आजाएगी। "**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**" का अर्थ है–प्रजापति ने यज्ञ के द्वारा प्रजा उत्पन्न की। प्रजापति ईश्वर है, कर्ता है। यज्ञप्रक्रिया सृष्टि का साधन है। क्या ईश्वर का ही नाम यज्ञप्रक्रिया है ? यदि ऐसा होता तो–"**यज्ञात्मकः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा**"–यह कहा जाता। प्रजापति कहते हैं कि यह यज्ञ तुम्हारा इष्ट कामधुक् है। जो चाहो सो फल प्राप्त कर सकते हो। तुम यज्ञ से देवताओं को तृप्त करोगे, यज्ञ से तृप्त देवता तुम्हारी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे। स्पष्ट ही भिन्न देवतावाद निर्दिष्ट है। यज्ञ से देवताओं की तृप्ति बतलाई गई है–"**यज्ञभाविताः**"। यज्ञोच्छिष्ट खाने का आदेश दिया है। क्या ईश्वर भोजन की वस्तु है ? यज्ञ से वृष्टि होती है। क्या सर्वव्यापक, अतएव निष्क्रिय ईश्वर वृष्टि करता है। सोचिए ! खूब सोचिए !! फिर यज्ञपदार्थ का निर्णय कीजिए। हम मानते हैं कि–"**यज्ञो वै विष्णुः**"–"**विष्णुर्वैयज्ञः**"–के अनुसार विष्णु ही यज्ञ है। परन्तु विष्णु ईश्वर है, यह कहाँ से सिद्ध हो गया ? यदि सर्वव्यापक ईश्वरभावना से विष्णु ईश्वर है तो फिर कर्म्म का अवसर ही नहीं रहता। कर्म्मप्रवृत्ति निःसंदिग्ध द्वन्द्वमूला है। जैसा कि "**स द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नी च०**"–इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। फलतः हमारी दृष्टि में, हमारी ही नहीं सनातनधर्म्मीमात्र की दृष्टि में, व्याख्याताओं की–"**यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरः। तदर्थं यत् क्रियते, तद्यज्ञार्थं कर्म्म**"–इस व्याख्या का कोई मूल्य

नहीं रहता। यज्ञशब्द से वेद के ब्राह्मणभागोक्त उन्हीं श्रौत-स्मार्त्त अग्निहोत्रादि कर्म्मों का एवं प्राकृतिक-संस्था को सुरक्षित रखने वाले वर्णाधर्म्मों का ग्रहण है। यज्ञार्थ कर्म्म आवश्यक हैं। इसीलिए सर्वश्री अभिनवगुप्त ने **यज्ञार्थात्–अवश्यकरणीयात्, अन्यानि कर्म्माणि बन्धकानि। अवश्यकर्त्तव्यमुक्तफल-सङ्गतया क्रियमाणं न फलदम्**"–यह अर्थ किया है। यही अर्थ सर्वथा उपादेय है।

परन्तु वह यज्ञार्थ-कर्म्म तभी यज्ञार्थ-कर्म्म माना जाएगा, जब कि इसमें प्राकृतिक सर्वमेधयज्ञ की भावना का समावेश रहेगा। यदि वैयक्तिक फलकामासक्ति है तो फिर ऐसा कर्म्म कभी यज्ञार्थ-कर्म्म नहीं है। आसक्ति छोडकर ही यज्ञार्थ-कर्म्म करना चाहिए। युद्धकर्म्म से दुष्टों का दलन होगा, प्राकृतिक सर्वमेधयज्ञ की रक्षा होगी। इस प्रकार अर्जुन का यह युद्धकर्म्म यज्ञार्थ-कर्म्म बनता हुआ सर्वथा अबन्धन होगा। अबन्धन यज्ञार्थ-कर्म्म कौन-कौन से है? इस प्रश्न का समाधान छठी उपनिषत् के चतुर्थ उपदेश में विस्तार के साथ होने वाला है। वहाँ **१–ब्रह्मार्पणयज्ञ**, २–**दैवयज्ञ**, **३–ब्रह्माग्नियज्ञ**, **४–संयमाग्नियज्ञ**, **५–इन्द्रियाग्नियज्ञ**, **६–योगाग्नियज्ञ**, **७–द्रव्ययज्ञ**, **८–तपोयज्ञ**, **९–योगयज्ञ**, **१०–स्वाध्याययज्ञ**, **११–ज्ञानयज्ञ**, **१२–प्राणायामयज्ञ**, **१३–प्राणयज्ञ**–इन तेरह (१३) अबन्धन यज्ञकर्म्मों का निरूपण हुआ है। तेरहों में से प्रकृत यज्ञप्रकरण दैवयज्ञ का ही निरूपण करता है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट हो जाएगा। इसी प्रतिज्ञा-सूत्र का उपबृंहण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥[1]

१–ब्रह्मयज्ञाधिकारः—

२–सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०—

प्रजापति, यज्ञ, प्रजा, इष्टकामधुक् ये चार पदार्थ ही प्रकृत में विजिज्ञास्य हैं। इन्हीं चारों का निरूपण करना प्रकृतप्रकरणार्थ है। सबसे पहले प्रजापति का स्वरूप ही संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

१–प्रजापतिः

श्रुतिग्रन्थों में प्रजापति शब्द की अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। प्रजापति शब्द के सम्बन्ध में कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत किए जाते हैं, जिनसे एक बार तो स्वयं पाठक भी **"प्रजापति"** शब्द के निर्णय में संत्रस्त हो जाएँगे—

१–एष वै प्रजापतिर्यदग्निः।[2]

---

१ गीता ३।९। २ तै० ब्रा० १।१।५।५।

२–यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः ।[1]

३–एष प्रजापतिर्यत् हृदयम् ।[2]

४–यः प्रजापतिस्तन्मनः ।[3]

५–वाग्वै प्रजापतिः ।[४]

६–संवत्सरो वै प्रजापतिः ।[५]

७–यज्ञ उ वै प्रजापतिः ।[६]

८–यो ह्येव सविता स प्रजापतिः ।[७]

९–प्राणः प्रजापतिः ।[८]

१०–अन्नं वाऽअयं प्रजापतिः ।[९]

११–वायुर्ह्येव प्रजापतिः ।[१०]

१२–प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः ।[११]

१३–प्राजापत्यो वै ब्रह्मा ।[१२]

१४–असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः ।[१३]

१५–सोमो वै प्रजापतिः ।[१४]

१६–प्रजापतिर्वै मनुः ।[१५]

१ तै० ब्रा० १।२।२।५ । २ शत० ब्रा० १४।८।४।१ । ३ जै० उप० ब्रा० १।३३।२ ।
४ शत० ब्रा० ५।१।५।६ । ५ शत० ब्रा० २।३।३।१८ । ६ कौ० ब्रा० १०।१ ।
७ शत० ब्रा० १२।३।५।१ । ८ शत० ब्रा० ७।५।१।२१ । ९ शत० ब्रा० ७।१।२।४ ।
१० ऐत० ब्रा० ४।२६ । ११ शत० ब्रा० ६।२।२।५ । १२ गो० ब्रा० उ० ३।१८ ।
१३ शत० ब्रा० ६।२।२।१६ । १४ शत० ब्रा० ५।१।३।७ । १५ शत० ब्रा० ६।६।१।१९ ।

१७–प्रजापतिर्वै वसिष्ठः ।[१]

१८–प्रजापतिर्वै व्योमा ।[२]

१९–अथर्वा वै प्रजापतिः ।[३]

२०–सत्यं हि प्रजापतिः ।[४]

२१–आत्मा वै प्रजापतिः ।[५]

२२–पितरः प्रजापतिः ।[६]

२३–सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः ।[७]

इस प्रकार श्रुति ने **अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, संवत्सर, यज्ञ, सविता, प्राण, अन्न, वायु, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, चन्द्र, सोम, मनु, वसिष्ठ, व्योम, अथर्वा, सत्य, आत्मा, पितर** आदि को प्रजापति बतलाते हुए अन्त में **"सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः"**–इत्यादि रूप से पदार्थमात्र को प्रजापति शब्द से सम्बोधित कर दिया है। स्वयं मन्त्रश्रुति ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है, जैसा कि निम्नलिखित यजुर्मन्त्र से स्पष्ट है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।[८]

हम अपने गीताप्रेमी पाठकों से पूछते हैं कि बतलाइए **"सहयज्ञाः०"**–इत्यादि के प्रजापति शब्द से उक्त प्रजापतियों में से कौनसा प्रजापति अभिप्रेत है ? जो यज्ञ उत्पन्न करता है एवं यज्ञ द्वारा प्रजा उत्पन्न करता है, सर्वान्त में जो यह आदेश देता है कि तुम इस यज्ञकर्म्म का अनुष्ठान करो, यह तुम्हारे लिए इष्टकामधुक् (अभीप्सितफलप्रद) है। बिना वैदिकविज्ञान की शरण लिए आप प्रयत्नसहस्रों से भी प्रकृतप्रकरण के प्रजापति शब्द का यथावत् समन्वय नहीं कर सकते। हमने अपनी तुच्छ बुद्धि से प्रकरणसंगति के अनुसार यहाँ के **"प्रजापति"** शब्द का जो अर्थ समझा है, वही संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं—

---

१ कौ० ब्रा० २५।२। २ शत० ब्रा० ८।४।१।११। ३ गो० ब्रा० पू० १।४।
४ शत० ब्रा० ४।२।१।२६। ५ शत० ब्रा० ४।५।६।२। ६ गो० ब्रा० उ० ६।१५।
७ शत० ब्रा० ५।१।१।१४। ८ यजुर्वेद २३।६५।

यह सिद्ध विषय है कि प्रकृत यज्ञ-प्रकरण का उपदेश देहधारियों से सम्बन्ध रखता है। शब्द-शास्त्र का अधिकारी पार्थिवप्रजा में एकमात्र मानवसमाज ही है। इसी के लिए वर्णव्यवस्थानुसार अधिकारीभेद नियत हैं। मनुष्यप्रजा ही **"यह यज्ञ तुम्हारे लिए इष्टकामधुक् है"**–इस आदेश की अन्यतम अधिकारिणी है। मनुष्य प्रजा का **रोदसी** त्रिलोकी से सम्बन्ध है। फलतः प्रकृत में प्रजापति शब्द से हमें उस प्रजापति का ग्रहण करना पड़ेगा, जो कि रोदसी त्रैलोक्य, रोदसीत्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा एवं रोदसीत्रैलोक्य में व्याप्त प्रजोत्पादक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है और वह है सुप्रसिद्ध **"हिरण्यगर्भ प्रजापति"**। सौर सावित्राग्निमण्डल ही हिरण्मयमण्डल कहलाता है। अग्नि को **हिरण्यरेता** कहा जाता है। इस हिरण्मयमण्डल के केन्द्र में रहने वाला अव्ययक्षरगर्भित अक्षरमूर्ति, दिव्य-इन्द्रात्मक सौर-पुरुष ही हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध है। सावित्राग्नि सम्बन्ध से हम इसे **"अग्नि"** कह सकते हैं। **अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज** इन चार मनुओं के सम्बन्ध से इसे हम **"मनु"** कह सकते हैं। रोदसीप्रजा के अधिष्ठाता होने से इसे हम **प्रजापति** कह सकते हैं। सौर दिव्य-इन्द्र के सम्बन्ध से इसे हम **"इन्द्र"** कह सकते हैं। प्राणमूर्त्ति अक्षर की प्रधानता से इसे हम **"प्राण"** कह सकते हैं एवं क्षरविशिष्टअव्यय ब्रह्म के अनुग्रह से इसे हम **"शाश्वत ब्रह्म"** कह सकते हैं। हिरण्मयमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित होने के कारण ही यह **"हिरण्यगर्भ"** नाम से सम्बोधित हो सकता है। इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित प्रजापतिनिरूपक श्रुति-वचनों में से हिरण्यगर्भप्रजापति के सम्बन्ध में एक दो वचनों को छोड कर प्रायः सभी वचनों का समन्वय हो जाता है। प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यपिण्ड इस हिरण्यगर्भप्रजापति का शरीर है, सूर्य्य-केन्द्र में प्रतिष्ठित हिरण्यगर्भ आत्मा है एवं सौर-प्रकाशमण्डल महिमा है। महिमाभाग पशु है, पिण्डभाग प्राण है, केन्द्रस्थ-तत्त्व आत्मा है। आत्मा-प्राण-पशु की समष्टि ही प्रजापति है। इस व्यापक लक्षण के अनुसार भी इसे प्रजापति कहा जा सकता है। इसी सूर्य्यप्रजापति की उक्त व्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न-लिखित श्रौत निगम हमारे सामने आते हैं—

१–सूर्य्योऽग्नेर्योनिरायतनम्[1] –"एष वै प्रजापतिर्यदग्निः"।

२–एष वाऽइन्द्रो य एष तपति[2]–"यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः"।

३–असौ वाऽआदित्यो हृदयम्[3] –"एष प्रजापतिर्यत्-हृदयम्"।

४–मनो वै सविता[4] –"यः प्रजापतिस्तन्मनः"।

५–सा या सा वाक्-असौ स आदित्यः[5] –"वाग्वै प्रजापतिः"।

६–एष वै संवत्सरो य एष तपति[6] –"संवत्सरो वै प्रजापतिः"।

१ तै० ब्रा० ३।६।२१।२-३। २ शत० ब्रा० २।३।४।१२।
३ शत० ब्रा० ६।१।२।४०। ४ शत० ब्रा० ६।३।१।१३।
५ शत० ब्रा० १०।५।१।४। ६ शत० ब्रा० १४।१।१।२७।

७–यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः[1] –"यज्ञ उ वै प्रजापतिः" ।

८–असौ वै सविता योऽसौ तपति[2] –"यो ह्येव सविता स प्रजापतिः" ।

९–तदसौ वा आदित्यः प्राणः[3] –"प्राणः प्रजापतिः" ।

१०–*अर्को वै देवानामन्नम्[4] –"अन्नं वाऽअयं प्रजापतिः" ।

११–वायुरेव सविता[5] –"वायुर्ह्येव प्रजापतिः" ।

१२–आदित्यो वै ब्रह्म[6] –"प्राजापत्यो वै ब्रह्मा" ।

१३–चन्द्र एव सविता[7] –"असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः" ।

१४–एष वै व्योमसत्[8] –प्रजापति र्वै व्योमा" ।

१५–तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः–[9] सत्यं हि प्रजापतिः" ।

१६–सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[10]–"आत्मा वै प्रजापतिः" ।

हिरण्यगर्भप्रजापति की इसी व्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१॥[11]

एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये, प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥[12]

---

१ शत० ब्रा० १।१।२।२१ । २ कौ० ब्रा० ७।६ ।
३ जै० उप० ब्रा० ४।२२।९ । ४ शत० ब्रा० १२।८।१।२ ।
* आदित्यो वा अर्कः (शत० ब्रा० १०।६।२।६)–स एष एवार्को य एष तपति (शत० ब्रा० १०।४।१।२२)
५ गो० ब्रा० पू० १।३३ । ६ जै० उप० ब्रा० ३।४।९ ।
७ जै० उप० ब्रा० ४।२७।१३ । ८ ऐ० ब्रा० ४।२० ।
९ शत० ब्रा० १४।८।६।३ । १० ऋग्वेद मं० १।११५।१
११ मनुस्मृति १२।१२२ । १२ मनुस्मृति १२।१२३ ।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥३॥[1]

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥४॥[2]

"हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध सूर्य्य ही प्रकृत प्रकरण का प्रजापति है"–यह उक्त निरूपण से भली भाँति सिद्ध हो जाता है। भूतज्योति का विकास ही सृष्टिकाल है एवं ज्योति का तिरोभाव ही प्रलय-काल है। सूर्य्यसत्ता अहरागम है, यही सृष्टिकाल है। सूर्य्य का अभाव रात्र्यागम है, यही प्रलयकाल है। जैसा कि निम्नलिखित गीता-वचन से स्पष्ट है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥[3]

अव्यक्तस्वयम्भू के अनुपाख्य तम को विदीर्ण करते हुए विश्व में सबसे पहले भगवान् सहस्रांशु ही प्रकट होते हैं। अभिव्यक्तिरूपा व्यक्तियों में पहली व्यक्ति यही सूर्य्य है। इसी अभिप्राय से मन्त्रश्रुति कहती है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[4]

स्वयम्भू परमप्रजापति हैं। इनसे–"**अप एव ससर्जादौ**" के अनुसार सर्वप्रथम आपोमय परमेष्ठी (प्रतिमा) प्रजापति का विकास होता है। इस प्रतिमाप्रजापति के गर्भ में–"**तासु बीजमवासृजत्**" के अनुसार प्रजाबीज सूर्य्यनारायण का जन्म होता है। उस स्वयम्भू प्रजापति की ओर से इस नारायणपुरुष को आज्ञा मिलती है कि तुम (प्रजोत्पत्ति के लिए) यज्ञ करो। फलतः सूर्य्यनारायण यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होते हैं। इनका यह यज्ञकर्म्म वसु-रुद्र-आदित्य भेद से तीन सवनों में विभक्त हो जाता है। प्रातःसवन में वसुओं के द्वारा पार्थिव-सृष्टि, माध्यन्दिनसवन में रुद्रों के द्वारा आन्तरिक्ष्य-सृष्टि एवं सायंसवन में आदित्यों द्वारा दिव्यसृष्टि की प्रवृत्ति होती है।

सूर्य्य अग्निमय है। अग्नि अन्नाद है। अन्न खाना अग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है। जब तक अग्नि में अन्न की आहुति होती रहती है, तभी तक अग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। इसी आधार पर हमें मानना पड़ता है कि अवश्य सौर-अग्नि में किसी अन्न की निरन्तर आहुति हो रही है। आहुत होने

१ मनुस्मृति १२।१२४। २ मनुस्मृति १२।१२५।
३ गीता ८।१८। ४ ऋग्वेद मं० १०।१२१।१।

वाला वही द्रव्य पारमेष्ठ्य सोम है। दाहक सावित्र अग्नि में दाह्य सोम की आहुति हुई, सूर्य्य प्रकाशित हो गया। इसी आहुति को लक्ष्य में रख कर सूर्य्य के लिए–"**सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्**"–यह कहा जाता है। यही पहला यज्ञ है। इसी अग्नीषोमात्मक सत्ययज्ञ से आगे जा कर ऋतयज्ञ का विकास होता है एवं ऋतयज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है। जैसा कि आगे की यज्ञनिरुक्ति में स्पष्ट हो जाएगा। सूर्य्यनारायण के द्वारा गायत्रीमात्रिकवेद के आधार पर होने वाले इसी यज्ञ का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"पुरुषं ह नारायणं (सूर्य्यं-हिरण्यगर्भप्रजापतिम्) प्रजापतिः (स्वयम्भूः) उवाच-यजस्व, यजस्वेति। स होवाच यजस्व-यजस्वेति वाव त्वं मामात्थ, त्रिरयक्षि। वसवः प्रातःसवनेनागू, रुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेन, आदित्यास्तृतीयसवनेन, अथ मम यज्ञवास्त्वेव। यज्ञवास्तावेवाहमास"।[1]

तात्पर्य्य श्रुति का यही है कि अपनी वसु, रुद्र, आदित्यरूपा ३३ विभूतियों से तो सूर्य्यनारायण त्रैलोक्य का संचालन करते है एवं स्वयं साक्षीरूप से यज्ञाधिपति बन कर स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहते हैं। स्वयं सूर्य्य द्वादश आदित्य प्राणों की समष्टि है। यही कश्यप (पश्यक) सूर्य्य की १२ तनू हैं। सहस्र रश्मियाँ इन्हीं १२ भागों में विभक्त हैं। इन्हीं के साथ दक्ष की १२ दाक्षायणियों का सम्बन्ध होता है। इन्हीं के मिथुनभाव से कश्यपरूप सूर्य्य सम्पूर्ण विश्व का पति बन रहा है–"**कश्यपात् सकलं जगत्**"। जैसा कि–"**कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः**"–इत्यादि प्रकरण में संक्षेप से कहा जा चुका है। सूर्य्य की इस प्राजापत्य विभूति का जैसा विशद निरूपण पुराणों में हुआ है, वैसा स्वयं वेद में भी उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए विशेष जिज्ञासुओं को **ब्रह्मपुराण** के २९–३०–३१–३२ अध्यायों का ही अध्ययन करना चाहिए। यहाँ संक्षेप से पुराणोक्त सौरविभूति का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

हिरण्यगर्भप्रजापति अपने आपको **इन्द्र, धाता, पर्जन्य, पूषा, अर्यमा,** भग, **विवस्वान्, विष्णु, अंशु, वरुण, मित्र, त्वष्टा** इन १२ रूपों में विभक्त करके ही तत्तत् विशेष प्रजा का प्रजापतित्व सम्पादित कर रहे है। समष्टिरूप से "**महापुरुष**" नाम का एक प्रजापति है—जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

तस्यैकत्वं महत्त्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः॥[2]

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना॥[3]

---

१ शत० ब्रा० १२।३।४।१। २ महाभारत शा० मो० पर्व ३५१।६।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३०१।२१।

व्यष्टिरूप से इन्द्रधातादि १२ प्रजापति हैं, इस दृष्टि से उसे विश्वरूप कहा जाता है । स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तपुर में सोने के कारण ही इसे पुरुष कहा जाता है । आगे जा कर यह अपने विभूतियोग से करोड़ों रूप धारण कर लेता है । विश्व-केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने के कारण यह प्रजापति ऊपर रहने वाली अमृतसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ सत् है, नीचे रहने वाली मृत्युसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ असत् है, अतएव इसे सदसदात्मक कहा जाता है, जैसा कि–"**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । आदित्यप्रजापति की इन्हीं विभूतियों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् व्यास कहते हैं–

अव्यक्ते च पुरे शेते पुरुषस्तेन उच्यते ।
विश्वं बहुविधं ज्ञेयं स च सर्वत्र उच्यते ।।
तथैव बहुरूपत्वाद्विश्वरूप इति स्मृतः ।।[1]

शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ।
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना ।।[2]

यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रसूयते ।
तथा रूपसहस्राणि स एकः संप्रसूयते ।।[3]

ता योनिं ब्रह्मणे विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः ।
अव्यक्ताव्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरुच्यते ।।[4]

पूर्वोक्त अपने १२ रूपों से क्रमशः इन्द्रमूर्त्ति **देवप्रजा** का संचालन करती है । धातामूर्त्ति **विविधप्रजा** उत्पन्न करती है । पर्जन्यमूर्त्ति **वृष्टि** करती है । त्वष्टामूर्त्ति **ओषधि–वनस्पतियों का निर्म्माण** करती है । पूषामूर्त्ति **प्रजापुष्टि** की अधिष्ठात्री है । अर्यमामूर्त्ति **वायु** पर अपना प्रभुत्व रखती है । भगमूर्त्ति **सम्पत्ति** की अधिष्ठात्री बनती है । विवस्वान्मूर्त्ति **अग्नि** का संचालन करती है । विष्णुमूर्त्ति **सबका पालन** करती है । अंशुमान्मूर्त्ति प्रजा में **आल्हाद** उत्पन्न करती है । वरुणमूर्त्ति **जल** की स्वरूप-निष्पत्ति का कारण बनती है । मित्रमूर्त्ति सब में **सुहृद्भाव** उत्पन्न करती है । इस प्रकार अपनी इन १२ मूर्त्तियों से आदित्यप्रजापति सम्पूर्ण विश्वप्रजा का संचालन कर रहे हैं ।

चैत्रमास में विष्णुकला से, वैशाख में अर्यमाकला से, ज्येष्ठ में विवस्वान्कला से, आषाढ में अंशुमान्कला से, श्रावण में पर्जन्यकला से, भाद्रपद में वरुणकला से, आश्विन में इन्द्रकला से,

---

१ महाभारत शा० मो० पर्व ३०३।१८ ।
२ महाभारत शा० मो० पर्व ३१४।२-३ ।
३ महाभारत शा० मो० पर्व ३१३।१६ ।
४ महाभारत शा० मो० पर्व ३३४।३१-३२ ।

कार्त्तिक में धाताकला से, मार्गशीर्ष में मित्रकला से, पौष में पूषाकला से, माघ में भगकला से एवं फाल्गुन में त्वष्टाकला से प्रधानरूप से यह प्रजापति परितप्त रहता है।

इस प्रकार यह हिरण्यगर्भप्रजापति बुद्धिरूप से विश्वकेन्द्र में प्रकाशित रहते हुए ऋतयज्ञ द्वारा रोदसी-त्रैलोक्य के एवं रोदसी त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा के पति बनते हुए अपने प्रजापति नाम को सार्थक कर रहे हैं। पाठकों को विदित है कि सूर्य्य ही अध्यात्मसंस्था में "बुद्धि" नाम से प्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से–**"हिरण्यगर्भो भगवान् सैव बुद्धिरिति स्मृतः"**–यह कहा जाता है। चूंकि बुद्धियोग ही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, बुद्धियोग-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म्म यज्ञकर्म्म हैं। इनकी मूल-प्रतिष्ठा बुद्धिरूप हिरण्यगर्भप्रजापति ही है अतएव भगवान् ने उसी यज्ञप्रजापति को आगे करते हुए, यज्ञकर्म्म के व्याज से बुद्धियोगमय अबन्धन कर्म्मों का स्वरूप ही अर्जुन के सामने रक्खा है। श्लोकस्थ **प्रजापति**-शब्द की यही संक्षिप्त मीमांसा है।

——१——

२–यज्ञः

प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा उत्पन्न की। वह कौनसा यज्ञ है, जिससे प्रजा उत्पन्न होती है? इस प्रश्न के उत्तर में हम **संवत्सरयज्ञ** को ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे। दो वस्तुओं का रासायनिक संयोग से मिल कर अपूर्वभाव में परिणत हो जाना ही यज्ञ है। मिलने वाली उन दो वस्तुओं में एक अग्नि है, दूसरा सोम। सूर्य्य-चन्द्रात्मकयज्ञ को हमने सत्ययज्ञ कहा है। सत्ययज्ञ से कभी प्रजोत्पत्ति नहीं होती। कारण, सत्ययज्ञान्न **ब्रह्मौदन** बना रहता है। सृष्टि होती है–प्रवर्ग्य से। प्रवर्ग्य को ही उच्छिष्ट कहा जाता है। उच्छिष्टभाग ही ऋत है। यह ऋतयज्ञ ही ऋतु द्वारा विश्वप्रजोपत्ति का कारण बनता है। सूर्य्य में से अग्नि निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। एवमेव चन्द्रमा में से सोम निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। सत्यसूर्य्य एवं सत्यचन्द्रमा में से जो अग्नि-सोम पृथक् हो जाते हैं, उन्हें ही ऋताग्नि एवं ऋत-सोम कहा जाता है।

सूर्य्यास्त होने पर (ग्रीष्म-ऋतु में) रात्रि में वायु गरम चला करता है। वायु में प्रतिष्ठित यह सौर अग्नि ही ऋताग्नि है। चान्द्रसोम प्रवर्ग्यरूप से वायु में व्याप्त हो कर वायु को शीतल बना देता है, यही वायव्य ऋतसोम है। सकेन्द्र सशरीरीभाव को सत्य कहा जाता है, अहृदय अशरीरीभाव को ऋत कहा जाता है। सूर्य्य-चन्द्र पिण्डों में रहने वाले अग्नि-सोम उक्तपरिभाषा के अनुसार सत्याग्नि, सत्यसोम हैं एवं वायु में इतस्ततः व्याप्त अहृदय-अशरीरी वायुमूर्ति अग्नि-सोम ऋताग्नि-ऋतसोम है। ऋतसोम का साम्राज्य उत्तर दिशा में एवं ऋताग्नि का साम्राज्य दक्षिण दिशा में माना जाता है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही "ऋतु" की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। ऋताग्नि में ऋतसोम निरन्तर आहुत होता रहता है। इस यज्ञ का आहवनीय कुण्ड विषुवद्वृत्त है। यहीं उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले सोम का एवं दक्षिण से उत्तर की ओर अजस्ररूप से आने वाले अग्नि का समन्वय होता है। अग्नि के तारतम्य से एक ही ऋतु की–**वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर**–ये ६ ऋतुएँ

हो जाती हैं। आरम्भ की तीन ऋतुएँ ऋताग्नि प्रधान होने से देवता एवं उत्तर की तीन ऋतुएँ ऋत-सोम प्रधान होने से पितर नाम से प्रसिद्ध हैं। आग्नेय प्राण को देवता एवं सौम्यप्राण को पितर कहा जाता है। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सर यज्ञमूर्त्ति है। इसी संवत्सरयज्ञ से पर्जन्य द्वारा वृष्टि होती है। वृष्टि से ओषधि–वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इनकी शरीराग्नि में आहुति होने से शुक्र उत्पन्न होता है। शुक्रसोम की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वह सत्ययज्ञप्रजा-पति ऋतात्मक संवत्सरयज्ञ द्वारा ही परम्परया प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। प्रकृत प्रकरण का यज्ञ-शब्द इसी संवत्सरयज्ञ को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

—२—

३–प्रजा:

स्तम्बादि तमोविशालसर्ग, कृम्यादि रजोविशालसर्ग, राक्षसादिसत्त्वविशालसर्ग की समष्टि ही प्रजा है। यज्ञ को हमने तीन सवनों में विभक्त बतलाया है। अव्यक्त स्वयम्भू की–"**यजस्व–यजस्व**"– इस आज्ञा से आदिष्ट नारायणपुरुष ने अपने यज्ञ को क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ इन तीन लोकों में विभक्त कर रक्खा है। पृथिवी अग्निप्रधान है, अन्तरिक्ष वायुप्रधान है, द्युलोक आदित्यप्रधान है। तीनों के क्रमशः वसु-रुद्र-आदित्य गणदेवता हैं। वसुदेवताक प्रातःसवन का अग्निप्रधान वैश्वानर से, रुद्रदेवताक माध्यन्दिनसवन का वायुप्रधान तैजस से एवं आदित्यदेवताक सायंसवन का आदित्यप्रधान प्राज्ञ से सम्बन्ध है। वैश्वानरप्रधान प्रजा असंज्ञप्रजा कहलाती है। जिन्हें ग्रामीणभाषा में जड़ कहा जाता है, वे सब धातु-जीव वैश्वानरयज्ञ पर प्रतिष्ठित हैं। इनमें एक ही कला का विकास रहता है अतएव इन्हें ऐकात्म्यक जीव कहा जाता है। वृक्षादि में वैश्वानर के साथ-साथ तैजसात्मा का भी विकास रहता है। ये ही मूल जीव हैं। इन्हें ही अन्तःसंज्ञ, द्व्यात्मक आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ दोनों तमोविशाल सर्ग हैं। सांख्य ने दोनों को एक प्रकार का सर्ग माना है। **कृमि-कीट-पशु-पक्षि**–मनुष्य इन पाँचों में वैश्वानर-तैजस के साथ-साथ प्राज्ञब्रह्मकला का भी विकास है, अतएव इन्हें जीव, ससंज्ञ, त्र्यात्मक आदि नामों से व्यवहृत किया जाता हैं। यही सांख्यशास्त्र का पञ्च-विध रजोविशालसर्ग है। **यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, ऐन्द्र, पैत्र्य, प्राजापत्य, ब्राह्म** यह अष्टविध सत्त्वविशालदेवसर्ग है। इसमें ८ तुष्टि, ९ सिद्धियों का विकास और रहता है। चन्द्रिका ही इनकी आवासभूमि है। इस प्रकार यज्ञकला के तारतम्य से रोदसी त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा के १४ विभाग हो जाते हैं। इसी के लिए सांख्य ने–"**चतुर्दशविधो भूतसर्गः**–यह कहा है। सबकी मूल प्रतिष्ठा वही सूर्य्य है, जैसा कि–"**प्राणःप्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**"–**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**–"**सूर्य्य आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च**"–इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। उस संवत्सरयज्ञ से प्रजापति ने यही प्रजा उत्पन्न की है। यज्ञ द्वारा प्रजा उत्पन्न कर वह आनन्त्यभाव को प्राप्त करता हुआ कृतकृत्य बन रहा है।

—३—

४–इष्टकामधुक्

त्रैलोक्य की प्रजा यज्ञ से उत्पन्न हुई है एवं यज्ञ द्वारा ही जीवित है। यज्ञ ही इनका इष्ट (जीवन साधन) है। बिना यज्ञ के कोई प्रजा स्वस्वरूप में सुरक्षित नहीं रह सकती। सचमुच यज्ञ ही प्राकृतिकस्वरूपरक्षा का अन्यतम साधन है। 'इष्टकामधुक्' का यही तात्पर्य्य है। आप कहेंगे–पिपीलिका आदि कौन सा यज्ञ करती हैं? हम कहेंगे–अधिकारीभेद से सभी अपने-अपने इष्टकामधुक् यज्ञ में तल्लीन हैं। सब सर्वमेधयज्ञ से सञ्चालित हैं। चीटियाँ जब अपना अन्नयज्ञ आरम्भ करती हैं तो इनकी सर्वमेधभावना देखने ही योग्य होती है। सब चीटियाँ मिल कर काम करती हैं। सबका संचय एक होता है। श्रुति का–**"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु"**–यह आदेश इनमें सर्वात्मना चरितार्थ होता है। निदर्शनमात्र है। सभी प्राणी किं वा उन्मुग्धप्राणी इष्टकामधुक् यज्ञ में संलग्न हैं। केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने प्रज्ञापराध से इस प्राकृतिक यज्ञ का अतिक्रमण कर डालता है–**"मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति"**। इसीलिए केवल इसी के शिक्षण के लिए शब्दशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। यज्ञ ही प्राकृतिकस्वरूपरक्षा का साधन है, यही सिखाने के लिए भौमस्वर्गस्थ मनुष्य हिरण्यगर्भप्रजापति ने अथर्वा द्वारा सबसे पहले वैधयज्ञविद्या का आविष्कार किया है। प्राकृतिक यज्ञस्वरूप के आधार पर प्रजापति ने विश्वप्रजा को तत्तद्वर्ण-धर्म्मों में व्यवस्थित कर आदेश दिया कि यह वैधयज्ञ तुम्हें उस प्राकृतिकयज्ञविभूति का अधिकारी बनाएँगे। इनसे तुम प्राकृतिकयज्ञ-संस्था को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकोगे। महामारी, अनावृष्टि, दारिद्र्य, व्याधियाँ, प्रजाविप्लव आदि सबको शान्त करने का एकमात्र उपाय यही यज्ञविद्या है। यज्ञविद्यात्मक ब्रह्मविद्या से तुम सब कुछ कर सकते हो–**"ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः"**। सावधान! यज्ञकर्म्म किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा कहा हुआ नहीं है। अपि तु, देवयुग के आरम्भ (पुरा) में आविर्भूत स्वयं हिरण्यगर्भप्रजापति ने यज्ञ द्वारा प्रजासृष्टि (प्रजाविभाग) करते हुए अधिकारीभेद से यज्ञकर्म्मों का आदेश दिया है। यदि तुम अपने आदिपुरुष की उक्त आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो प्रकृतिक्षोभ के साथ-साथ अपना भी सर्वनाश करा बैठोगे। इसलिए तुम्हें मुक्तसंग बन कर, उसी सर्वमेध को लक्ष्य में रखते हुए यज्ञार्थ-कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। दिव्यहिरण्यगर्भ द्वारा सञ्चालित प्राकृतिक नित्ययज्ञ एवं भौमहिरण्यगर्भ द्वारा आविष्कृत वैधयज्ञ-कर्म्म की महत्ता बतलाते हुए ही भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥[1]

—२—

(२) ३–देवान् भावयतानेन०—

१३ प्रकार के अबन्धन यज्ञकर्म्मों से प्रकृत में केवल देवयज्ञ का ही निरूपण हुआ है, यह पूर्व के प्रतिज्ञासूत्र में कहा जा चुका है। इसको देवयज्ञपरक क्यों माना गया? इस प्रश्न के समाधान

१ गीता ३।१०।

करने वाले–**देवान् भावयतानेन०–इष्टान् भोगान्०–यज्ञाशिष्टाशिनः०**–ये ही तीनों श्लोक हैं। भगवान् ने इस यज्ञ में देवताओं की ही परितुष्टि बतलाई है, अतएव हम इस प्रकरण को अवश्य ही देवयज्ञपरक मानने के लिए तय्यार हैं। **"चित्रं देवानामुदगात्"**–**"एष वै सर्वेषां देवानामात्मा"**–इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सूर्य्य ही सम्पूर्ण देवताओं की प्रतिष्ठा है। सूर्य्य ही देवयज्ञ की प्रतिष्ठा है, अतएव पूर्व प्रकरण में हमने यज्ञाधिष्ठाता प्रजापति से सूर्य्यप्रजापति का एवं यज्ञ शब्द से वसु-रुद्र-आदित्यात्मक देवयज्ञ (संवत्सरयज्ञ) का ग्रहण किया है, जो कि प्रकरण-संगति की दृष्टि से सर्वथा समीचीन है। संवत्सरयज्ञात्मक विश्व एवं प्रजा की प्राकृतिक परिस्थिति की रक्षा के लिए जो वैधयज्ञ किए जाते हैं, उससे प्राकृतिक देवता भावित होते हैं। उनका प्रजा पर अनुग्रह होता है। इस परस्पर के सहयोग से विश्वशान्ति का उदय रहता है। यही इस देवयज्ञ का मौलिक रहस्य है।

ईश्वरीय प्रपञ्च **अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि ईश्वरीययज्ञ–**आध्यात्मिकयज्ञ, आधिदैविकयज्ञ, आधिभौतिकयज्ञ**–भेद से तीन भागों में विभक्त है। आधिदैविकयज्ञ **अमृतयज्ञ** है, आध्यात्मिकयज्ञ **ब्रह्मयज्ञ** है एवं आधिभौतिकयज्ञ **शुक्रयज्ञ** है। अमृतयज्ञ मनःप्रधान है, इसी को **ब्रह्मयज्ञ** कहा जाता है। ब्रह्माग्नि ही इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। ब्रह्मयज्ञ प्राणप्रधान है। इसी को **देवयज्ञ** कहा जाता है। देवाग्नि ही इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। शुक्रयज्ञ वाक्प्रधान है। इसी को भूतयज्ञ कहा जाता है। भूताग्नि ही इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। कैसा धारावाहिक कर्म्म है! ब्रह्मयज्ञ सांख्यों का ज्ञानमार्ग है। भूतयज्ञ कर्म्मठों का योगमार्ग है। मध्यस्थदेवयज्ञ दोनों का संग्राहक बनता हुआ भगवान् का बुद्धियोगमार्ग है। तीनों ही यज्ञसंस्थाओं में यद्यपि मन-प्राण-वाक् तीनों का समावेश है, परन्तु तीनों की प्रधानता के तारतम्य से तीन संस्थाएँ हो जाती हैं। ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्म (ज्ञान) प्रधान है, भूतयज्ञ में भूतप्रधान है, देवयज्ञ में दोनों समान हैं। इसीलिए तो भगवान् ने देवयज्ञ को प्रधानता दी है। ब्रह्मयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा स्वयम्भू है, देवयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य है, भूतयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा पृथिवी है। पृथिवी में सबसे ऊपर भूत का स्तर है, भूत से नीचे देवता का स्तर है। सर्वान्त में ब्रह्म प्रतिष्ठित है। सूर्य्य में सबसे ऊपर देवता का स्तर है, देवस्तर के भीतर भूत का स्तर है, सर्वान्त में ब्रह्म प्रतिष्ठित है। स्वयम्भू में सबसे ऊपर ब्रह्म है, भीतर देवता है, सर्वान्त में भूत है। पृथिवी का भूत पृथिवी है, देवता गायत्राग्नि है, ब्रह्म आत्मक्षर है। सूर्य्य का देवता सावित्राग्नि है, भूत तेज है, ब्रह्म अक्षर है। स्वयम्भू का ब्रह्म अव्यय है, देवता वागग्नि है, भूत आकाश है। तीनों परस्पर में सर्वमेधयज्ञ के द्वारा मिले हुए हैं। निम्नलिखित परिलेख से उक्त विषय स्पष्ट हो जाता है—

मूलात्मा

↓

स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

↓

स एष सर्वमेधयज्ञः

↓

मनोमयज्ञः	प्राणमययज्ञः	वाङ्मययज्ञः
अमृतयज्ञः	ब्रह्मयज्ञः	शुक्रयज्ञः
ब्रह्मयज्ञः	देवयज्ञः	भूतयज्ञः
स्वयम्भूयज्ञः	सूर्य्ययज्ञः	पृथिवीयज्ञः
ब्रह्माग्निः प्रतिष्ठा	देवाग्निः प्रतिष्ठा	भूताग्निः प्रतिष्ठा
आधिदैविकयज्ञः	आध्यात्मिकयज्ञः	आधिभौतिकयज्ञः

१–स्वयम्भूः–आधिदैविकयज्ञः–ईश्वरयज्ञः—

१–प्रथमस्तरः (केन्द्रे)—→भूतानि (आकाशः)—वाक्
२–द्वितीयस्तरः (मध्ये)→देवताः (वागग्निः)–प्राणः
३–तृतीयस्तरः (पृष्ठे)—→ब्रह्म (अव्ययः)–मनः

} →मनोयज्ञः (अमृतयज्ञः) (सांख्यानाम्)

२–सूर्य्यः–आध्यात्मिकयज्ञः–जीवयज्ञः—

१–प्रथमस्तरः (केन्द्रे)→ब्रह्म (अक्षरः)–मनः
२–द्वितीयस्तरः (मध्ये)→भूतानि (तेजः)–वाक्
३–तृतीयस्तरः (पृष्ठे)→देवताः (सावित्राग्निः)–प्राणः
→प्राणयज्ञः (ब्रह्मयज्ञः) (बुद्धियोगिनाम्)

—०—

३–पृथिवी–आधिभौतिकयज्ञः–विश्वयज्ञः—

१–प्रथमस्तरः (केन्द्रे)→ब्रह्म (आत्मक्षरः)–मनः
२–द्वितीयस्तरः (मध्ये)→देवताः (गायत्राग्निः)–प्राणः
३–तृतीयस्तरः (पृष्ठे)→भूतानि (पृथिवी)–वाक्
→वाग्यज्ञः (शुक्रयज्ञः) (योगिनाम्)

—०—

पृथिवी में उत्पन्न होने वाली प्रजा में उक्त तीनों यज्ञों का प्रवर्ग्यांश विद्यमान है ! फलतः प्रजा-सृष्टि में उक्त तीनों यज्ञों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। जितनी भी प्रजाएं हैं, उन सबमें ब्रह्म-देव-भूत तीनों यज्ञ प्रतिष्ठित हैं। स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी तीनों से प्रजा उत्पन्न हुई है, परन्तु सूर्य्यद्वारा। इसीलिए तो पूर्व प्रकरण में प्रजापति शब्द से सूर्य्यप्रजापति एवं यज्ञ शब्द से सूर्य्य-सम्बन्धी संवत्सरयज्ञ का ग्रहण किया है। तीनों यज्ञों के प्रवर्ग्यांशों से उत्पन्न प्रजा की स्थिति भी इन्हीं तीनों यज्ञमात्राओं के अजस्र आगमन पर निर्भर है। हम (प्रजामात्र) प्रतिक्षण प्राकृतिक यज्ञमात्राओं को लेते रहते हैं, साथ ही में हमारी तीनों मात्राएँ प्रतिक्षण उसमें आहुत होती रहती हैं। हम उसके अन्न बने हुए हैं, वह हमारा अन्न बना हुआ है। आदान-विसर्गात्मक इसी नित्ययज्ञ को भैषज्ययज्ञ कहा जाता है। यही नित्ययज्ञ है। यमवायु के आक्रमण से जिस दिन यह यज्ञधारा विच्छिन्न हो जाती है, उसी क्षण प्रजा को यम का अतिथि बन जाना पड़ता है। इस नित्ययज्ञ की दृष्टि से प्रजा और देवताओं में सद्भावना बनी हुई है। परन्तु मनुष्यप्रजा इस नित्ययज्ञ का स्वरूप अपने प्रज्ञापराध से विकृत बनाती हुई देवताओं का सद्भाव खो बैठती है, अतः इसी के लिए विशेषरूप से देवयज्ञ का विधान हुआ है। बात यह है कि आसक्ति एवं वैयक्तिक स्वार्थ के कारण मनुष्यप्रजा भूतसंस्कार से वेष्टित होती हुई अपने भूतयज्ञ को प्रधान बना डालती है। भूत की प्रधानता से प्रजा का देव एवं ब्रह्मभाग निर्बल बन जाता है। यही मनुष्य-प्रजा का मृत्युपाश है। यही दुःख-प्रवृत्ति का मूल कारण है। इसे करना क्या चाहिए ? सुनिए ! मनुष्य-प्रजा में भी इतर प्रजा की तरह ब्रह्म-देव-भूत तीनों का समावेश है। इसे अपने भूत का उस व्यापक भूतयज्ञ के साथ, देव का व्यापक देवयज्ञ के साथ एवं ब्रह्म का उस व्यापक ब्रह्मयज्ञ के साथ, अन्तर्य्यामि

सम्बन्ध करा देना चाहिए। इसका एकमात्र उपाय देवयज्ञ ही है। कारण इसका यही है कि देवता ब्रह्म-भूत दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हैं। फलतः **तन्मध्यपतित न्याय** से देवग्रहण से दोनों गृहीत हो जाते हैं। ज्ञान-कर्म्म-उपासना तीनों का समन्वय हो जाता है। देवता द्वारा अपने भूतभाग का उस भूत-यज्ञ के साथ सम्बन्ध करा देना कर्म्मकाण्ड है, देवता द्वारा अपने देवभाग का उस देवयज्ञ के साथ सम्बन्ध करा देना उपासनाकाण्ड है एवं देवता द्वारा अपने ब्रह्मभाग का उस ब्रह्मयज्ञ के साथ सम्बन्ध करा देना ज्ञानकाण्ड है। कर्म्मकाण्ड ही **"दान"** है। उपासनाकाण्ड ही "तप" है एवं ज्ञानकाण्ड ही **"यज्ञ"** है। यज्ञ-तप-दान तीनों क्रमशः ब्रह्म-देव-भूतयज्ञ हैं। तीनों ही विद्यासमुच्चितकर्म्म कहलाते हैं। **"यज"** धातु से यज्ञशब्द सम्पन्न हुआ है। 'यज' धातु के सम्बन्ध में–**"यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु"**–यह वाक्य प्रसिद्ध है। देव का पूजा-सङ्गतिकरण-दान तीनों के साथ समान सम्बन्ध है। **देवपूजा, देवसङ्गतिकरण, देवदान** तीनों यज्ञ हैं। भूतसम्बन्ध से देवदान, देवसम्बन्ध से देवसंगमन एवं आत्म (ब्रह्म) सम्बन्ध से देवपूजा की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। इस प्रकार एक ही यज्ञ तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

तीनों में संगमन ही प्रधान है। एक में भूतसंगमन है, एक में देवसंगमन है, एक में ब्रह्मसंगमन है। संगमन देवप्रधान है, अतएव अन्ततोगत्वा–**"देवानां देवैः सह संगमनं यज्ञः"**–यज्ञ का यही निष्कर्ष निकलता है। दानयज्ञ का वाङ्मय स्थूलशरीर के साथ, संगमनयज्ञ का प्राणमय सूक्ष्मशरीर के साथ, पूजनयज्ञ का मनोमय कारणशरीर के साथ सम्बन्ध है। ये ही तीनों धर्म्म सुप्रसिद्ध अग्निहोत्रादि वैधयज्ञों में रहते हैं। इसीलिए तो इन्हें 'यज्ञ' शब्द से सम्बोधित करना चरितार्थ होता है। अपने आध्यात्मिक देवताओं को उन आधिदैविक देवताओं के साथ मिलाने के लिए ही वैध श्रौतयज्ञ किए जाते हैं। इसके लिए आधिभौतिक पुरोडाश (आहुतिद्रव्य) को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। पुरोडाश में भूत-एवं प्राण दो भाग हैं। दृश्य स्थूलभाग भौतिक है एवं जिस तत्त्व के आधार पर पुरोडाशद्रव्य स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह कूटस्थ विधर्त्तातत्त्व ही प्राण है, यही देवता शब्द से सम्बोधित हुआ है। भूतभाग पञ्चीकरण-प्रक्रिया की कृपा से पञ्चावयव है। प्राणात्मक देवता ३३ हैं। इस प्रकार भौतिक पुरोडाश-द्रव्य में ५ भूत, ३३ देवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यजमान जिस देवता की भावना करके आहवनीयाग्नि में पुरोडाश की आहुति देता है, **"मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति"**–इस सिद्धान्त के अनुसार भावनाबल से वही देवता विकसित हो कर उस नित्य प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ योग करता हुआ, तत्सम्बन्ध से यजमान के प्राणदेवता का ग्रन्थिबन्धन करवा देता है। इस ग्रन्थिबन्धन के प्रभाव से यजमान का मानुषात्मा (भूतात्मा) दैवात्मा बन जाता है। उसी प्राकृतिक देवबल के आगमन से यह स्वयं भी देवता बन जाता है। यही सत्रस्य ऋद्धि है। इसी ऋद्धि का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः॥[1]

---

१ यजुर्वेद ८।५२।

"यावद्वित्तं तावदात्मा"–इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में प्रतिष्ठित रहता है । पुरोडाश के द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ मिल रहा है । यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम "पूजा" है । यही परानुरक्ति-लक्षणा उपासना है । दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोक में, देवताओं के शासन में, प्रतिष्ठित करना ही, अपने आपको उनकी आराधना के लिए भेंट चढ़ाना ही, देवपूजा है । देवभाग देवभाग के साथ मिल जाता है–यही संगतिकरण है । शेष बचता है–भूतभाग । उसे भी प्राकृतिक देवता लेते हैं, परन्तु **"स्वाहा"** सम्बन्ध से । बहिर्य्यामसम्बन्ध को स्वाहा कहा जाता है, अन्तर्य्यामसम्बन्ध **स्वधा** नाम से प्रसिद्ध है । **"न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति"**–के अनुसार अग्निप्रधान, अतएव असंग देवप्राण, सोमप्रधान, अतएव ससंग पितरप्राण की तरह अन्तर्य्याम सम्बन्ध से पुरोडाश में प्रविष्ट नहीं होते, अपि तु, उसके बाहर के धरातल में ही व्याप्त रहते हैं । **"स्वमन्होति, व्याप्नोति"** के अनुसार देवान्न **"स्वाहा"** नाम से प्रसिद्ध है, अतएव लोक में देवताओं को वासना का भूखा बतलाया जाता है । स्वाहा बोलकर ही देवताओं के लिए आहुति दी जाती है । इस प्रकार हमारे वैधयज्ञ में भी तीनों का समावेश हो जाता है । उस यज्ञविभूति की प्राप्ति का उपाय ही तो यह वैधयज्ञ है । जैसी स्थिति उसकी है, वैसी ही स्थिति इसकी है–**"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** ।

१–भूतसम्बन्धात्–दानयज्ञः———→स्थूलशरीरसम्बन्धी–वाङ्मयः

२–देवसम्बन्धात्–संगतिकरणयज्ञः→ सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी–प्राणमयः

३–ब्रह्मसम्बन्धात्–पूजायज्ञः———→कारणशरीरसम्बन्धी–मनोमयः

—०—

प्राकृतिक देवताओं का अनुग्रह स्वाभाविक है । पूर्वकथनानुसार आध्यात्मिक प्राणदेवता निरन्तर आधिदैविक देवताओं में आहुत होते रहते हैं एवं साथ ही में वे प्राणदेवता हमारी अध्यात्मसंस्था में आहुत होते रहते हैं । प्रकृतिमण्डल अपने पदार्थ हमें देता भी रहता है, लेता भी रहता है । मैं उससे उत्पन्न हुआ हूँ, उत्पन्न होने वाले मुझ अन्न को वह खाता है एवं अन्नरूप मुझ अन्न को खाने वाले उसे मैं भी खाता रहता हूँ–**"सर्वमन्नम्–सर्वमन्नादः"** । इसी प्राकृतिक, त्रिपर्वाविश्वयज्ञ का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाभिः ।
यो मा ददाति स इदेव माऽऽवाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ।।[1]

प्राकृतिक एवं वैकृतिक देवताओं के इसी संयोग को **"प्रहितां-संयोगः"**–**"प्रयुतां-संयोगः"**–कहा जाता है । उनका यहाँ आना–"प्रहितां-संयोगः" है, इनका वहाँ जाना–"प्रयुतां-संयोगः" है । **इस प्रकार**

१ तै० ब्रा० २।८।८।१ एवं तैत्तिरीयोप० ३।१०।६ ।

जब प्रकृति द्वारा देवभावनारूप, स्थितिस्वरूपरक्षक यह यज्ञ अपने आप सञ्चालित हो रहा है तो फिर हमें वैधयज्ञों की क्या आवश्यकता रह जाती है ? यह है एक जटिल प्रश्न । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही–"**देवान् भावयतानेन०**"–यह श्लोक प्रवृत्त हुआ है ।

प्रकृति क्या है ? इसका उत्तर विकृति की समष्टि है । प्रजा विकृतिभाव है । प्रजा की समष्टि ही तो प्रजापति शब्द को सुरक्षित रखती है । प्राजापत्यमण्डल ही तो प्राकृतिकमण्डल है । प्रजामण्डल ही तो प्राजापत्यमण्डल है । जिस प्रकार राजा, पिता, पति, गुरु इत्यादि शब्द क्रमशः प्रजा-पुत्र-पत्नी-शिष्य इन शब्दों को साथ ले कर ही अपने राजादि शब्दों को सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, एवमेव प्रजापति शब्द नित्यसाकांक्षशब्द बनता हुआ प्रजा को साथ ले कर ही अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है । प्रकृति का प्रकृतित्व विकृतिरूप प्रजाभाव पर निर्भर है । यदि विकृतिरूपा प्रजा उत्पथमार्ग का अनुगमन करने लगती है, प्राकृतिक यज्ञधर्म्मों को छोड देती है तो इसका अवश्य ही प्रकृतिमण्डल पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जैसा कि–"**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा०**"–इत्यादि-अवतार प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । इतर प्रजा से तो प्रकृतिक्षोभ की आशङ्का नहीं हैं, परन्तु मनुष्यप्रजा पूर्वकथनानुसार प्राकृतिकयज्ञ का अनादर कर क्षोभ का कारण बन जाती है । यही उत्पथमार्ग प्रजा का पाप है । इसी प्रजापाप से प्रकृतिमण्डल विषम बन जाता है । इस विषमता का परिणाम यह होता है कि प्राकृतिक देवता न समय पर वृष्टि करते, अतिवृष्टि करने लगते हैं । राष्ट्र में महामारी, प्रजाविप्लव, अनाचार होने लगते हैं । इन सब उपद्रवों की चिकित्सा का एकमात्र उपाय है–सर्वमेधयज्ञमूलक श्रौत वैधयज्ञ । वृष्टि नहीं हुई, विश्वास कीजिए देवता का अनुग्रह नहीं हुआ । लोककल्याणभाव से **कारीरीइष्टि** कीजिए, तत्काल वृष्टि होगी । यदि राष्ट्र में अत्याचारियों का शासन बढ़ रहा है तो एक क्षत्रिय को तत्काल युद्धयज्ञ करना पड़ेगा । यदि अर्थसमस्या जटिल हो रही है तो एक वैश्य को अपने संचितअर्थ से अर्थयज्ञ द्वारा इस समस्या का निरोध करना पड़ेगा । परन्तु ध्यान रहे, सर्वत्र सर्वमेधभाव की भावना का विस्मरण न हो । वैयक्तिक कामसंग ही इस यज्ञकर्म्म को बन्धक बना देता है । तुम्हारा प्रत्येक यज्ञकर्म्म सामाजिकस्थिति की रक्षा के लिए हो । तभी देवताओं की भावना तुम प्राप्त कर सकोगे । तुम्हारे इस वैधयज्ञ से तुम देवमण्डल को शान्त रक्खो । देवता शान्त बन कर तुम्हें शान्त रक्खेंगे । परस्पर की इस सद्भावना से तुम्हारा, तुम्हारे समाज का, तुम्हारे राष्ट्र का, नहीं नहीं, सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होगा । ठीक इसके विपरीत यदि तुम कामासक्तिपूर्वक वैयक्तिक स्वार्थों को आगे करते हुए यज्ञकर्म्मों में प्रवृत्त हुए तो तुम्हें प्रेयभाव मिलेगा, द्वन्द्व का आक्रमण होगा । उस समय वह वेद तुम्हारे लिए "**वेदवाद**" बन जाएगा । निस्त्रैगुण्य वेद त्रैगुण्यभाव से आक्रान्त हो जाएगा ।

आज हो क्या रहा है ? प्रत्येक व्यक्ति का यज्ञ विश्वयज्ञसम्पत्ति से वञ्चित हो रहा है । सब अपने-अपने स्वार्थों में तल्लीन हैं । गृह-कलह का, सामाजिक कुरीतियों का, राष्ट्र की परतन्त्रता का विश्व-अशान्ति का यही मुख्य बीज है । कोई किसी के कार्य में सहयोग देने के लिए तय्यार नहीं है । ब्राह्मणवर्ग स्वतन्त्र बन रहा है । फलतः इसका विद्यायज्ञ अपूर्ण बन रहा है । क्षत्रियवर्ग अपने आपको स्वतन्त्र समझता है । वैश्यवर्ग का एकमात्र लक्ष्य है, विलासलीला के लिए धन सञ्चय करना । विद्या-

वीर्य-अर्थ तीनों में परस्पर असहयोग हो रहा है। उधर हमारे बुद्धिमान् नेता इस सर्वनाशक असहयोग को ही विश्वशान्ति का मुख्य कारण मान रहे हैं। असहयोग-"परस्परं भावयन्त:"-का महाविरोधी है। इसमें सर्वभूतहितरति का अभाव है। धर्म्म से असहयोग, शास्त्र से असहयोग, अपनी भौतिक संस्कृति से असहयोग-असहयोग-असहयोग। सर्वत्र असहयोग आन्दोलन की धूम मच रही है। पिता का पुत्र के साथ असहयोग, पत्नी का पति के साथ असहयोग, विद्वानों का राष्ट्रवादियों के साथ असहयोग, राष्ट्रवादियों का विद्वानों के साथ असहयोग, आर्यसमाज का सनातनियों के साथ, सनातनियों का आर्यसमाज के साथ असहयोग, हिन्दू का मुसलमान के साथ, मुसलमान का हिन्दू के साथ असहयोग, कैसा ताण्डव नृत्य! कितना भीषण दृश्य!! कैसा पतन!!! क्या इसी बल पर हम श्रेयोभाव प्राप्त कर सकते हैं? असम्भव! घर में पुत्र-कन्याएँ हमारा शासन मानते नहीं, चले हैं राष्ट्रोद्धार के लिए। अन्तःकरण मलिन, भीषण अर्थलालसा, शास्त्रज्ञान का नितान्त अभाव, गीता की पुस्तक हाथ में, चले हैं सुधार करने। आर्य ऋषियों ने सहयोग की जो प्रणालियाँ आविष्कृत की थीं, उनका तिरस्कार, कल्पित प्रणालियों का आविष्कार, शास्त्र एवं शास्त्रविहित यज्ञमूलकधर्म्म की निन्दा, हो चुका विश्व कल्याण! मिल चुकी स्वतन्त्रता!! जिन पापों को ऋषियों ने परतन्त्रता का बीज माना है, उन्हीं पापकर्म्मों को स्वतन्त्रा-प्राप्ति में उपयुक्त समझा जा रहा है। पञ्चमहायज्ञ, स्नान, सन्ध्या, वेदस्वाध्याय, तीर्थ, श्राद्ध, भगवद्दर्शन आदि का तो नाम नहीं। उत्पथगमन, अभक्ष्याभक्षण, अगम्यागमन, वर्णाश्रम का घोर विरोध, गीता के कर्म्मवाद की दुहाई, एकैकमप्यनर्थाय। इन्हीं सारी विषमताओं से आज हम सुधार के स्थान में अपने हाथों ही अपना सर्वनाश करा रहे हैं। असहयोग हमारी रक्षा नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। जब तक आर्य जाति स्व-स्ववर्णानुकूल अपने-अपने यज्ञकर्म में (वैयक्तिक स्वार्थों को छोडती हुई परस्पर की सद्भावना से) प्रवृत्त न होगी तब तक कभी प्रकृति हमारे ऊपर प्रसन्न नहीं हो सकती। **"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"**-ही ब्राह्मी उपनिषत् है, यही आदेश है, यही उपदेश है, यही शिक्षा है, यही दीक्षा है, यही असहयोग है, यही सत्याग्रह है, यही भद्र अवज्ञा है। इसी यज्ञोपनिषत् का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥[1]

—३—

(३) ४-इष्टान् भोगान् हि वो देवा:०—

जो व्यक्ति अपने वैयक्तिकस्वार्थ को प्रधान बना कर स्वर्गादिफलों की कामना रखते हुए यज्ञकर्म्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे कहने भर को इष्ट भोगों को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी स्वार्थलिप्सा अवश्य ही कुछ समय के लिए इन यज्ञकर्म्मों से शान्त हो जाती है। परन्तु जिसे इष्ट कहना चाहिए, वह इष्ट

१ गीता ३।११।

इन्हें स्वप्न में भी नहीं मिलता। यज्ञकर्त्ता एक व्यक्ति यज्ञद्वारा स्वयं तो सुखी है। परन्तु उसका समाज, उसका राष्ट्र अन्न के दाने-दाने के लिए तरसता है। सर्वत्र अशान्ति ताण्डवनृत्य कर रही है। क्या मानवता के नाते उक्त स्वार्थी अपने इस बन्धुवर्ग के शोक-मोह से स्वयं बच जाएगा? देखिए न! भूकम्प होता है। पापात्माओं के साथ शास्त्रनिष्ठ पुण्यात्मा भी विलीन हो जाते हैं। विगतवर्षों में होने वाले बिहार भूकम्प के सम्बन्ध में एक मनचले नेता ने भूकम्प का कारण बतलाते हुए कहा था कि–"बिहार में अछूतों के साथ बडा अत्याचार हुआ है, इसी पाप से वहाँ भूकम्प हुआ है"। हम उस कल्पनारसिक से क्या यह प्रश्न नहीं कर सकते कि जिस **क्वेटा** में स्पृश्यास्पृश्य का कोई विवेक नहीं था, वहाँ किस पाप से भूकम्प हुआ? ज्यों-ज्यों स्पृश्यास्पृश्य विवेक हटता जाता है, सम्भवतः त्यों-त्यों प्रकृति शान्त होती जाती है! क्यों? ठीक है न। धन्य हैं वे नेता, धन्य हैं उनके अनुयायी।

कहना यही है कि जो यज्ञकर्म्म (आसक्तिपूर्वक) करते हैं, उन्हें न यहाँ इष्ट भोग मिलते, न वहाँ शान्ति मिलती। यहाँ बन्धुवर्ग के क्षोभ से इष्टभोगानुभव में अशान्ति, वहाँ स्वर्गपतनरूप भय से अशान्ति। इसी प्रकार जो शास्त्रसिद्ध यज्ञकर्म्मों का तिरस्कार कर उत्पथ अशास्त्रीय कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे भी इष्टभोग प्राप्त करने में असमर्थ ही रहते हैं। प्रकृति का आशय बडा उदार है। प्रजा के उत्पथगमन करने पर भी वह यथाशक्ति प्रजा का पालन-पोषण करती हुई अपने–"**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**"–इस मातृवात्सल्य को चरितार्थ करती रहती है। समय पर वृष्टि नहीं होती, पर्य्याप्त मात्रा में अन्न उत्पन्न नहीं होता। अकाल-दुष्काल पडते हैं। लोग अनाचार करते हैं। फिर भी जैसे तैसे पेट भर ही जाता है। भोगप्राप्ति हो ही जाती है। परन्तु यह भोग वैसा ही भोग है, जैसे एक कुपूत अपने पिता पर दावा करके बलात् सम्पत्ति का अधिष्ठाता बन जाता है। ऐसे भोग से प्रजा कभी शान्त नहीं रह सकती। अकाल-मृत्यु, पद-पद पर भोग की कमियाँ, ये सब अनिष्टभाव ऐसी प्रजा पर निरन्तर आक्रमण करते रहते हैं। सुबह का भोजन है तो साँझ का पता नहीं। भोजन है तो वस्त्र नहीं। भोजन-वस्त्र हैं तो सम्पत्ति नहीं। सम्पत्ति है तो सन्तान सुख नहीं। सन्तान सपूत है तो स्वास्थ्य अच्छा नहीं। स्वास्थ्य ठीक है तो सन्तान अयोग्य है। इस प्रकार अयज्ञिय प्रजा यद्यपि-प्रकृतिदत्त भोगों से जैसे तैसे कालयापन करती है, परन्तु इसका यह भोग इष्टभाव (पर्य्याप्तभोग सामग्रीमूलक तृप्ति) से सर्वथा वञ्चित रहता है। ऐसे भोग में तृप्ति का नितान्त अभाव है, तृष्णा का पूर्ण साम्राज्य है। तृप्तिमूलक भोगों का सर्वमेध यज्ञमूलक अबन्धन यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध है। इन कर्म्मों से प्राकृतिक देवता भावित होते हुए समय पर वर्षा करते हैं। इष्टभोग को यज्ञ के एवज में हमें प्रदान करते हैं। विश्व में पूर्णशान्ति रहती है। अन्न-धन-पुत्र-कलत्र-आदि से देश पूर्ण समृद्ध रहता है। यज्ञभावित देवता अवश्य ही इष्टभोगों के प्रदाता बनते हैं।

प्राकृतिक देवताओं ने ऋणरूप से हमें ज्ञान-क्रिया-अर्थसम्पत्ति प्रदान की है। उन्हीं से हमें सम्पूर्ण भोग मिले हैं। यद्यपि यह ठीक है कि पूर्वोक्त प्राकृतिक नित्ययज्ञव्यवस्था के अनुसार वे बलपूर्वक हमारे भोगों को अपने में आहुत करते रहते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया एक प्रकार का दण्ड है। राजा को हम यदि प्रसन्नतापूर्वक उसका षष्ठांश दे देते हैं तो वह इस प्रदान से प्रसन्न हो कर हमारे लिए इष्टभोगों की व्यवस्था कर देता है। नहीं तो दण्डपूर्वक अपना भाग तो हमसे छीन ही लेता है, साथ ही में

उसका सहयोग खोते हुए हम अपने इष्टभोगों से भी वञ्चित हो जाते हैं। संसार हमें राज का चोर समझता है। जिसके सुप्रबन्ध से, जिसकी छत्रछाया में हमें जो भोग प्राप्त होते हैं, उन्हें उसके समर्पित कर पेट पालना चोरी नहीं तो और क्या है ? इसी लोकसिद्ध राजतन्त्र दृष्टान्त को संकेतविधया प्रजा के सामने रखते हुए भगवान् कहते हैं कि जिन प्राकृतिक देवताओं से तुम्हें जो भोग मिले हैं, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक समर्पित न करते हुए तुम चोर बनते हो। इष्टभोग से वञ्चित होते हो। तुम्हारा वह वैयक्तिक भोग सचमुच एक बडा भारी पाप है, जैसा कि अग्रिम श्लोक में स्पष्ट होने वाला है। यज्ञकर्म्म करना ही अपनी-ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिरूप तीनों भोगों को देवताओं के अर्पित करना है। इसी दानरहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥[1]

—४—

(४) ५—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः०—

तुम्हें यज्ञ का उच्छिष्ट खाना चाहिए। यज्ञप्रजापति का उच्छिष्ट भोग लेने में ही तुम्हारा कल्याण है। इसी भोग-रहस्य का प्रतिपादन करती हुई उपनिषत्-श्रुति कहती है—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[2]

सम्पूर्ण प्रपञ्च ईश की सत्ता से कैसे आक्रान्त है ? उच्छिष्ट का क्या स्वरूप है ? इत्यादि प्रश्नों का विशद वैज्ञानिक, राजनैतिक एवं धार्मिक समाधान 'ईशविज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड' के उक्त मन्त्रभाष्य में किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए। यहाँ प्रकरण-सङ्गति के लिए केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि निःस्वार्थ बुद्धि से वर्णानुसार तत्तत् कर्म्मों में प्रवृत्त रहना ही यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त रहना है। विश्व एक आहवनीय कुण्ड है। अपने आपको, दूसरे शब्दों में अपनी ज्ञान, क्रिया, अर्थ शक्तिरूप तीनों आहुति-द्रव्यों को, विश्वाग्नि में आहुत कर देना ही सर्वमेधयज्ञलक्षण यज्ञकर्म्म है। ऐसा करने से विश्व की विभूति तुम्हारे आत्मा में आहुत हो जाएगी। यही आहुति तुम्हारा इष्टभोग बनेगा। इसी को वैज्ञानिक उच्छिष्ट किं वा, यज्ञोच्छिष्ट कहते हैं। तुमने यज्ञ करके भोग प्राप्त किया है। यज्ञ द्वारा तुम्हें जो भोग मिला है, वही यज्ञोच्छिष्ट है। ऐसा यज्ञोच्छिष्ट खाने वाले उन याज्ञिकों (बुद्धियोगियों) का भूतात्मा सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। कारण, तुमने भोग के लिए यज्ञकर्म्म नहीं किया है। अपि तु संसार के भोग के लिए तुम्हारा यज्ञकर्म्म है। कर्म्म भोग का उच्छिष्ट नहीं है, भोग कर्म्म का उच्छिष्ट

---

१ गीता ३।१२। २ ईशोप० १।

है। जो व्यक्ति भोग के लिए कर्म्म करते हैं, भोजन के लिए जीवित रहते हैं, उनका कर्म्म भोग का उच्छिष्ट बन जाता है। ऐसा उच्छिष्टकर्म्म ही पाप-प्रवृत्ति का कारण बनता है। जिस पापात्मा का कर्म्म सखा-बन्धुवर्ग-समाज-राष्ट्र-विश्व के स्वार्थरूप परमार्थों से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ केवल आत्मपचन का उपष्टम्भक होता है, जो अपनी उदरपरम्परा के भरण-पोषण में ही तल्लीन रहता है, उसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥[1]

श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि जो मूर्ख परोपकार की भावना नहीं रखता उसकी वह सम्पत्ति सर्वथा व्यर्थ है। वह सम्पत्ति इसके लिए मौत है, सर्वनाश का कारण है। न वह अर्यमोपलक्षित देवता का यजन करता, न बन्धुवर्ग का पोषण करता है। वह एकलठोरा (अकेला) केवल पापभक्षी है। ऐसा अन्न खाना पाप खाना है।

वैधयज्ञपक्ष में यज्ञोच्छिष्ट वह कहलाता है, जो कि हवनीय द्रव्य आहुति से शेष बच जाता है। यहाँ दोनों का ग्रहण है। अर्जुन यदि विश्वशान्ति की कामना से युद्धकर्म्म कर रहा है तो इसका यह कर्म्म यज्ञ है। इससे जो राज्यफल मिलेगा, वह यज्ञोच्छिष्ट कहलाएगा। इसे भोगने में पाप का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, अपि तु, पापनिवृत्ति है। कारण, अबन्धनकर्म्म का भोगरूपफल भी अबन्धन ही होता है।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि जिन कर्म्मों से प्राकृतिक यज्ञ की स्वरूपरक्षा होती है, विश्व में शान्ति रहती है, वे सब कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म बनते हुए अबन्धन हैं। विश्वशान्ति के लिए यदि आततायी को मारना पड़े, गुरु, बाल, वृद्ध, सखा, मित्र आदि की हत्या करनी पड़े तो वह भी आदरणीय है। कारण, अल्पहानि से बहुलाभ ही कल्याणपथ है। यही ईश्वर की आज्ञा है। दुष्टनिग्रह, शिष्टानुग्रहलक्षण कर्म्ममात्र यज्ञार्थ बनते हुए उस ब्रह्मयज्ञापरपर्य्यायक सर्वमेधयज्ञ के समकक्ष बनते हुए सर्वथा अबन्धन बन जाते हैं। इस प्रकार भगवान् ने—**"यज्ञार्थात्०"** इस प्रथम श्लोक से यज्ञ का रहस्य बतलाते हुए उत्तर के **"सहयज्ञाः०"**—**"देवान्भावयता०"**—**"इष्टान् हि भोगान्०"**—**"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तु०"** इन चार श्लोकों से ब्रह्मयज्ञ का ही निरूपण किया है। आगे के तीन श्लोक भूतयज्ञ का ही निरूपण करते हैं।

—इति ब्रह्मयज्ञनिरूपणम्—

—५—

---

1 ऋग्वेद मं० १०।११७।६।

२–अथ भूतयज्ञाधिकारः—

(१) ६–अन्नाद् भवन्ति भूतानि०–(२)–७–"कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि"—

ब्रह्मयज्ञ वैदिकयज्ञ है, भूतयज्ञ लौकिकयज्ञ है। दोनों ही प्राकृतिकयज्ञ हैं, दोनों ही वैदिकयज्ञ हैं, दोनों ही ब्रह्मयज्ञ हैं, दोनों ही भौतिक यज्ञ हैं, दोनों ही लौकिकयज्ञ हैं। इस समानता के रहने पर भी ज्ञान-अर्थ के भेद से दो भेद मान लिए जाते हैं। वही कर्म्म ज्ञानयज्ञ का सञ्चालक है, वही कर्म्म, अर्थ-यज्ञ का प्रवर्त्तक है। साथ ही में अर्थ ज्ञान से नित्य युक्त है एवं ज्ञान अर्थाधार पर विकसित है। मध्यस्थ कर्म्म दोनों का सम्बन्धक है। ब्रह्मयज्ञ में अर्थरूप भूतभाग गौण है, इसीलिए भूतभाग के रहने पर भी इसे ब्रह्मयज्ञ कह दिया जाता है। भूतयज्ञ में ब्रह्मभाग गौण है, अतएव ब्रह्मभाग के रहने पर भी इसे भूतयज्ञ कह दिया जाता है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा मध्यस्थ कर्म्मयज्ञ (देवयज्ञ) है। इसी के पराक्-अर्वाक् भेद से ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ–ये दो भेद हैं। दोनों में से ब्रह्मयज्ञात्मक देवयज्ञ का पूर्व के चार श्लोकों में निरूपण हुआ है एवं आगे के तीन श्लोक भूतयज्ञात्मक देवयज्ञ का निरूपण कर रहे हैं।

"अन्न से भूत उत्पन्न होते हैं, पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है, कर्म्म से यज्ञ उत्पन्न होता है, ब्रह्म से कर्म्म उत्पन्न होता है। अक्षर से ब्रह्म उत्पन्न हुआ है। इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है"–यह कहते हुए भगवान् ने **स्थूलारुन्धतीन्याय** से सप्तचक्रात्मक भूतयज्ञ का निरूपण किया है। सृष्टिक्रम के अनुसार दोनों श्लोकों का निम्नलिखित क्रम समझना चाहिए—

ब्रह्माक्षरसमुद्भवं कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि।
यज्ञः कर्म्मसमुद्भवो यज्ञाद् भवति पर्जन्यः ॥१॥
पर्जन्यादन्नसम्भवः अन्नाद् भवन्ति भूतानि।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥[1]

भगवान् को भूतयज्ञ का निरूपण करना है। भूत को उद्देश्य बना कर उसमें अक्षर का विधान करना है, इसलिए भी पहले भूत से उत्थानिका की गई है। साथ ही में पहले हमारी दृष्टि स्थूलभूत पर पड़ती है। इस 'स्थूलारुन्धतीन्याय' से भी भगवान् ने विपरीत क्रम का ही आश्रय लिया है।

१–अन्नाद् भवन्ति भूतानि—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०"–इत्यादि श्लोकभाष्य में जिस १४ प्रकार की भूतप्रजा का दिग्दर्शन कराया गया है,[2] प्रकृत श्लोकस्थ "भूतानि" से वह चतुर्दशविध भूतसर्ग ही अभिप्रेत है। जड़-चेतन दोनों

---

१ गीता ३।१४–१५। २ द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ १४८।

प्रजाओं का भूतप्रजा में अन्तर्भाव है। इन प्रजाओं के लिए–"**यत् सप्तान्नानि तपसाऽजनयत्** पिता"–इत्यादि श्रुत्युक्त **ज्ञान, कर्म्म, आकाश** (शब्द), **जल, तेज,** (प्रकाश), **वायु, अन्न** (ओषधि-वनस्पति) ये सात प्रकार के अन्न नियत हैं। इन सातों अन्नों की आहुति के तारतम्य से ही सम्पूर्ण प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं, जैसा कि पूर्वोपनिषदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। जिसे लोकभाषा में अन्न (ओषधि-वनस्पति) कहा जाता है, वही सातवां अन्न है। **एकमस्य साधारणम्**"–इस छान्दोग्य सिद्धान्त के अनुसार यह अन्न सामान्य अन्न माना जाता है। कारण, इसका यही है कि इस अन्न में इतर छहों अन्नों का समावेश है। अन्न में पांचों भूत, कर्म्म, ज्ञान तीनों रस प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव अन्नाहुति से सप्तधातु, ओज, मन तीन संस्थाओं का उदय होता है। सप्तधातु पांचों भूत हैं। ओज कर्म्म है, मन ज्ञान है। "**अन्नमयं हि सोम्य मनः**"–इस छान्दोग्य सिद्धान्त के अनुसार स्थूल भौतिक धातुओं से आरम्भ कर सूक्ष्म-मनपर्यन्त सारा विवर्त्त अन्नमय है। पुरुषाग्नि में अन्न सोम की आहुति होती है। अन्न में औपपातिक कर्म्मभोक्ता आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। वह अन्न द्वारा पुरुषशरीर में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही इस भूतात्मा का प्रथम जन्म है। अन्न आगे जा कर शुक्ररूप में परिणत हो जाता है। शुक्र सोम है। स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित शोणित आर्त्तव अग्नि है। इस अग्नि में उस शुक्ररूप सोम की आहुति है। दोनों के मिथुनभाव में वह कर्म्मात्मा आ जाता है। यही इसका दूसरा जन्म है। गर्भद्वार से बाहर निकल आना तीसरा जन्म है। इस तृतीय जन्म में ही वह प्रजा "**सम्भूत**" (उत्पन्न) कहलाती है। भूतप्रजा की इस सम्भूति का कारण परम्परया अन्न ही ठहरता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर–"**अन्नाद्-भवन्ति भूतानि**"–यह कहा गया है।

२–पर्जन्यादन्नसम्भवः—

"**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०**"–इत्यादि मन्त्रभाष्य में हमने सूर्य्यप्रजापति का निरूपण करते हुए सूर्य्य की **इन्द्र-धाता-भग-पूषादि** १२ तनू बतलाई हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि पर्जन्य नाम का आदित्य ही वृष्टि का अधिष्ठाता है। रुक्ष वायु को रुद्र कहा जाता है, शिववायु को पर्जन्य कहा जाता है। वायु ही वृष्टि का विघातक है। वायु ही वृष्टि का प्रवर्त्तक है। रुद्रवायु वर्षा का निरोधक है, शिववायु वर्षा का प्रवर्त्तक है। पर्जन्यरूप इसी शिववायु को लक्ष्य में रख कर–"**वायुर्वै वृष्टया ईशे**"–यह कहा जाता है। इसी पर्जन्यवायु को छान्दोग्य की उद्गीथविद्या में **पुरोवात** कहा जाता है। इसी को लोकभाषा में "**पुरवाई**" कहा जाता है। इसका पूर्वदिशा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी दिशाओं में इसका सञ्चार रहता है। प्रत्येक दशा में वृष्टि इसी पुरोवात वायु से होती है। रुद्रवायु पानी को वाष्प-रूप में परिणत करके नभोमण्डल में ले जाता है। वहाँ वह पानी स्थिरवायु-धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। ६½ मास तक वह पानी गर्भीभूत रहता है। अनन्तर शिववायु के संचार से वह द्रुत बन कर पृथिवी पर गिर पड़ता है। रुद्रवायु अङ्गिरा है, यह पृथिवी से पानी ले जा कर द्युलोक में वृष्टि करता है। शिववायु भृगु है, यह नभोमण्डल से पानी पृथिवी पर बरसाता है। इस प्रकार अङ्गिरा-लक्षण रुद्रवायु एवं भृगुलक्षण शिववायु किं वा पर्जन्यवायु ही दोनों स्थानों में वृष्टि के अधिष्ठाता बने हुए हैं। इसी वृष्टि-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर वेदमहर्षि कहते हैं—

१–सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥[1]

२–कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥[2]

३–समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥[3]

४–अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति ।
यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्ततेऽथ वर्षति ॥[4]

आकाशस्थ पानी में आन्तरिक्ष्य **वृत्रसोम** प्रविष्ट हो जाता है । इसकी **ध्रुव-धर्त्र-धरुण-धर्म्म** भेद से चार जातियाँ हैं । इन चारों में ध्रुवनामका वृत्रसोम ही **"अश्मासोम"** कहलाता है । इसी के समावेश से पत्थर उत्पन्न होता है । अश्मासोम की प्रधानता से ही पाषाण को **"अश्मा"** कहा जाता है । मरुद्धरातल में गर्भीभूत पानी में यही अश्मासोम प्रतिष्ठित हो जाता है । इसके आक्रमण से पानी नीचे नहीं गिरने पाता । चूंकि पानी को यही रोके रहता है अतएव **"न मुञ्चति"** इस निर्वचन से इस सौम्य (उपाप्य) प्राण को **"नमुचि"** कहा जाता है । यह असुर वर्षक-पर्जन्य का विरोधी है । जब तक नमुचि की प्रधानता रहती है, तब तक पर्जन्य का सारा प्रयास व्यर्थ जाता है । नमुचि की इस आसुरी लीला का ध्वंस करने के लिए इन्द्र (सूर्य्य) अपने वज्र (रश्मियों) का प्रहार करते हैं । सौररश्मि प्रवेश से नमुचि की घनता नष्ट हो जाती है । पर्जन्य को अपने व्यापार करने का अवसर मिल जाता है । पानी गिर पड़ता है । जिस तिथि को पानी वाष्परूप में परिणत हो कर ऊपर प्रतिष्ठित होता है, वही इस वृष्टि का **गर्भकाल** कहलाता है । ६½ मास तक पानी वहाँ प्रतिष्ठित रहता है । यही **दोहदकाल** कहलाता है । ठीक उसी तिथि को, उसी समय पर्जन्य द्वारा पानी गिर पडता है, यही इसका **प्रसवकाल** कहलाता है । कभी-कभी ६½ मास के भीतर भी थोड़ा पानी गिर पडता है । यही इसका गर्भपात है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नमुचि (अश्मासोम) की प्रबलता से इन्द्र का वज्र व्यर्थ चला जाता है । पानी उस दिन नहीं बरसता । तीसरे वर्ष करका (ओले) रूप में वही पानी बरसता है ।

वृष्टि के सम्बन्ध में–**"कृष्णो वै भूत्वा पर्जन्यो वर्षति"**–यह निगम भी स्मरण में रखना चाहिए । काले बादल ही विशेषतः वृष्टि के कारण बनते हैं । तीन मेघखण्डों के समावेश से ही वृष्टि होती है । घनमेघ ही कृष्णमेघ है । तीन मेघखण्ड-स्तरों से ही घनता का उदय होता है । महिष, वराह, जीमूत, वारि-

---

१ ऋग्वेद मं० १।१६४।३६ । २ ऋग्वेद मं० १।१६४।४७ ।
३ ऋग्वेद मं० १।१६४।५१ । ४ तै० सं० २।४।१०।२ ।

वाहक,पुष्करावर्त्त, इत्यादि भेद से इन मेघों की अनेक जाति-उपजातियाँ हैं। पुराणों में इन सबका विशद-निरूपण हुआ है। विशेषतः वायुपुराण के ५१ अध्याय में, 'ज्योतिष्चक्रप्रसारप्रकरण' में इनका निरूपण देखना चाहिए। एक मेघ कभी वृष्टि का कारण नहीं बन सकता। बरसेगा तो साधारण, बूंदाबांदी। कारण इसका यही है कि आकाश में सर्वत्र शैत्यगुणक दिक्सोम भरा हुआ है, जैसा कि–"**त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्**०"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सोम की शीतता पानी को द्रुत नहीं होने देती। जितनी ही पृथिवी की ऊष्मा ऊपर जा कर मेघस्थ पानी को पिघलाने का प्रयास करती है, सोम उसे उतना ही शान्त करता रहता है। इसके लिए वर्षकखण्ड के ऊपर दो स्तरों का रहना आवश्यक है। एकस्तर से सामान्य कृष्णता का उदय होता है। इससे भी साधारण ही वृष्टि होती है। जब तीन स्तर हो जाते हैं तो मेघ घोरकृष्ण हो जाते हैं। दिन में अन्धकार हो जाता है। ऊपर ही ऊपर का स्तर सोम को रोक लेता है, नीचे से पार्थिव अग्नि आघात करता है। ऊष्मा चरमसीमा पर पहुँच जाती है। इसी ऊष्मा को–"**ऊमस**" कहा जाता है। ऊमस होते ही घनघोर वृष्टि होने लगती है।

आकाशचारी ग्रहों के सम्बन्ध से भी वृष्टि में तारतम्य हो जाता है। पर्जन्यवायु ही वृष्टि का अधिष्ठाता नहीं है। अपि तु, ग्रहों का योग भी वृष्टि का कारण है। शनि आग्नेयग्रह है। यही यमवायु का प्रवर्तक है। इसकी प्रधानता से बादल उड जाते हैं। झंझावात चलने लगता है। बुध सौम्यवायु है। इसके समावेश से वृष्टि अवश्य होती है, परन्तु तूफान के साथ। बालप्रकृति बुध तूफान करता हुआ वृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। मंगल आग्नेयग्रह है। इससे भी वृष्टि का उच्छेद हो जाता है, परन्तु शान्तरूप से। शुक्र सौम्य होने के साथ-साथ ही शान्त भी है। इसके समावेश से शान्त वृष्टि होती है। अस्तु, इन सब विषयों की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को श्री गुरुप्रणीत स्वरचित **सौदामिनी** टीकायुत **कादम्बिनी** नाम का वृष्टिविद्यापरक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही देखना चाहिए। यहाँ हमें केवल यही बतलाना है कि आदित्याग्नि में श्रद्धासोम की आहुति होने से सोम उत्पन्न होता है। पर्जन्यरूप वायव्याग्नि में सोम की आहुति होने से वृष्टि उत्पन्न होती है। वृष्टि की योनि छान्दोग्य-उपनिषत् के अनुसार पर्जन्य ही है। वृष्टिसोम की पार्थिव संवत्सराग्नि में आहुति होती है, इसी से ओषधि–वनस्पतिरूप अन्न उत्पन्न होता है। अन्नसोम की पुरुषशरीरस्थ वैश्वानर अग्नि में आहुति होती है। इसी से शुक्र उत्पन्न होता है। शुक्रसोम की योषिदग्नि में आहुति होती है। इसी से भूतरूप प्रजा उत्पन्न होती है।–"**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**"। इसी वृष्टिविद्या-रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं–"**पर्जन्यादन्नसम्भवः**"*।

३–यज्ञाद् भवति पर्जन्यः—

पर्जन्य का आरम्भक वही सुप्रसिद्ध यज्ञकर्म्म है। यज्ञकर्म्म कौनसा? वही ऋताग्नि, ऋतसोममय, अतएव ऋतुरूप संवत्सरयज्ञ, जिसका कि दिग्दर्शन–"**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**"–इत्यादि प्रकरण की यज्ञ-

* "तौ यदि कृष्णौ स्यातामन्यतरो वा कृष्णः, तत्र विद्याद्वर्षिष्यत्यैषमः पर्जन्यो वृष्टिमान् भविष्यति"–इति (शत० ३।३।४।११)।

निरुक्ति में कराया जा चुका है। मूलयज्ञकर्म्म से ही पर्जन्य का विकास हुआ है। बीजावस्थापन्न अतएव आरम्भ में एकविध (एकरूप) सौर सावित्राग्नि में पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र सोम की आहुति होती है। यही मूलयज्ञ है। इसी को पूर्वप्रकरण में हमने सत्ययज्ञ कहा है। सत्ययज्ञ से ही ऋतयज्ञ का विकास होता है। इस यज्ञाहुति के प्रभाव से ही सूर्य्य १२ भागों में विभक्त हो जाता है, वे ही १२ विभाग १२ आदित्य हैं। इनमें वृष्टि का अधिष्ठाता आदित्यविशेष ही **पर्जन्य** नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार मूलयज्ञकर्म्म से ही पर्जन्य उत्पन्न हुआ है। इसी को **"अर्वाग्-वसु"** कहा जाता है। सूर्य्य से नीचे-नीचे का सारा प्रपञ्च **"अर्वाक्"** कहलाता है। इसका वसु (दौलत) पर्जन्य ही है। यदि पर्जन्य न हो तो वृष्टि न हो। वृष्ट्यभाव से सबका विनाश हो जाए, अतएव पर्जन्य को अर्वाग्वसु (इधर की दौलत-मृत्युलोक की सम्पत्ति) कहना अन्वर्थ बन जाता है। अर्वाग्-वसुरूप इसी पर्जन्य का स्वरूप बतलाती हुई यजुःश्रुति कहती है—

१–अयमुपर्य्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानी ग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ, अवस्फूर्जन् हेतिः, विद्युत् प्रहेतिः। तेभ्यो नमो अस्तु, ते नोऽवन्तु, ते नो मृडयन्तु ते, यं द्विष्मो, यश्च नो द्वेष्टि, तमेषां जम्भे दध्मः।[1]

१–अथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते।[2]

जिस प्रकार प्रकृतिमण्डल में सूर्य्यात्मक मूलयज्ञ से वृष्टि का अधिष्ठाता पर्जन्य उत्पन्न होता है, एवमेव वैधयज्ञ (कारीरी इष्टि आदि) से भी पर्जन्य उत्पन्न हो जाता है। जब राष्ट्र में अनावृष्टि के कारण पानी नहीं बरसता था तो याज्ञिक महर्षि वैधयज्ञों के द्वारा पर्जन्य को उत्पन्न कर धूम-ज्योति-सलिल-मरुत् के तत्तदभिमानी देवताओं के आकर्षण से मेघ उत्पन्न कर वृष्टि कर दिया करते थे। तभी तो भगवान् ने यज्ञ को 'इष्टकामधुक्' कहा है।

४–यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः—

हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र, ब्रह्मत्व इन चारों कर्म्मों की समष्टि यज्ञार्थ कर्म्म है। चूंकि यह कर्म्म-यज्ञ का स्वरूप-सम्पादन करने वाला है, अतएव **"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्"** न्याय से यज्ञार्थ कर्म्म को भी यज्ञ शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है। वस्तुतः इस यज्ञार्थ कर्म्म से उत्पन्न अतिशयरूप जो सौरसंवत्सरात्मकयज्ञ है, वही यज्ञ है। वह कार्यरूप है, तत्स्वरूपसमर्पक कारणरूप यह कर्म्म आरम्भक है, यज्ञ साधक है। हौत्रकर्म्म का शंसनरूप **शस्त्र-कर्म्म** से, आध्वर्यव का **ग्रह-कर्म्म** से, औद्गात्र का **स्तोत्र-कर्म्म** से एवं ब्रह्मत्व का **आह्मीकरण** कर्म्म से सम्बन्ध है। **"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र"**-इत्यादि श्लोक-भाष्य में

१ यजुर्वेद १५।१६। २ शत० ब्रा० ८।६।१।२०।

यह प्रतिज्ञा की गई थी कि शस्त्रादि का स्वरूप प्रकृत प्रकरण में बतलाया जाएगा। प्रतिज्ञानुसार संक्षेप से इन चारों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है। सत्कर्म्म हो अथवा असत्कर्म्म, प्रत्येक का स्वरूप शस्त्र-स्तोत्रादि के समन्वय से ही सम्पन्न होता है। खाना-पीना-सोना-चलना-मकान बनाना-अध्ययन करना-पढाना आदि-आदि लौकिक वैदिक जितने भी कर्म्म हैं, सब में उक्त चारों कर्म्मों का समावेश है। उदाहरण के लिए मकान को ही लीजिए। मकान बनाना एक कर्म्म है। इसके लिए पहले गारा-ईंट-पानी आदि सब सामग्रियाँ इकट्ठी कर ली जाती हैं। सम्भार (सामग्री) सम्भरण के अनन्तर प्रधान शिल्पी पहले 'करणी' से "गारा" रखता है। गारे को करणी से चारों ओर से छाँटकर ईंट के आकार जैसा बनाता है। यही पहला शस्त्रकर्म्म है। काँट-छाँटकर एक पैमाना बनाना ही शस्त्रकर्म्म है। यही पहला हौत्रकर्म्म है। इसके अनन्तर ईंट को हाथ में लेकर शंसित गारे पर जमा देता है। ऊपर से उसे ठोक देता है। चूँकि ईंट का ग्रहण करता है, अतएव इस इष्टकाचिति को हम "ग्रहकर्म्म" कह सकते हैं। यह इष्टकाचिति मकान का वास्तविकस्वरूप है। यही दूसरा आध्वर्यवकर्म्म है। फिर ईंट पर गारा डाल दिया जाता है। डालकर उसे ईंट पर चारों ओर फैला दिया जाता है—यही स्तोत्रकर्म्म है। संकुचितभाव को फैलाना ही गान है—यही स्तुति है। स्तुति ही स्तोत्र है। यही औद्गात्रकर्म्म है। इस प्रकार शस्त्र-ग्रह-स्तोत्र के धारावाहिक-क्रम से शिल्पी मकान बना डालता है। इन तीनों का यथार्थ-वेत्ता तटस्थ शिल्पी (इञ्जिनीयर अथवा ओवरसीयर) निरीक्षण करता रहता है। जहाँ शिल्पी असावधानी करता है, वहाँ यह निरीक्षक शिल्पी नक्शे के अनुसार उसे ठीक करता रहता है। यही चौथा ब्राह्मीकरण है, इसी को ब्रह्मत्व कहा जाता है। इस प्रकार उक्त चारों कर्म्मों से भवनयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है।

प्रथमाचमन शस्त्र है, भोजन ग्रह है, अन्तिम आचमन स्तोत्र है। अनुकूल भोजन निरीक्षण ब्राह्मीकरण है। रुई शस्त्र है, वस्त्र ग्रह है, अंगरखा स्तोत्र है, निरीक्षण ब्राह्मीकरण है। शय्या शस्त्र है, शयन करने वाला ग्रह है, सुषुप्ति स्तोत्र है, रात्रि ब्राह्मीकरण है। राजधानी शस्त्र है, राजा ग्रह है, प्रजा स्तोत्र है, राष्ट्र ब्राह्मीकरण है। गुरु शस्त्र है, विद्या ग्रह है, शिष्य स्तोत्र है, विद्याप्रसार ब्राह्मीकरण है। निदर्शनमात्र है। कर्म्ममात्र में इन्हीं चारों कर्म्मों का समावेश रहता है। दूसरे शब्दों में अर्थयज्ञ का (भूतयज्ञ का) स्वरूप इसी उक्त कर्म्मचतुष्टयी से सम्पन्न होता है। इन चारों कर्म्मों का 'शतपथ विज्ञानभाष्य के प्रथमवर्ष-प्रथम अङ्क' में विस्तार से निरूपण हुआ है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए। प्रकृतियज्ञ में अग्नि द्वारा हौत्रकर्म्म, वायुद्वारा आध्वर्यवकर्म्म, आदित्य द्वारा (पर्जन्य द्वारा) औद्गात्रकर्म्म एवं बृहस्पति द्वारा ब्रह्मत्वकर्म्म सम्पन्न होता है। वैधयज्ञ में ऋत्विजों द्वारा यज्ञकर्म्म सम्पन्न होता है। इसी अभिप्राय से "**यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः**"–यह कहा गया है।

—•—

५–कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि—

उक्त चारों कर्म्मों का स्वरूप क्रमशः **ऋक्–यजुः–साम–अथर्ववेद** से सम्पन्न होता है। ये ही चारों वेद 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। अग्नित्रयी त्रयीवेद हैं, सोम अथर्ववेद है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है।

अन्नादगर्भित अन्न अन्नाद से ही गृहीत हो जाता है, अतएव वेदचतुष्टयी के स्थान में वेदत्रयी का ही व्यवहार प्रचलित है। जैसा कि–**दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं त्रयं ब्रह्म सनातनम्**"–इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अग्नि तत्त्व ऋग्वेद की प्रतिष्ठा है। संसार में जितनी मूर्त्तियां (पिण्ड) हैं, वे सब ऋग्वेद से उत्पन्न होती हैं। वायु यजुर्वेद की प्रतिष्ठा है। गतिभाव का विकास इसी यजुर्वेद से होता है। आदित्य सामवेद की प्रतिष्ठा है। तेजोमय महिमामण्डल का विकास, विभूतिमण्डल का विकास इसी सामवेद से होता है, अतएव स्व (अव्यय) विभूति-गणना में भगवान् ने–"**वेदानां सामवेदोऽस्मि**"–कहा है। सोम अथर्ववेद की प्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर मूर्त्ति-गति-तेज तीनों भाव प्रतिष्ठित हैं। इसी प्राकृतिक वेद का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥[1]

इसी प्राकृतिक नित्यवेद के आधार पर उक्त चारों देवता क्रमशः हौत्र-आध्वर्यवादि चारों कर्म्म करने में समर्थ होते हैं। वेद के आधार पर ही यज्ञ का वितान होता है, जैसा कि–"**यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै**"–"**सैषा त्रयी विद्या यज्ञः**"–इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है। इसी प्राकृतिक वेदतत्त्व के आधार पर ऋषियों ने वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया हैं। वेदमन्त्र निर्म्माण करने वाले ऋषि ही "**मन्त्रकृतः**" कहलाते हैं। उपलब्ध वेदसंहिताएँ उसी प्राकृतिक वेदतत्त्व की प्रतिकृतियां है। जिस प्रकार उन नित्य वेदों के आधार पर अग्नि आदि नित्य देवता हौत्र-औद्गात्रादि कर्म्मों द्वारा प्राकृतिक नित्ययज्ञ का संचालन करते हैं, एवमेव इन कृत्रिम वेदमन्त्रों के आधार पर मनुष्य ऋत्विक्-हौत्र-औद्गात्रादि कर्म्मों द्वारा वैधयज्ञों का स्वरूप सम्पादन करते हैं। 'होता' ऋग्वेदी होता है। ऋङ्मन्त्र से ही होता पुरोऽनुवाक्या करता है। अध्वर्यु यजुर्वेदी होता है। यजुर्म्मन्त्र से ही यह याज्या करता है। उद्गाता सामवेदी होता है। साममन्त्र से ही यह सामगान करता है। ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। अथर्व के आधार पर ही यह 'यज्ञ-प्रायश्चित्ति' करने में समर्थ होता है। जैसा प्रकृति में होता है, ठीक वैसा ही यहां किया जाता है। वह वेदतत्त्व अपौरुषेय है, नित्य है, कूटस्थ है। ये वेदमन्त्र–"**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**"–इस वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार पौरुषेय हैं, अनित्य हैं। वेदतत्त्व के विशदस्वरूप की जिज्ञासा रखने वालों को 'उपनिषद् विज्ञानभाष्य भूमिकान्तर्गत'–"**क्या उपनिषत् वेद है**"? यही प्रकरण देखना चाहिए।

——०——

६–ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्—

उक्त नित्य वेदब्रह्म क्षररूप है। इसका विकास अक्षर से ही होता है। अक्षर की **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम** ये पांच कलाएँ बतलाई गई हैं। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीनों की समष्टि अन्तर्य्यामी

---

१ तै० ब्रा० ३।१२।६।१२।

है। इन तीनों में ब्रह्माक्षर मूलप्रतिष्ठा है। इस पर इन्द्र-विष्णु प्रतिष्ठित हैं। इनकी स्पर्द्धा से अग्नि-सोम के द्वारा चारों वेदों का विकास होता है। ब्रह्मा का विकार प्राण है, विष्णु का विकार आप है, इन्द्र का विकार वाक् है, अग्नि का विकार अन्नाद है, सोम का विकार अन्न है। अन्न-अन्नाद एक वस्तु हैं। इस प्रकार प्राण-आप-वाक्-अन्नगर्भित अन्नाद ये चार कलाएँ रह जाती हैं। यही अक्षर ब्रह्मा के चारमुख हैं। इन चारों मुखों से क्रमशः प्राणमुख से वेदसृष्टि, आपोमुख से लोकसृष्टि, वाङ्मुख से देवसृष्टि एवं अन्नादमुख से भूतसृष्टि होती है। अक्षर के प्राणमुख से प्रादुर्भूत यही वेद-"**ब्रह्मनिःश्वसित**" नाम से प्रसिद्ध है। वेद अक्षर का ही निश्वास माना जाता है। अक्षर ही भूतयज्ञ की अन्तिम प्रतिष्ठा है।

—०—

७-तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्—

षोडशीपुरुष को अमृत कहा जाता है। इसमें **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर** ये ही तीन अधिकरण हैं। शब्दब्रह्म की दृष्टि के अनुसार अव्यय स्फोट है, अक्षर स्वर है, आत्मक्षर वर्ण है। स्फोटरूप अव्ययब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित स्वररूप अक्षर वर्णरूपक्षर से वेदों को उत्पन्न करता है। वेद से कर्म्म का, कर्म्म से यज्ञ का, यज्ञ से पर्जन्य का, पर्जन्य से अन्न का एवं अन्न से भूत (प्रजा) का विकास होता है। यज्ञ द्वारा वह अव्ययब्रह्म सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित हो रहा है। जैसा कि उपनिषत्-श्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥[1]

विश्व में अव्ययब्रह्म जब भी कभी उपलब्ध होगा, यज्ञकर्म्म द्वारा ही उपलब्ध होगा। फलतः आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रत्येक दशा में यज्ञकर्म्म का अनुष्ठान करना आवश्यक हो जाता है। अक्षर द्वारा ही अव्यय प्राप्ति होगी। उधर अक्षर यज्ञचक्ररूप में परिणत हो रहता है, अतः यज्ञचक्र द्वारा अक्षर का आश्रय लेना पड़ेगा। अक्षर द्वारा अव्ययधाम प्राप्ति होगी। इस परम्परा से ही मुक्ति हो सकेगी। इसीलिए हम कह सकते हैं कि यज्ञ ही आत्मा की प्रतिष्ठा है। विश्वास करो, वह तुम्हें यहीं इसी यज्ञकर्म्म में मिलेगा। बिना इस यज्ञकर्म्म के प्रयत्नसहस्रों से भी तुम उसे प्राप्त न कर सकोगे। देखो! श्रुति इस सम्बन्ध में क्या कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥[2]

---

१ कठोप० १।३।१२। २ केनोप० २।१३।

(३) ८–एवं प्रवर्तितं चक्रम्०—

भूत–अन्न–पर्जन्य इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। कर्म्म-ब्रह्म-अक्षर इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यज्ञ का एक स्वतन्त्र विभाग है। भूत-अन्न-पर्जन्य तीनों यज्ञ से अर्वाक् हैं, कर्म्म-ब्रह्म-अक्षर ये तीनों यज्ञ में पराक् हैं। दोनों संस्थाओं के मध्य में यज्ञ प्रतिष्ठित है। यह यज्ञ ही इस षडर-यज्ञचक्र की नाभि है। इसी में ६ आरे अर्पित हैं। यज्ञ ही इस शाश्वतयज्ञचक्र की मूलप्रतिष्ठा है। सप्त-चक्रात्मक एक चक्र ही विश्वचक्र है। इस चक्र को सुरक्षित रखने वाले जितने भी कर्म्म हैं, वे यज्ञचक्रार्थ बनते हुए, अतएव वैयक्तिक स्वार्थमर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत रहते हुए, अतएव लेप के अजनक बनते हुए सर्वथा अबन्धन हैं। जो मूढधी उक्त प्रकार से परिवर्त्तित चक्रयज्ञ की स्थिति का अनुसरण नहीं करता, हे अर्जुन ! केवल इन्द्रियों के दास बने हुए उस मनुष्य का जीवन ही निरर्थक है। अतः अपने जीवन को सफल बनाने के लिए प्रत्येक दशा में चक्र का (यज्ञकर्म्म) का अनुवर्त्तन करना चाहिए।

—इति भूतयज्ञनिरूपणम्—

॥ इति तृतीयोपदेशः ॥

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

४–उपेक्षाबुद्धिसहकृतकर्म्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वाददुष्टत्वम् ।
आत्मारामस्य, आत्मपरायणस्य, विषयानासक्तस्य बहिर्लोक-
यात्रायामुपेक्षाबुद्धौ, अपेक्षाबुद्धिमूलकसंस्कारोदयासम्भवादबन्धन-
स्यात्मज्ञानौपयिकस्य कर्म्मणः परित्यागानौचित्यम् ।

४

तृतीयायामुपनिषदि—

चतुर्थोपदेशः

४—उपेक्षाबुद्धिसहकृतकर्म्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वाददुष्टत्वम् । आत्मारामस्य, आत्मपरायणस्य, विषयानासक्तस्य बहिर्लोकयात्रायामुपेक्षाबुद्धौ, अपेक्षाबुद्धिमूलकसंस्कारोदयासम्भवादबन्धनस्यात्मज्ञानौपयिकस्य कर्म्मणः परित्यागानौचित्यम् ।

——०——

१—यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। (गीता ३।१७)

२—नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। (गीता ३।१८)

३—तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ।। (गीता ३।१९)

४—कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। (गीता ३।२०)

[मूलानुवाद] "जो मनुष्य आत्मानुगामी, आत्मतृप्त ही रहता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसका कोई कार्य नहीं रह जाता । ऐसे पुरुष का न काम करने से कोई प्रयोजन है एवं न करने से ही कोई प्रयोजन है । (क्योंकि) सम्पूर्ण भूतों में इसके लिए कोई स्वार्थसिद्धि नहीं है । इसलिए हे अर्जुन ! असक्त बन कर तू कर्त्तव्य कर्म्म का अनुष्ठान कर । क्योंकि असक्त रह कर कर्म्म करता हुआ व्यक्ति अव्ययभाव को प्राप्त होता है । जनकादि राजर्षियों ने कर्म्म से ही अन्तिम सिद्धि प्राप्त की है" ।

——•——

[**भाष्य**] इस प्रकरण में भगवान् ने **उपेक्षाकृत कर्म्मों** की अबन्धनता बतलाई है। जिस प्रकार यज्ञार्थकर्म्म अबन्धन हैं, उसी प्रकार उपेक्षाकृत कर्म्म भी सर्वथा अबन्धन ही रहते हैं। यज्ञार्थकर्म्म में व्यापक भावना है, उपेक्षाकृतकर्म्म में परिच्छिन्नभावना है। दोनों कर्म्मों में यही भेद है। तात्त्विकदृष्टि से दोनों का स्वरूप एक है। सम्पूर्ण विश्वचक्र को लक्ष्य में रखते हुए स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म करना यज्ञार्थकर्म्म है एवं केवल अपने आत्मचक्र को लक्ष्य में रखते हुए स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म करना आत्मार्थ-कर्म्म है। उपेक्षाबुद्धिसहकृत अनासक्तिभाव का दोनों के साथ सम्बन्ध है। इसीलिए यज्ञार्थकर्म्म के उपक्रम में भी भगवान् ने-"**मुक्तसङ्गः समाचर**"-यह कहा है एवं प्रकृत प्रकरण में भी "**तस्मादसक्तः सततं**"-यह कहा है। उपेक्षाभाव दोनों में है। साथ ही में दोनों ही एक प्रकार से यज्ञार्थकर्म्म भी हैं। पहले यज्ञार्थकर्म्म का **सर्वहुतयज्ञ** से सम्बन्ध है, इस दूसरे यज्ञार्थकर्म्म का "**विश्वदानि**" यज्ञ से सम्बन्ध है। ईश्वरीय आधिदैविकयज्ञ को ही सर्वहुतयज्ञ कहा जाता है। इसी का पूर्वोपदेश में-"**सर्वमेध**"-रूप से निरूपण हुआ है। जीवात्मसम्बन्धी आध्यात्मिकयज्ञ **विश्वदानि** नाम से व्यवहृत हुआ है। मान लीजिए, एक व्यक्ति सर्वहुतयज्ञ के लिए कर्म्म करने में असमर्थ है। विश्वकल्याण की भावना से वह कर्म्म नहीं कर सकता। विश्व बना रहे, अथवा बिगड़ जाए, विश्व में शान्ति रहे अथवा अशान्ति, इसका हमें कोई हर्षशोक नहीं है। हम उस महाविश्वचक्र के एक छोटे से यन्त्र हैं। ऐसी स्थिति से सञ्चालित उस महाविश्वचक्र का हम क्या तो उपकार कर सकते हैं एवं क्या अपकार कर सकते हैं। हमारे धूलिप्रक्षेप से न सूर्य्य का कोई अपकार होता एवं न दीप-धूप दान से सूर्य्य का कोई उपकार हो होता है। ऐसी दशा में हमें उस व्यापक विश्वयज्ञ की ओर से तटस्थ बन कर अपने आध्यात्मिक विश्वदानियज्ञ की रक्षा में ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।

पूर्व के यज्ञार्थकर्म्म से भगवान् को यह बतलाना था कि व्यक्तियों की समष्टि से ही जाति का, अनेक जातियों की समष्टि से राष्ट्र का, अनेक राष्ट्रों के समुच्चय से ही विश्व का स्वरूप प्रतिष्ठित है। अनेक वृक्षों की समष्टि ही तो "**वन**" है। अनन्त जलकणों के समन्वय से ही तो घट जलपरिपूर्ण रहता है। अणु ही तो महान् है। महान् ही तो अणु है। यदि प्रत्येक व्यक्ति यही विचार करने लगे कि हमारा भी विश्व से सम्बन्ध नहीं, हमारा भी सम्बन्ध नहीं, तो विश्व के किसी भी कार्य का संचालन न हो। "सब हमारे हैं, हम सब के हैं, फलतः हमें सबके साथ सहयोग करना चाहिए, सब को हमारे साथ सहयोग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति प्रधानरूप से वर्णधर्म्मानुकूल अपने-अपने नियत धर्म्म में अनासक्ति-भाव पूर्वक प्रतिष्ठित रहता हुआ दूसरे व्यक्तियों के वर्णधर्म्मानुकूल आधिकारिक कर्म्मों में यथाशक्ति अवश्य ही सहयोग देता रहे-यही तो-"**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**"-लक्षण सर्वमेधयज्ञ है। यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। इसमें सर्वहुतयज्ञ ही मुख्य लक्ष्य है।

परन्तु सभी मनुष्य ऐसे उत्तमाधिकारी नहीं बन सकते। सर्वहुतयज्ञ में सहयोग देना किसी विरले ही महात्मा का कार्य है। ऐसे मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के लिए ही भगवान् ने दूसरा उपदेश दिया है। इनका कर्म्म केवल आत्मा (अध्यात्मसंस्था) तक ही सीमित रहता है। भगवान् कहते हैं-और कुछ न सही, तुम आत्मरति ही उत्पन्न करलो। मूल लक्ष्य सिद्ध जाएगा। **भूमोदर्क** न सही, **क्षीणोदर्क** ही सही। सर्वहुतयज्ञ न सही, विश्वदानी यज्ञ ही सही। लोककल्याण न सही, अपना ही कल्याण सही

विज्ञानशास्त्र हमें बतलाता है कि भूमा और अणिमा परमार्थतः एक वस्तु हैं। हृद्बिन्दु ही यह महाविश्व है। वही आत्मा महतोमहीयान् (बडे से बडा) बनता हुआ अत्यनपिनद्ध है, वही आत्मा अणोरणीयान् है। **"योऽसौ सोऽहम् योऽहं सोऽसौ"**–के अनुसार चिदाभासलक्षण शरीराभिमानी शारीर आत्मा (देही) एवं चिदंशलक्षण प्रत्यगात्मा दोनों एक वस्तु हैं। जो व्यक्ति केवल अपने कल्याण के लिए असङ्गबुद्धि से स्वाधिकारकर्म्म में प्रवृत्त होता है, उससे अपने आप लोक का कल्याण हो जाता है। ऐसी विभूतियाँ जिस राष्ट्र में रहती हैं, उस राष्ट्र में सदा शान्ति बनी रहती है। यदि चारों वर्ण इसी प्रकार अपने-अपने कर्म्म आरूढ रहते हैं तो फिर लोकसंग्रहविच्छेद का अवसर ही नहीं आता। न सही दूसरों के कर्म्म में सहयोग। यदि तुमने केवल अपना ही उद्धार कर लिया तो सब कुछ कर लिया। सच पूछिए तो कलहमूलक इस कलियुग में भगवान् का यह दूसरा उपदेश ही सर्वात्मना सफल हो सकता है। सत्ययुग एवं कलियुग में यही विशेषता है। सत्ययुग में सामाजिकभाव की प्रधानता है एवं कलियुग में वैय्यक्तिकभाव प्रधान है। युगधर्म्म की कृपा से कलियुग में मनुष्यों की शिक्षा-दीक्षा बडी उच्छृंखल होती है। फलतः आत्मा आवश्यकता से अधिक मलिन संस्कारों से आवृत रहता है। दूषित अन्न, अर्थलालसा, छल-कपटयुक्त चातुरी, धर्म्मविरोधी नृपतियों का शासन, प्रजापीड़न, अल्पायु, आदि ही तो कलियुग के प्रधानशस्त्र हैं। इनके अव्यर्थ प्रहार से जनता अपने आपको सर्वथा भूल जाती है। व्यक्ति इस दूषित प्रवाह को रोकने में एक प्रकार से असमर्थ ही रहता है। इसके लिए तो कोई महानात्मा ही उपयुक्त होता है। उसी महानात्मा को आधिकारिक जीव कहा जाता है। वही आधिकारिक जीव **"अवतार"** नाम से प्रसिद्ध है। जो कर्म्माश्वत्थिक जीव हैं, वे इस तूफान का दमन करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अतएव कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति का धरातल सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। राष्ट्र-समाज की बात जाने दीजिए, केवल कुटुम्ब में ही सहयोग नहीं रहता। भाई-भाई का शत्रु है। पति-पत्नी में कलह है। पुत्र पिता की आज्ञा नहीं मानता। शिष्य गुरु के अनुशासन में चलना पसन्द नहीं करता। स्वामी सेवक का स्वरूप नहीं जानता, सेवक स्वामी का अपमान करते नहीं चूकता। देखिए न ! आज भारतवर्ष का प्रत्येक कुटुम्ब दावानल बन कर कुटुम्ब की श्री-यश आदि के नाश का कारण बन रहा है। पड़ोसी से हमदर्दी नहीं रखता। व्यक्ति समाज, शासन (पञ्चायती व्यवस्था) का कोई डर नहीं मानता। उधर समाजशासक (पञ्च) भी अपनी स्वार्थ-सिद्धियों को प्रधान माने बैठे हैं। प्रजा राजा को कोई वस्तु नहीं समझती। राजा प्रजा के हितों का कोई ध्यान न रख अपनी विलासलीला में निमग्न है। इस प्रकार भगवान् कलि के इस साम्राज्य में सम्मतिमूलक सुमति का नितान्त अभाव है एवं दुर्म्मतिमूलक कुमति का पूर्ण विकास है। दोनों से क्या फल होता है ? यह प्रत्यक्ष है। महात्मा तुलसीदास ने इन्हीं भावों को लक्ष्य में रख कर कहा है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥[1]

---

१ रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड ३९ (ख) अन्तर्गत चौ० ३ ।

और तो और, शास्त्रों की दुहायी देने वाले भी आज कुमति से नहीं बचे हैं। हम तो यह भी कह सकते हैं कि अनपढ़ लोगों में तो फिर भी प्रकृति देवी का थोड़ा बहुत अनुग्रह है। परन्तु पढ़े लिखे तो सर्वथा मर्य्यादा से बाहर ही निकल चुके हैं। प्रत्येक बात को "ढोंग" बतलाकर उसका परिहास करना ही इन शिक्षितों का जीवनव्रत है। तभी नो ये पूर्ण सुखी हैं। परस्पर के विवाद, कलह से भारतीय मौलिक शास्त्र (वेदशास्त्र) आज सर्वथा विलुप्त हैं। सच्छास्त्रों के स्थान में असच्छास्त्रों ने अधिकार जमा रक्खा है। आज हम भारतीय विद्वानों के सामने जब अपने–"**वेदशास्त्र का पठन-पाठन छोडकर केवल अङ्गों में ही जीवनलीला समाप्त कर देने से भारतवर्ष की यह अवनति हुई है। लोग मौलिकसाहित्य का स्वरूप भूल चुके हैं**"—यह उद्‌गार प्रकट करते हैं तो वे विद्वान् महानुभाव अपने कल्पित पाण्डित्य को छिन्न-भिन्न होता देख कर हमारे ऊपर अग्निश्च-वायुश्च बनने का अनुग्रह करने लगते हैं। परन्तु उन्हें यह विदित नहीं है कि भारतवर्ष में कुछ समय पूर्व एक महापुरुष ने उनके पाण्डित्य के सम्बन्ध में यही उद्‌गार प्रकट किए थे। संभवतः सभी भारतीय विद्वान् उस महापुरुष की महापुरुषता में भी कोई सन्देह नहीं रखते। वे महापुरुष हैं, ईश्वरांशभूत **महात्मा तुलसीदास**। यदि आप बुरा न समझें तो हमें तो यह कह लेने दीजिए कि आज के इस भीषण प्रलयकाल में आर्यसभ्यता, आर्यसंस्कृतिरूप नौका के यदि कोई पतवार हैं तो **श्रीमद्भगवद्‌गीता और** तुलसी की **रामायण (रामचरितमानस)**। कहना अतिशयोक्ति होगी, परन्तु कहना पड़ता है कि गीता जैसे दुरूहग्रन्थ को यथावत् समझने में सर्वसाधारण की गति नहीं है, परन्तु रामायण आज आर्यजाति का मूलस्तम्भ है। भारतीय विद्वान् भाषा (हिन्दी भाषा) का नाम सुनते ही आज नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। आज संस्कृतज्ञ विद्वानों की विद्वत्ता संस्कृतभाषा बोलने पर ही समाप्त है। टूटी-फूटी संस्कृत क्या बोलने लगे, दिग्गज विद्वान् हो गए। अपने इसी अभिमान में चूर्ण ये विद्वान् महाभाग आज लोकसंग्रह के विघातक बन रहे हैं। महात्मा तुलसीदास चाहते तो ऊँची से ऊँची संस्कृत में एक बडा सा पोथा लिख जाते। परन्तु उनके सामने युगधर्म्म नृत्य कर रहा था। वे जानते थे कि वर्त्तमान एवं भविष्य की संतति का मस्तिष्क इस योग्य न रहेगा कि वह संस्कृत ग्रन्थों की उस अगाध राशि की थाह पा सके। बस, इसी भावना से भावितान्तःकरण बन कर तुलसी ने प्रचलित भाषा द्वारा संसार के सामने शास्त्रों का मौलिक स्वरूप रक्खा। तुलसीदास यह भी जानते थे, कि इस भीषण युग में कोई हमारी बात न सुनेगा। इसीलिए उन्होंने रामचरितमानस निर्म्माण का लक्ष्य किसी को न बना कर केवल अपने अन्तरात्मा को बनाया। वैयक्तिक कल्याण में इस महापुरुष ने लोककल्याण के दर्शन किए। कहना न होगा कि भगवान् का दूसरा उपदेश तुलसी के सम्बन्ध में सर्वात्मना चरितार्थ हुआ। अपनी इसी वैयक्तिक भावना का स्पष्टीकरण करते हुए भक्तहृदय कहता है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥[1]

---

१ तुलसीकृत रामचरितमानस बालकाण्ड श्लोक सं० ७।

अस्तु, तुलसी की इस पावन स्मृति से हमें कहना यह था कि तुलसी सामयिक वातावरण से भली-भाँति परिचित थे। साथ ही में उनकी दृष्टि में सच्छास्त्र विलुप्तप्राय हो चुके थे, जैसा कि निम्न-लिखित तुलसीसूक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पन्थ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥[1]

तात्पर्य्य उक्त सूक्ति का यही है कि यदि आपको अपने कल्याण के साथ-साथ लोककल्याण भी अभीष्ट है तो संसार में क्या हो रहा है? व्यक्ति, समाज, राष्ट्र कि वा विश्व किस प्रवाह में बह रहा है? कौन क्या कर रहा है? कौन क्या नहीं करता? इन सब बातों की ओर कोई ध्यान मत दीजिए। निन्दास्तुतिभावों की ओर से चित्त को हटा लीजिए। हाँ बस, केवल शास्त्रसिद्ध अपने कर्त्तव्य-कर्म्म पर दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ते चलिए। इस छोटे से जीवन में यदि तुमने अपने आपको वर्त्तमान प्रवाह में डाल दिया तो न इधर के रहोगे, न उधर के। "**मुण्डे-मुण्डे रुचिर्भिन्ना**" के अनुसार वर्त्तमान युग में प्रत्येक की विचारधारा स्वतन्त्र है। तुम्हारा आदेश, तुम्हारा उपदेश अरण्यरोदन होगा। किसी के लाडले बनोगे, किसी के शत्रु बन जाओगे। दुनिया तुम्हारे लिए कुछ भी बकती रहे, तुम्हें पिटभर बतलाती रहे, तुम अपने कर्त्तव्य पर अनन्यभाव से अनासक्त बन कर दृढ रहो। इस युग में कल्याण का यही अन्यतम मार्ग है। **आत्मरति** ही इस कल्याण का मुख्य बीज है। जिस दिन तुम आत्मरति प्राप्त कर लोगे, उस दिन तुम्हारा यह अध्यात्मसंस्था-सम्बन्धी विश्वदानी यज्ञ, आधिदैविकसंस्था-सम्बन्धी सर्वहुतयज्ञरूप में अपने आप परिणत हो जाएगा। घर बैठकर तुम विश्व को अपने आप में आहुत कर दो, तुम स्वयं विश्व में आहुत हो जाओगे। यही तो सर्वहुतयज्ञ होगा। यही अणिमा एक दिन तुम्हें भूमा पर पहुँचा देगी। यही स्वान्तःसुख आगे जा कर तुलसी के वाक्य की तरह एक दिन विश्वसुख बन जाएगा। यदि उस सर्वहुतयज्ञ के यजमान बनने की कामना है, दूसरे शब्दों में लोकसेवा की कामना है तो पहले अपने आपको संभालो। अपने अध्यात्मयज्ञ पर विजय प्राप्त करो। पहले आत्मा का उद्धार करो। फिर अपने कुटुम्ब का उद्धार करो। फिर समाज-राष्ट्र-विश्व पर दौड़ लगाओ। तुम्हारा आत्मा तुम्हारे वश में नहीं, राग-द्वेष-अभिमान-अभिनिवेश-अविद्या-अस्मिता-ईर्ष्या-लोभ-मद-मात्सर्य-स्वार्थलिप्सा आदि ने तो तुम्हारे आत्मा को कलुषित बना रक्खा है। और चले हो देश सेवा के लिए। अन्तर्य्यामी को साक्षी बना कर विचार करो कि जब तुम अपने वश में नहीं हो, तुम्हारा कुटुम्ब तुम्हारा अनुयायी नहीं है तो ऐसी दशा में उन तटस्थ व्यक्तियों पर तुम कैसे अपना प्रभाव डाल सकोगे? सचमुच यह बडे ही खेद का विषय है कि आज हमारे देश में कितने ही महानुभाव अपनी शक्ति का अनुमान लगाए बिना ही हमारे नेता बनते हुए स्वयं भी धोखा खाते हैं एवं भोली जनता को भी उत्पथानुगामी बना देते हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति नेता बनने की हविस रखता है। प्रत्येक व्यक्ति देशसेवा का दम भरता है। परन्तु इन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमारा शरीर और अन्तःकरण दोनों कम्पित

१ रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड दोहा सं० १४।

हो जाते हैं। भारतवर्ष के उस मौलिक साहित्य-ज्ञान से, जिसके सम्यक्-परिज्ञान के बिना भारतवर्ष का समुद्धार इतर प्रयत्नसहस्रों से भी शक्य नहीं है, उस साहित्य से अणुमात्र भी संसर्ग न रखना, यही नहीं, भारतीय साहित्य एवं साहित्य-निर्म्माता ऋषियों की निन्दा करना जिन व्यक्तियों का मुख्य उद्देश्य है, जो महानुभाव उस जड़भावप्रधान पश्चिमी शिक्षा पर ही शिक्षा का पर्यवसान समझते हैं, जिनका आभ्यन्तर जगत् कुत्सित वासनाओं का क्रीडास्थल बना हुआ है, जो व्याघ्रचर्म्माच्छन्न रासभ—**"यत्र शाब्दिकास्तत्र तार्किकाः, यत्र तार्किकास्तत्र शाब्दिकाः। यत्र नोभयोस्तत्र चोभयोः, यत्र चोभयोस्तत्र नोभयोः"**—इस सूक्ति को चरितार्थ करने में अग्रणी बने हुए हैं, ऐसे व्यक्तियों का नेतृत्व भारतीय प्रजा का क्या कल्याण करेंगे ?—यह उन्हीं से पूछना चाहिए।

स्वदेशीवस्त्र वास्तव में आदरणीय है। परन्तु केवल इस स्थूलशरीर के आवरण से अपने अन्तर्जगत् को आवृत नहीं किया जा सकता। भावनाशुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है। सम्भव है, आप थोड़े दिन अपने इन बनावटी रूपों से भोली जनता की आँखों में धूल झोंकने में समर्थ हो जाएँ। परन्तु एक दिन आपको, साथ ही में मूर्खतावश आपकी अनुगामिनी बनी हुई उस भोली जनता को, दोनों को इस पाप का प्रायश्चित करना पड़ेगा। जिस व्यक्ति को आत्मा का स्वरूप ही विदित नहीं, वह आत्मरति का कैसे सम्पादन करेगा ? एवं जो आत्मरति करने में असमर्थ है, वह दूसरों का क्या भला करेगा ? इसलिए आवश्यक है कि उस सर्वहुतयज्ञसिद्धि के लिए हम पहले अपने व्यक्तित्व का सुधार करें। अपने आपको संभालें। अपने कुटुम्ब को समुन्नत बनावें। फिर सामाजिक, किं वा राष्ट्रीय बनने का साहस करे। थोथे आदर्शवाक्य कभी हमारा कल्याण नहीं कर सकते। बस, इसी सारी परिस्थिति को गर्भ में रखता हुआ, व्यक्तियज्ञ द्वारा समष्टियज्ञ को लक्ष्य बनता हुआ भगवान् का दूसरा (क्रमप्राप्त चौथा) उपदेश हमारे सामने आता है।

—०—

१—यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्०—

मन की वृत्ति का किसी विषय में तल्लीन हो जाना ही **"रति"** है। मन चान्द्रसोममय है। यह चान्द्रसोम सर्वथा ऋत पदार्थ है। इसी ऋतभाव के कारण चान्द्रमन इतस्ततः दोलायित बना रहता है। है। मन का यही रसप्रवहण **"प्रेम"** नाम से प्रसिद्ध है। अधिकारीभेद से यही प्रेम श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम, रति—इन पांच भागों में विभक्त है। आरम्भ के चारों विषयानुगत हैं, रतिप्रेम विषयानुगामी है, आत्मानुगामी भी है। रतिप्रेम का एकमात्र आत्मा और स्त्री-इन दो को ही अधिकार है। इसीलिए उपनिषत् में आत्मानन्द के सम्बन्ध में—**"तद्यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तः"**—यह कहा है। स्त्री के साथ सम्बन्ध रखने वाली रति अनुरक्ति (अनुराग) कहलाती है। कारण, इसमें रागमूला आसक्ति का सम्बन्ध रहता है। अनुरक्तिरूपा यह रति बन्धन की मूलप्रतिष्ठा है। आत्मानुयायिनी रति आत्मरति कहलाती है। इसमें रागमूला आसक्ति का अभाव है, अतएव यह रति अरति बनती हुई मुक्ति की मूलप्रतिष्ठा है। रति में श्रद्धादि चारों का समावेश है, अतएव रतिप्रेम सर्वोत्कृष्ट माना गया है, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट

है । अनुरक्तिरूप रतिप्रेम **अराम** (हराम) है एवं आत्मरति प्रेम **राम** है । अराम ही आराम है । आराम (ऐय्याशी) सर्वनाश का कारण है । आत्मरमणलक्षण राम सर्वोद्धार का बीजमन्त्र है । मरणासन्न व्यक्ति के कान में काशीपुरी में रहने वाले भगवान् शङ्कर इसी राममन्त्र की दीक्षा देकर उसे मुक्त करते हैं । अतएव राममन्त्र तारकमन्त्र माना गया है ।

इस आत्मरति के **अपूर्णा रति, पूर्णा रति, अप्रवृत्ता रति**–ये तीन भेद माने गये हैं । तुष्टि अपूर्णा रति है, तृप्ति पूर्णा रति है । इन दोनों रतियों का विशद विवेचन पूर्व की तुष्टितृप्तिमूला स्थित-प्रज्ञताओं में किया जा चुका है । अपूर्णा रति में आत्मा का अर्द्धोत्थान है, पूर्णा रति में पूर्णोत्थान है । अप्रवृत्ता रति में उत्थान का अभाव है । तीनों में अप्रवृत्तारतिलक्षणा आत्मरति ही प्रधान आत्मरति है । इसी का प्रकृत में सम्बन्ध है । इस रति में एक प्रकार से रतिभाव का मूलोच्छेद ही है । आत्मरति अरति है । अरति में प्रयत्न का आत्यन्तिक विराम है, अतएव इस आत्मतृप्त को नित्यतृप्त कहा जाता है ।

जिसका कर्म्मात्मा प्रत्यगात्मा में रत हो जाता है, उसमें प्रत्यगात्मानन्द की पूर्णता का उदय हो जाता है । ऐसी दशा में उस कर्म्मात्मा को कर्म्म करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती । अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कर्म्मात्मा कर्म्म में प्रवृत्त होता है । जब इसने प्रत्यगात्मा को पा लिया, उस पूर्णेन्द्र के साथ जब इस अर्द्धेन्द्र का एकीभाव हो गया तो फिर इसके लिए कोई भी वस्तु प्राप्तव्य न रही । आत्मरति प्राप्त कर लेना ही तो आध्यात्मिक यज्ञ पर विजय प्राप्त करना है । इसी भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥[1]

इस दशा में तो कर्म्मात्मा प्रत्यगात्मा में ही क्रीड़ा करता रहता है, अपने आप में खेलता रहता है, जैसा कि–"**आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः**"–इत्यादि वचनों से स्पष्ट है । मिथुनभाव द्वैत से सम्बन्ध रखता है । वह द्वैत, प्रत्यगात्मा एवं कर्म्मात्मा के द्वन्द्वभाव पर ही निर्भर है । "**आत्मा में वह नित्यसंतुष्ट रहता है**"–इस वाक्य में पठित "**वह**" कर्म्मात्मा है । "आत्मनि" प्रत्यगात्मा है । जब तक कर्म्मात्मा पराग्ब्रह्मलक्षण विषयों में रत रहता है, तब तक यह काम-कामी बनता हुआ कामी है । इस बहिःक्रीड़ा-स्थल को छोड कर जब यह प्रत्यग्ब्रह्मलक्षण आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है तो उस अवस्था में आत्मकामी बनता हुआ यह निष्काम बन जाता है । निष्काम के लिए कोई कर्त्तव्यकर्म्म नहीं रह जाता । आगे का श्लोक इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करता है ।

——१——

१ बृहदा० उप० ४।४।१२ ।

२–नैव तस्य कृतेनार्थः—

काम वह किया करता है, जिसे कुछ स्वार्थ होता है, जिसे बाहर के अर्थों की लालसा रहती है। **"अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"**–इस सूक्ति के अनुसार जब प्रत्यगात्मा में ही इसे सब कुछ मिल गया तो फिर यह कर्म्म में क्यों प्रवृत्त हो ? आवश्यकता ही तो कर्म्माविष्कार की जननी है। स्पृहा ही कर्म्म की उदयभूमि है। जब उसे आवश्यकता ही नहीं तो फिर वह कृतभाव (कर्म्मभाव) में क्यों प्रवृत्त होने लगा ? साथ ही में उसके कर्म्म न करने से उसका कुछ बिगड़ जाएगा, सो भी संभव नहीं है। आवश्यकता के पूरी न होते पर आत्मा में आघात हुआ करता है। आवश्यकता के लिए हमने कर्म्म किया, कर्म्म से फल न मिला, क्षोभ हो गया। ऐसे कामी को अवश्य ही फलसिद्धि के लिए कर्म्म करना चाहिए। परन्तु जिसे पहले से ही सब कुछ मिल गया है तो फिर वह कर्म्म न भी करेगा तो उसकी कोई क्षति नहीं है। संसार में जितनी भी भौतिक सम्पत्तियाँ हैं, उनसे सम्बन्ध रखने वाला प्रयोजन-जनित क्रियाश्रम इसे अणुमात्र भी अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार आत्मरति को कर्म्म करने से न कोई सिद्धि की वाञ्छा है, न कर्म्मत्याग में इसकी कोई हानि है।

—०—

३–तस्मादसक्तः सततं—

पूर्व के दोनों श्लोकों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भगवान् आत्मनिष्ठ योगी के लिए कर्म्म करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। वास्तव में गीता के–**"तस्य कार्यं न विद्यते"**–ये अक्षर थोड़ी देर के लिए हमें इस सन्देह में डाल देते हैं कि कहीं भगवान् भी कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास को तो श्रेष्ठतम मार्ग नहीं मान रहे हैं। उक्त दोनों श्लोकों से थोड़े समय के लिए जहाँ उक्त विचारों का अन्तरात्मा में उदय होता ही है कि भगवान् अव्यवहितोत्तरकाल में ही सदृष्टान्त **"तस्मादसक्तः०"**–इत्यादि कहते हुए हमारा क्षोभ शान्त कर देते हैं।

श्लोकार्थसमन्वय से कर्म्मत्यागाभिमानी व्याख्याताओं की महिमा के भी दर्शन कर लीजिए। **यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र०"** से आरम्भ कर–**"एवं प्रवर्तितं चक्रं"**–यहाँ तक के अष्टश्लोकात्मक प्रकरण से भगवान् ने सप्तचक्रात्मक यज्ञकर्म्म का आदेश दिया। इसके अनन्तर विश्वदानीयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले आध्यात्मिक यज्ञार्थ कर्म्म का तीन श्लोकों से निरूपण किया। यह तो हुई अपने घर की बात। व्याख्याता प्रकृतश्लोकत्रयात्मक प्रकरण की संगति लगाते हुए कहते हैं—

"पूर्वोक्त यज्ञचक्रात्मक कर्म्म का अनुगमन सबको करना चाहिए अथवा पूर्वोक्त कर्म्मयोगानुष्ठान में रत मिथ्याज्ञानयुक्त संसारी ही इस यज्ञार्थकर्म्म में प्रवृत्त रहे"– अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने–**"यस्त्वात्मरति०"**–इत्यादि कहा है। अथवा भगवान् स्वयं अपनी ओर से ही यह निर्णय करना चाहते हैं कि मिथ्याज्ञानयुक्त संसारी के लिए ही यज्ञकर्म्म का विधान हुआ है। जो सांख्यानुयायी (ज्ञानयोगी) है, उसे कर्म्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आरम्भ के दो श्लोकों

से भगवान् ने कर्म्मत्यागलक्षण सांख्य का ही निरूपण किया है एवं–"तस्मादसक्तः०"–इत्यादि से उन कर्म्मठों के लिए कर्म्म का विधान किया है, जो कि अभी ज्ञाननिष्ठा पर नहीं पहुँचे हैं। जनक-अश्वपति आदि ने सम्यग्दर्शनरूप ज्ञान के अभाव से ही कर्म्म करते हुए अन्त में सत्त्वशुद्धिद्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। सचमुच हमें तो इन व्याख्याताओं पर तरस आता है। कहीं निष्कामभावप्रवर्त्तक वाक्य इन्हें मिलना चाहिए, तत्काल ये अपना वही बेसुरा राग आलापने लगते हैं। इन भले मनुष्यों से यह तो पूछिए कि यदि आरम्भ के दो श्लोक कर्म्मत्याग का उपदेश देते हैं तो फिर तीसरे श्लोक के "तस्मात्" का क्या अर्थ है? "तस्मात्" सापेक्ष शब्द है। अवश्य ही इसका पूर्व श्लोकार्थ से सम्बन्ध है। नहीं तो 'तस्मात्' का कोई मूल्य ही नहीं रहता। भगवान् कर्म्मत्याग के महाशत्रु थे, इसीलिए उन्हें "तस्मात्" कहना पड़ा। ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप बतलाया। ज्ञाननिष्ठा में भी प्राकृतिक आत्मसम्बन्धी कर्म्म छोडे नहीं जा सकते, हेतु बतलाते हुए "तस्मात्" शब्द से उसका अभिनय करते हुए–"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"–अपने इस सिद्धान्त को दृढमूल बनाया। जिन जनक, अश्वपति को व्याख्याता ने सत्त्व से (ज्ञाननिष्ठा से) शून्य बतलाया है, उनके सम्बन्ध में तो हमें कुछ कहना ही नहीं है। सर्वज्ञाननिधि व्यासदेव ने वीतराग शुकदेव को जनक के पास ब्रह्मविद्या का उपदेश लेने भेजा था। जनक ने उनका समाधान किया था। ज्ञानियों में सुप्रसिद्ध शुकदेव के गुरु एवं अपने अनासक्त कर्म्मभाव के कारण वीतराग बनते हुए विदेह नाम से प्रसिद्ध वे जनक व्याख्याता की दृष्टि में इसलिए कर्म्म करते थे कि उनमें अभी ज्ञान का उदय नहीं हुआ था? क्यों? जिसके पास बडे-बडे ब्रह्मवेत्ता महर्षि समय-समय पर औपनिषद ज्ञान की शिक्षा लेने आया करते थे, वे सुप्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता अश्वपति महाराज केकय इसलिए कर्म्म करते थे कि उनका अज्ञान हट जाए? छिः! छिः!! कैसी बीभत्स कल्पना है!!! अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि जनक, अश्वपति आदि को बोध न था। परन्तु उस गीताचार्य से व्याख्याता कैसे पीछा छुडाएँगे जो–"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि"–कहता हुआ जीवन भर कर्म्म में प्रवृत्त रहा है। क्या यहाँ भी व्याख्यातापुङ्गव सत्त्व का उदय.................? अस्तु, जाने दीजिए, इस पाप-कथा को। आप तो भगवान् के अक्षरों की आराधना कीजिए। "मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी"–इस न्याय पर प्रतिबन्ध थोड़े ही लगाया गया है।

"आत्मानुगामी पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य कर्म्म नहीं रहता। न कर्म्म-प्रवृत्ति में उसका कोई प्रयोजन है एवं न, न करने से उसकी कोई हानि ही है"– इस वाक्यसन्दर्भ का तात्पर्य्य यही हुआ कि आत्मविभूति प्राप्त होने पर मन से निकलने वाली उत्थाप्याकांक्षा का द्वार बन्द हो जाता है। यही कामना-बन्धन एवं कर्म्म-प्रवृत्ति (काम्यकर्म्मप्रवृत्ति) का द्वार बनती है। इस कामना से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्म का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यहाँ रहती है केवल आत्मसम्बन्धिनी उत्थिताकांक्षा। इससे सम्बन्ध रखने वाले जितने भी आधिकारिक कर्म्म हैं, वे आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भूत हैं। इन कर्म्मों के प्रवर्त्तक हम (कर्म्मात्मा) नहीं हैं, अपि तु, परमात्मा (प्रत्यगात्मा) है। हम तो निमित्तमात्र (द्वार) बनते हैं। यही बात–"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"–इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाली है। जब हम इन आत्मकर्म्मों के कर्त्ता नहीं, साथ ही में मनःप्रधाना उत्थाप्याकांक्षा का एवं तत्सम्बन्धी आसक्तिजनक कर्म्मों का कर्म्मात्मा के साथ सम्बन्ध नहीं तो फिर "तस्य (कर्म्मात्मनः) कार्यं न विद्यते"–इसके अतिरिक्त

और क्या कहा जा सकता है ? आत्मकर्म्म हो रहे हैं सो हो रहे हैं। उनके फलाफल का कर्म्मात्मा से क्या सम्बन्ध ? यह कर्म्मात्मा की बुद्धिमानी होगी कि यदि वह इन आत्मकर्म्मों में असंग बन कर सहयोग देता रहेगा। यदि वह इन आत्मकर्म्मों का सहायक न बनेगा, तब भी समय पाकर वे तो हो ही जाएँगे, साथ ही में सहयोग न देने से कर्म्मात्मा उस आत्मकर्म्म के वैभव से और वञ्चित रह जाएगा। इसलिए हे अर्जुन ! तुझे असक्त बन कर उन आत्मकर्म्मों में सहयोग ही देना चाहिए। ऐसा करने से प्रत्यगात्मरूप अव्यय-पुरुष की परम विभूति का तेरे कर्म्मात्मा पर अनुग्रह होगा। इसी भाव को लेकर भगवान् आगे जा कर कहने वाले हैं कि यदि तू शस्त्र नहीं उठाएगा तब भी प्रकृति इन्हें मार ही डालेगी। इनका समय आ पहुँचा है। तुझे भी यश लूटना है तो लूट ले।

कदाचित् तेरे मन में यह शंका हो कि मैं अपनी ओर से सब्जबाग दिखा कर तुझे बलात्कार से कर्म्म में प्रवृत्त करता हुआ लक्ष्य-च्युत बना रहा हूँ। अर्जुन ! मैंने तेरे सामने आज उस सिद्धान्त को रक्खा है, जो सिद्धान्त (देवयुग में मेरे द्वारा उपदिष्ट होकर परम्परया अनादिकाल से) तत्त्ववेत्ता परम-ज्ञानी उन राजर्षि जनक-अम्बरीष-आदि में प्रतिष्ठित रहा है। जिस सिद्धान्त के कारण उन राजर्षियों ने राज्यशासन का यथाविधि सञ्चालन करते हुए इसी स्वधर्म्म से परमसिद्धि प्राप्त की है। भगवान् ने–"**कर्म्मणैव हि**"–कहते हुए बुद्धियोगलक्षण कर्म्ममार्ग को ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना है।

सम्पूर्ण उपदेश का निष्कर्ष यही हुआ कि यदि आरम्भ-दशा में तू सर्वहुतयज्ञ के लिए कर्म्म करने में असमर्थ है तो केवल अपने आत्मलक्षण विश्वदानी यज्ञ के लिए ही अनासक्त बन कर स्वकर्म्म में प्रवृत्त हो जा। ऐसा कर्म्म उपेक्षाबुद्धि के सहयोग से सर्वथा अबन्धन अतएव अदुष्ट होगा। आत्माराम बन कर, आत्मपरायण बन कर, प्रत्यगात्मा के साथ मिथुनभाव को प्राप्त होकर स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म करता जा। कालान्तर में अपने आप तुझे सर्वहुतयज्ञ की व्यापक विभूति प्राप्त हो जाएगी। इस प्रकार इस उपदेश में भगवान् ने चार अबन्धन कर्म्मों में से उपेक्षाकृतकर्म्म नाम के दूसरे अबन्धन कर्म्म का ही रहस्य बतलाया है।

॥ इति चतुर्थोपदेशः ॥

४

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

५–विद्वत् पामराद्युच्चावचसर्वविधलोकस्थितिनिर्वाहो लोकसंग्रहः ।
लोकसंग्रहकर्तव्यतादृष्ट्या कृतस्य कर्म्मणोऽनासक्ति-
हेतुत्वादबन्धनत्वात् परित्यागानौचित्यम् ।

तृतीयायामुपनिषदि—

पञ्चमोपदेशः

५–विद्वत् पामराद्युच्चावचसर्वविधलोकस्थितिनिर्वाहो लोकसंग्रहः। लोकसंग्रहकर्तव्यतादृष्ट्या कृतस्य कर्म्मणोऽनासक्ति-हेतुत्वादबन्धनत्वात् परित्यागानौचित्यम्।

—०—

१–लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।। (गीता ३।२०)

२–यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। (गीता ३।२१)

३–न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि ।। (गीता ३।२२)

४–यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (गीता ३।२३)

५–उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। (गीता ३।२४)

६–सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। (गीता ३।२५)

७–न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।। (गीता ३।२६)

—०—

[मूलानुवाद]–"हे अर्जुन ! लोकसंग्रह को लक्ष्य में रख कर भी तुझे कर्म्म करना चाहिए। (क्यों कि लोक में) प्रतिष्ठित पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, इतर (साधारण) जन समाज उसी (श्रेष्ठ पुरुष के आचरण) का अनुगमन करता है। श्रेष्ठ पुरुष जिसे श्रेष्ठ मान लेता है, लौकिक उसी का अनुगमन करने लगते हैं। हे अर्जुन ! इन तीनों लोकों में मेरे लिए (अव्यय के लिए) कोई कर्त्तव्य (कर्म्म) नहीं है। न मेरे लिए (संसार में) न कुछ अप्राप्त है, न प्राप्त करने योग्य है। (फिर भी) मैं कर्म्म में ही प्रवृत्त रहता हूँ। यदि मैं निरालस बन कर क्षण भर के लिए भी कर्म्म छोड़ दूं तो हे अर्जुन ! सम्पूर्ण मनुष्य (प्राणीमात्र) चूंकि मेरे (अव्यय के) मार्ग का ही अनुसरण करते हैं, ऐसी स्थिति में मेरे कर्म्म छोड़ देने पर सम्पूर्ण लोक (स्थावर-जङ्गम प्रजा) उच्छिन्न हो जाए। ऐसी दशा में मैं संकरभाव का कारण बनता हुआ प्रजानाश का कारण माना जाने लगूं। हे अर्जुन ! जिस प्रकार मूर्ख मनुष्य कर्म्मों में आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार लोकसंग्रह की इच्छा रखने वाले विद्वान् को आसक्ति रहित बन कर कर्म्म करना चाहिए। कर्म्म में आसक्त रहने वाले अज्ञमनुष्यों का कभी बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए। अपि तु, विद्वान् का कर्त्तव्य है कि (वह स्वयं अनासक्तभाव से कर्म्म में) युक्त रहता हुआ (सबको सब) कर्म्मों में सञ्चालित करता रहे।"

——०——

[भाष्य]–"**कर्म्मणैव हि संसिद्धि०**"–इत्यादि श्लोक का पूर्वार्द्ध चौथे उपदेश से एवं उत्तरार्द्ध पाँचवें उपदेश से क्यों सम्बद्ध माना गया ? इस प्रश्न का समाधान तीसरे उपदेश में किया जा चुका है। प्रकृत उपदेश **लोकसंग्राहककर्म्म** को ही अबन्धनता बतलाता है। जो सर्वहुतयज्ञ के लिए कर्म्म करने में समर्थ न हो, वह विश्वदानीयज्ञ के लिए कर्म्म करे। जो व्यक्ति ऐसा करने में भी समर्थ न हो वह क्या करे ? उसके उद्धार का क्या उपाय ? प्रकृत उपदेश इन्हीं प्रश्नों का समाधान करता है। यज्ञकर्म्म **आधिदैविक, आध्यात्मिक-आधिभौतिक** भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों की मूलप्रतिष्ठा क्रमशः **ईश्वर-जीव-जगत्** ये तीन विवर्त्त हैं। ईश्वरीय आधिदैविक यज्ञ **सर्वहुतयज्ञ** है, जीव-सम्बन्धी आध्यात्मिक-यज्ञ **विश्वदानीयज्ञ** है एवं भौतिकवर्ग से सम्बन्ध रखने वाला आधिभौतिकयज्ञ **लोकयज्ञ** है। सर्वहुतयज्ञ का भी हमने लोकसंग्रह के साथ सम्बन्ध बतलाया है एवं इस आधिभौतिक लोकयज्ञ के साथ भी लोक-संग्रह का सम्बन्ध बतलाया जाने वाला है। मध्य के आध्यात्मिक विश्वदानीयज्ञ के साथ भी परम्परया लोकसंग्रह बतलाया गया। छठे उपदेश में जिस प्राकृतिकयज्ञ का निरूपण होने वाला है, उसके साथ भी परम्परया लोकसंग्रह का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार **यज्ञार्थकर्म्म, उपेक्षाकृतकर्म्म, लोकसंग्रह-कर्म्म, प्रकृतिसिद्धकर्म्म** (३–४–५–६ क्रमशः इन चारों उपदेशों से सम्बन्ध रखने वाले) चारों कर्म्मों के साथ कहीं परम्परया, कहीं साक्षात्रूप से लोकसंग्रहभाव का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। यही भगवान् का प्रधान लक्ष्य है। इस लोकसंग्रहप्राप्ति के द्वार चार बतलाए गए हैं। सर्वहुतयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला लोकसंग्रह सर्वोत्तम है। कारण इसमें ईश्वरीयभाव की व्यापक-भावना के समावेश के कारण अध्यात्म-अधिभूत-प्रकृति इतर तीनों अबन्धन कर्म्मों का भी समावेश हो जाता है। इस यज्ञकर्म्म में आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध है, जैसा कि–"**भूतेषु आत्मानं, आत्मनि भूतानि**"–इत्यादिरूप से उसी प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

अपने आत्मा की ईश्वरीय सर्वहुतयज्ञरूप अग्नि में आहुति देकर ईश्वरीयभाव-प्राप्ति के द्वारा लोकसंग्रह प्राप्त कर लेना सर्वोत्कृष्टमार्ग है । अध्यात्म का अधिदैवत के साथ, तद्द्वारा आधिभौतिकयज्ञ रूप लोक के साथ, इस प्रकार ईश्वरद्वारा लोकसंग्रह प्राप्त करना ही सर्वहुतयज्ञ का निष्कर्ष है । हम साक्षात्रूप से ईश्वर, किं वा ईश्वरीययज्ञ के साथ सम्बन्ध करने में असमर्थ हैं । ऐसी अवस्था में क्या किया जाए ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए चौथा उपदेश हमारे सामने आया है । जिस प्रकार आधिदैविक जगत् में एक ईश्वर तन्त्रायी बना हुआ है, एवमेव प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रत्यगात्मरूप ईश्वरांश उस जीवसंस्था का तन्त्रायी बना हुआ है, जैसा कि–**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**"– इत्यादि गीता-सिद्धान्त से स्पष्ट है । आधिदैविक व्यापक ईश्वर जहां विश्वरूप सर्वहुतयज्ञ का संचालक है, वहां आध्यात्मिक परिच्छिन्न वह देहेश्वर शरीररूप विश्वदानीयज्ञ का संचालक बना हुआ है । जो वहां न पहुंच सके, उन्हें अपने आध्यात्मिक चिदंशलक्षण प्रत्यग्ब्रह्म के साथ ही (कर्म्मात्मा की) रति उत्पन्न करनी चाहिए । इस आत्मरति से कर्म्मात्मा का आध्यात्मिक ईश्वर के साथ सम्बन्ध हो जाएगा । आध्यात्मिक ईश्वर अणोरणीयान् है, आधिदैविक ईश्वर महतोमहीयान् है । पूर्वोपदेश के अनुसार जो अणोरणीयान् है, वही महतोमहीयान् है । दोनों परमार्थतः एक तत्त्व हैं । फलतः इस आध्यात्मिक आत्मरति के द्वारा कर्म्मात्मा का उस व्यापक ईश्वर के साथ सम्बन्ध हो जाता है, तद्द्वारा लोकसंग्रह-निष्ठा प्राप्त हो जाती है । अपने कर्म्मात्मा का आधिदैविक ईश्वर के साथ साक्षात् सम्बन्ध करा कर, कर्म्मात्मा के सम्पूर्ण कर्म्मों को ईश्वरीय सर्वहुत-यज्ञकर्म्म में अर्पित कर देना एक पक्ष है । अपने कर्म्मात्मा का आध्यात्मिक ईश्वर के साथ (प्रत्यगात्मा के साथ) सम्बन्ध कराके कर्म्मात्मा के सम्पूर्ण कर्म्मों को आध्यात्मिक विश्वदानीयज्ञकर्म्म में समर्पित कर देना एक पक्ष है । प्रथम पक्ष में समष्टि भावना है, द्वितीय पक्ष में व्यष्टिभावना है । प्रथम पक्ष में ईश्वरीय सर्वहुतयज्ञ द्वारा लोकसंग्रह-प्राप्ति है; द्वितीयपक्ष में आध्यात्मिक विश्वदानीयज्ञ द्वारा लोकसंग्रह-प्राप्ति है ।

मान लीजिए एक व्यक्ति ऐसा है, जिसकी प्रत्यगात्मा पर भी दृष्टि नहीं जाती । इन्द्रियों के आक्रमण को सहने में असमर्थ बना हुआ वह व्यक्ति प्रत्यग्ब्रह्म की ओर से उदासीन बन कर पराग्ब्रह्म (विश्वान्तर्गत-भौतिक विषय) की ओर ही आकर्षित रहता है । प्रमाथी इन्द्रियां मन को अपने वश में कर बलात्कार से कर्म्मात्मा को बाहर के विषयों में ही अनुरक्त रहती हैं । आत्मरति का नितान्त अभाव, विषयरति की पूर्ण प्रवृत्ति । संसार में ऐसे भी बहुत से मनुष्य हैं । बहुत से क्या, हमारे जैसे अधिकांश में ऐसे ही मनुष्य हैं । आत्मा-परमात्मा का कोई विचार नहीं । केवल स्वार्थसिद्धि के लिए इन्द्रियों द्वारा बहिःकर्म्मों में प्रवृत्ति ही इनका प्रधान लक्ष्य हैं । ऐसे व्यक्तियों के उद्धार का क्या उपाय ? प्रकृत उपदेश इसी प्रश्न का समाधान करता है ।

परमात्मा पर विश्वास नहीं है, तो न सही । प्रत्यगात्मा की ओर कर्म्मात्मा आकर्षित नहीं होता, तब भी कोई चिन्ता नहीं । समनस्क इन्द्रियों द्वारा कर्म्मात्मा बाहर के विषयों में अनुरक्त है तब भी कोई हानि नहीं । जो कुछ समझ रहे हो एवं कर रहे हो, वैसा ही समझते रहो, वैसा ही करते रहो । इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर हम थोड़ा सा संशोधन चाहते हैं । यह तो तुम्हें भली-भांति विदित है

कि संसार में रह कर तुम एकाकी कुछ नहीं कर सकते। तुम्हें अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सैकड़ों आदमियों से संसर्ग रखना पड़ता है। खुशामद करते हो, आजीजी करते हो, निन्दा को पी जाते हो, सुबह से शाम तक भटकते रहते हो, क्षणमात्र भी विश्राम नहीं करते।

इस प्रकार एकदृष्टि से तुम पूरे लोकसंग्रही बने हुए हो। बस, इसी बिन्दु में हम यह संशोधन करना चाहते है कि तुम अपने स्वार्थ को सुरक्षित रखते हुए परमार्थ को भी थोड़ा सा अवकाश दे दो। तुम्हारे काम से तुम्हारे साथ-साथ यदि दूसरों का भी हित हो जाए तो क्या बुराई है? इसमें दो लाभ होंगे। जिन व्यक्तियों के साथ अपने स्वार्थ-साधन के लिए तुम संसर्ग रखते हो, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाएगा कि यह हमारे लाभ के लिए ऐसा कर रहा है तो वे तन-मन-धन से तुम्हारे कार्य में सहयोग देने लगेंगे। परिणाम इसका यह होगा कि तुम्हारा कर्म्म इन लाभेच्छु व्यक्तियों के सहानुभूतिमूलक पूर्ण सहयोग से सर्वात्मना सफल हो जाएगा। जो काम तुम बरसों में पूरा कर सकते हो, वह तुरन्त सम्पन्न हो जाएगा। पूर्णरूप से स्वार्थसिद्धि हो जाएगी। ठीक इसके विपरीत यदि उन सहयोगियों को यह विदित हो गया कि अमुककर्म्म में कोई लाभ नहीं तो फिर वे तुम्हें किसी प्रकार का सहयोग न देंगे। यही नहीं, यदि तुम मिथ्या आश्वासन से थोड़े दिन के लिए उन्हें लाभ का दिग्दर्शन कराते रहे, कालान्तर में यदि उनको तुम्हारी स्वार्थलीला विदित हो गई तो वे ही सहयोगी असहयोगी बन जाएँगे, शत्रु बन जाएँगे। फलतः तुम्हारा स्वार्थसिद्ध न हो सकेगा। इस दृष्टि से तुम्हें प्रत्येक स्वार्थ में लोकसंग्रह-मूलक परमार्थभाव का समावेश करना चाहिए। दूसरा फल बडा उत्कृष्ट है। स्वार्थ में परमार्थभावना करते-करते एक दिन तुम्हारा स्वार्थ परमार्थरूप में परिणत हो जाएगा। तुम्हारा सारा कर्म्म लोकसंग्रहाग्नि में आहुत होने लगेगा। उस समय तुम्हारा स्वार्थ इसलिए परमार्थ बन जाएगा कि तुम्हारे स्वार्थ में दूसरों का स्वार्थ अन्तर्निहित है। परिणाम इसका यह होगा कि परमार्थभाव के अनुग्रह से तुम्हारा कर्म्म वैयक्तिक भाव से पृथक् होता हुआ आसक्ति से पृथक् बन कर अबन्धन बन जाएगा। ऐसे कर्म्म कभी बन्धन के कारण न बनेंगे। लौकिक व्यक्तियाँ आधिभौतिकयज्ञस्वरूप है। इस यज्ञाग्नि में जिस दिन तुम अपने कर्म्मात्मा एवं कर्म्म की आहुति देने में समर्थ हो जाओगे, उस दिन आधिभौतिकयज्ञ पर तुम्हारा प्रभुत्व हो जाएगा। आधिभौतिकयज्ञ उस ईश्वरीय आधिदैविक यज्ञ से अभिन्न है। इसके द्वारा तुम्हें अन्ततोगत्वा वह सर्वहुतयज्ञसम्पत् मिल जाएगी। इस प्रकार इस दृष्टि से भी तुम लक्ष्य वेध करने में समर्थ हो जाओगे। आधिदैविकयज्ञ मनोमय अव्यय की प्रधानता से ज्ञानमय है। तदर्थंकृत कर्म्म भी ज्ञानमय ही बना रहता है, अतएव इसे हम ज्ञानकाण्डसम्बन्धी **ब्रह्मयज्ञ** कह सकते हैं। आध्यात्मिकयज्ञ प्राणमय अक्षर की प्रधानता से कर्म्ममय तदर्थंकृतकर्म्म भी कर्म्ममय ही बना रहता है। कर्म्म ही प्राण है, प्राण ही देवता है, अतएव इसे हम उपासनाकाण्डसम्बन्धी **देवयज्ञ** कह सकते हैं।

आधिभौतिकयज्ञ वाङ्मयक्षर की प्रधानता से अर्थमय है। तदर्थंकृतकर्म्म भी अर्थमय ही बना रहता है। अर्थ ही भूत है, अतएव इसे हम कर्म्मकाण्डसम्बन्धी **भूतयज्ञ** कह सकते हैं। तीनों क्रमशः **ब्रह्माग्नि** (स्वायम्भुव अग्नि), **देवाग्नि** (सौर अग्नि), **भूताग्नि** (पार्थिव अग्नि) यज्ञाग्नियाँ हैं। स्वयं

कर्म्मात्मा इस यज्ञ का यजमान है। कर्म्मात्मा में ब्रह्म-देव-भूत तीनों हैं। ब्रह्मभाग प्रत्यगात्मा है, कर्म्म-भाग कर्म्मात्मा का कर्म्म है, भूतभाग विषयसंस्कार हैं। प्रत्यगात्मा की ब्रह्माग्निरूप परमात्मा में आहुति देना ब्रह्मयज्ञ, किं वा सर्वहुतयज्ञ है। कर्म्मभाग की प्रत्यगात्मारूप देवाग्नि में आहुति देना देवयज्ञ, किं वा विश्वदानीयज्ञ है। भूतभाग की परागात्मरूप भूताग्नि में आहुति देना भूतयज्ञ, किं वा लोकयज्ञ है। ब्रह्म के लिए आत्मसमर्पित करना ब्रह्मार्पणयज्ञ है, देव के लिए आत्मसमर्पण करना देवार्पणयज्ञ है एवं भूतों के लिए आत्मसमर्पण करना भूतार्पणयज्ञ है। तीनों क्रमशः उत्तम-मध्यम-प्रथम अधिकारियों में विभक्त है। भूतार्पण से देवार्पण द्वारा ब्रह्मार्पण प्राप्ति हो जाती है। देवार्पण से ब्रह्मार्पणद्वारा भूतार्पण की सिद्धि हो जाती है। ब्रह्मार्पण में सर्वार्पण है। तभी तो इसे सर्वहुतयज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। लोकसंग्रहसिद्धि तीनों में हैं। अतः तीनों ही कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म बनते हुए अबन्धन बन जाते हैं।

१–आधिदैविकयज्ञः—

कर्म्मात्मनः—ईश्वरीयब्रह्माग्नौ आहुतिः। ततो लोकसंग्रहावाप्तिः।

—०—

२–आध्यात्मिकयज्ञः—

कर्म्मात्मनः—आध्यात्मिकप्रत्यगात्मलक्षणदेवाग्नौ आहुतिः। ततः–ईश्वरीययज्ञावाप्तिः। तद्द्वारा लोकसंग्रहसिद्धिः।

—०—

३–आधिभौतिकयज्ञः—

कर्म्मात्मनः—पराग्ब्रह्मलक्षणाधिभौतिकाग्नौ आहुतिः। ततो लोकसंग्रहः। तद्द्वारा-आध्यात्मिक यज्ञसिद्धिः। ततश्च-ईश्वरीययज्ञप्राप्ति द्वारा सर्वसिद्धिः।

—०—

१– { १–ब्रह्माग्निः–ईश्वरः→अग्निः
२–कर्म्मात्मनो ब्रह्मभागः (ज्ञानम्)→आहुतिद्रव्यम् } →सर्वहुतयज्ञः

—०—

२– { १–देवाग्निः–प्रत्यगात्मा→अग्निः
२–कर्म्मात्मनो देवभागः–कर्म्म→आहुतिद्रव्यम् } →विश्वदानीयज्ञः

—०—

३– १-भूताग्निः——–भूतात्मा→अग्निः } →लोकयज्ञः
२-कर्म्मात्मनो भूतभागः–अर्थः→आहुतिद्रव्यम्

—०—

१-ब्रह्मार्पणं ब्रह्मयज्ञः—→ज्ञानयज्ञः (ज्ञानम्)–उत्तमाधिकारिणाम् ।

२-देवार्पणं देवयज्ञः—→क्रियायज्ञः (उपासनम्)–मध्यमाधिकारिणाम् ।

३-भूतार्पणं भूतयज्ञः—→अर्थयज्ञः (कर्म्म)–प्रथमाधिकारिणाम् ।

—०—

तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम इन तीनों उपदेशों से क्रमशः अधिकारीभेद से उक्त तीनों अबन्धन यज्ञार्थ-कर्म्मों का निरूपण हुआ है । दोनों उपदेशों का स्वरूप बतलाया जा चुका है । अब तीसरे क्रमप्राप्त लोकयज्ञात्मक, अतएव लोकसंग्रह नाम से ही प्रसिद्ध भूतयज्ञ का प्रकृत स्वरूप के तीसरे उपदेश से (क्रमप्राप्त पञ्चम उपदेश से) अर्जुन के सामने रक्खा जाता है ।

—०—

१–लोकसंग्रहमेवापि०—

हे अर्जुन ! जाने दे सर्वहुतयज्ञलक्षणा ईश्वर भावना को, आत्मरति की ओर से भी उदासीन बन जा । फिर भी तुझे लोकसंग्रहदृष्टि से ही इस युद्धकर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए । आज तू इन आततायियों को मारने में पाप समझता है । परन्तु जब ये ही आततायी अपने कुत्सित स्वभाव के कारण सतियों के सतीत्व का अपहरण करेंगे, निर्बलों पर अत्याचार करेंगे, जिनके कुकृत्यों से संसार में त्राहि-त्राहि मच जाएगी, लोकसंग्रह बिगड़ जाएगा, प्रजा में विप्लव हो जाएगा, तो उस समय की परिस्थिति का कारण बनता हुआ क्या तू पाप से बच जाएगा ? हम मानते हैं कि बन्धुवर्ग को मारना पाप है । पन्तु कब ? जब कि इन बन्धुओं से लोकसंग्रह की रक्षा होती हो तब । यदि तू वैयक्तिक स्वार्थ को लोकसंग्रह में युक्त कर देता है तो तेरा स्वार्थ परमार्थरूप में परिणत हो जाता है । उस समय हिंसाजनितपाप पाप नहीं रहता, अपि तु, पुण्य हो जाता है । तू सर्वथा निर्लेप बच जाता है । इस लोक-संग्रह की दृष्टि से भी न तो तुझे कर्म्म का परित्याग करना चाहिए एवं न अनुशोक ही करना चाहिए ।

गीता का प्रकृत प्रकरण उस सांख्यनिष्ठा के लिए, जिसमें कि कर्म्मत्याग का वृथा अभिमान किया गया है, बडी जटिल समस्या हैं । गीताभक्तों के लिए यह प्रसन्नता की बात है कि प्रायः सभी व्याख्याताओं ने इस प्रकरण की व्याख्या में अपने सौहार्द का पूरा परिचय दिया है । यद्यपि एक व्याख्याता ने जैसे तैसे लीपा-पोती करके कर्म्मसंन्यासलक्षण सांख्यनिष्ठा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है, परन्तु उनका यह प्रयास स्वयं गीता के अक्षरों से, साथ ही में उन्हीं के आराध्य इतर व्याख्याताओं

की व्याख्या से सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। भगवान् शङ्कराचार्य कर्म्मत्याग के प्रधान पक्षपाती हैं। परन्तु इन्होंने भी इस प्रकरण में अपने सिद्धान्त का तिरस्कार करते हुए कर्म्मप्रवृत्ति को आवश्यक माना है, जैसा कि निम्नलिखित व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। "यदि तुम समझते हो कि जनकादि ने ज्ञान के अभाव से कर्म्म किया है, ऐसी स्थिति में सम्यग्दर्शन (ज्ञान) प्राप्त करने वाले कृतार्थज्ञानी को कर्म्म नहीं करना चाहिए तो इस सम्बन्ध में हम तुम्हें यही कहेंगे कि ज्ञानोदय से संचित-आगामी कर्म्म अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परन्तु प्रारब्ध कर्म्मों का क्षय बिना भोग के नहीं हो सकता। जब तुम्हें (ज्ञानी को) भी प्रारब्ध कर्म्म में प्रवृत्त रहना ही पड़ेगा तो तुम्हें ऐसी अवस्था में लोक को उत्पथ मार्ग से बचाने के लिए अवश्य ही कर्म्म करना चाहिए।"

इस प्रकार व्याख्याता ने प्रारब्ध कर्म्म को आगे करते हुए ज्ञानी को भी कर्म्म मार्ग में प्रवृत्त रहने की आवश्यकता सूचित की है। क्या ही अच्छा होता, यदि व्याख्याता थोड़ी सी उदारता और दिखलाते हुए, प्रारब्धकर्म्म के अन्तराय को हटाते हुए, विशुद्धदृष्टि से उक्त प्रकरण को कर्म्ममार्गपरक मान लेते। व्याख्याता को यह विदित है कि भगवान् कृष्ण आधिकारिक जीव हैं। इनका प्रादुर्भाव प्रारब्धकर्म्मवश नहीं हुआ है। ईश्वरावतार भगवान् कर्म्म में प्रवृत्त हैं। साथ ही में इन में प्रारब्धकर्म्म का अभाव है। अपने दृष्टान्त से भगवान् यही बतला रहे हैं कि कर्म्म करना आत्मा का स्वभाव है। प्रारब्धकर्म्म के क्षय होने पर भी कर्म्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। स्वयं व्याख्याता ने–"**ममेश्वरस्याननुरूपमापद्येत। यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिः आत्मविदन्यो वा तस्याप्यात्मनः कर्त्तव्याभावेऽपि परानुग्रह एव कर्त्तव्यः–इति**"–इत्यादि रूप से यह बात स्वीकार की है कि जिस प्रकार ईश्वर के लिए कोई कर्त्तव्यकर्म्म शेष नहीं है, फिर भी वह लोकानुग्रह के लिए सततकर्म्म में प्रवृत्त रहता है एवमेव तू, अथवा और आत्मज्ञानी जिन्होंने ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करली है, यद्यपि उनके लिए–"**तस्य कार्यं न विद्यते**" इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार कोई कर्त्तव्य कर्म्म शेष नहीं है, तथापि ईश्वरवत् उन्हें परानुग्रह के लिए ही कर्म्म करना चाहिए। इस प्रकार व्याख्याता ने खुले दिल से कर्म्मनिष्ठा का ज्ञाननिष्ठा में सर्वात्मना समावेश करते हुए भगवान् के–**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**"–इस सिद्धान्त का हृदय से अभिनन्दन करते दिखलाई दे रहे हैं। मधुसूदन स्वामी को यह सह्य नहीं है कि संन्यासनिष्ठा में कर्म्म का समावेश मान लिया जाए, अतएव उन्होंने प्रकृत प्रकरण का निम्नलिखित रूप से समन्वय करते हुए कर्म्मत्याग की अशास्त्रीय भावना को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है। वे कहते हैं—

"आत्मस्वरूप जानने की इच्छा रखने वाले के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अनुष्ठान के लिए सर्वकर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में न केवल ज्ञानी का ही, अपि तु ज्ञानेच्छु विरक्त का भी कर्म्म में अनधिकार ही है। अर्थात् ज्ञानी के लिए (कृतात्मा-आत्मवित् के लिए) तो सर्वकर्म्मों का ऐकान्तिक परित्याग आवश्यक है ही, परन्तु जो इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है, उसे भी कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। (इसी अभिप्राय को लक्ष्य बना कर अर्जुन कहता है कि) ऐसी दशा में ज्ञानेच्छु मुमुक्षु विरक्त के लिए भी सारे कर्म्म हेय ही हैं" अर्जुन की इस आशङ्का को, भगवान् "क्षत्रिय को कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का अधिकार नहीं है"–इस हेतु को आगे रखते हुए, निवृत्त करते

हैं। जनक अजातशत्रु आदि–श्रुति[1] स्मृतिपुराणप्रसिद्ध विद्वान् क्षत्रियों ने कर्म्म से ही सिद्धि प्राप्त की है, न कि कर्म्मत्याग से। चूँकि तू भी क्षत्रिय है, अतः मुझे भी (चाहे तू विविदिषु हो, अथवा विद्वान् हो दोनों अवस्थाओं में कर्म्म ही करना चाहिए। **"ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च- व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति"**–संन्यास-विधायक इस वाक्य में ब्राह्मण की ही विवक्षा की गई है।– **"स्वाराज्यकामो राजा राजसूयेन यजेत"**–में क्षत्रिय को कर्म्म का आदेश दिया है। एवं–**"चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य"**–इत्यादि स्मृति भी क्षत्रिय के लिए कर्म्मत्यागलक्षणसंन्यास का अनधिकार ही बतलाती है। पुराण में भी–**"मुखजानामयं धर्म्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्। बाहुजातोरुजातानां नायं धर्म्मः प्रशस्यते"**–इत्यादिरूप से क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए संन्यास का अनधिकार ही बतलाया है। (इन सब परिस्थितियों का यदि हम विचार करते हैं तो हमें कहना पड़ता है कि) भगवान् ने क्षत्रिय अर्जुन के लिए–**"कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"**–यह ठीक ही कहा है" (मधुसूदन-सरस्वती)।

आगे जा कर भाष्यसम्मत प्रारब्ध कर्म्मवाद को आगे करते हुए मधुसूदन कहते हैं "लोक (मनुष्य) अपने-अपने वर्णाश्रमकर्म्म में प्रतिष्ठित रहें इसलिए साथ ही में जनकादिशिष्टों द्वारा गृहीत कर्म्ममार्ग को लक्ष्य में रखते हुए तुझे अवश्य ही कर्म्म करना चाहिए। तुझे कर्म्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। क्यों कि तू ब्राह्मण नहीं है। भगवान् के इस अभिप्राय को जानने वाले भाष्यकार का यही निर्णय है कि कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को ही है। यद्यपि वार्त्तिककार ने क्षत्रिय एवं वैश्य को भी संन्यास का अधिकार बतलाया है, परन्तु भाष्यस्वारस्य से विरोध होने के कारण वार्त्तिककार का कोई मूल्य नहीं है"।

कैसी विचित्रलीला है! भगवान् का अभिप्राय तो मधुसूदन ने ही समझा है। शायद उन्हें इस अवसर पर–**"काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः"**–**"स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः"** इत्यादि सिद्धान्त याद नहीं रहे होंगे। भला उनसे यह तो पूछिए कि फिर भगवान् ने कर्म्म क्यों किया? क्या भगवान् सामान्य मनुष्य थे ? क्या वर्णविभाग की ग्रन्थि में भगवान् भी बद्ध थे? यदि नहीं तो फिर क्यों उन्होंने लोकमात्र के लिए कर्म्म का आदेश देते हुए स्वयं कर्म्म का अनुष्ठान किया? लोक का अर्थ क्या क्षत्रिय ही होता है ? **"यद्यदाचरति श्रेष्ठः"**–से क्या क्षत्रिय ही अभिप्रेत है? फिर प्रकृत कर्म्मोपदेश को केवलक्षत्रियपरक ही कैसे एवं क्यों मान लिया गया?–यह हमारी समझ में न आया। व्याख्याता ने–**"ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च०"**–इत्यादि वाक्य को आगे रखते हुए जिस संन्यास को केवल ब्राह्मणवर्णपरक मानने का ही अभिमान किया है, व्याख्याता का वह अभिमान भी सर्वथा निरर्थक है। कारण, ब्राह्मणवर्ण सब वर्णों की योनि माना गया है। अतः श्रुति ने द्विजाति के लिए ब्राह्मण ही कह दिया है। जिन स्मार्त्त पुराण-वचनों का व्याख्याता ने उल्लेख किया है, उनका भी कापिल-निष्ठा से सम्बन्ध है, एवं उस कापिलनिष्ठा के भगवान् अन्यतम विरोधी हैं। साथ ही गीता केवल

---

[1] मधुसूदन सरस्वती की दृष्टि में वेदों में राजाओं का इतिहास है। फलतः जो महानुभाव वेदों में इतिहास नहीं मानते, उन्हें मधुसूदन के उक्त वाक्य से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

क्षात्रधर्म्म का ही निरूपण करने के लिए अवतीर्ण नहीं हुई है। अपि तु–**"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं" "स्वे-स्वे कर्म्मण्यभिरतः"**–इत्यादि रूप से भगवान् ने गीताशास्त्र में चारों वर्णों के कर्म्मों का निरूपण किया है। अस्तु, मधुसूदनादि कुछ भी मानते रहें, हमें तो श्री मधुसूदन (भगवान् कृष्ण) के प्रतिनिधि गुरुवर श्री मधुसूदन जी ओझा) का सिद्धान्त ही इस सम्बन्ध में सर्वथा मान्य है।

——१——

२–यद्यदाचरति श्रेष्ठः०

महापुरुषों के द्वारा लोकसंग्रह कैसे सुरक्षित रहता है? एवं इनके कर्म्मपरित्याग से लोकसंग्रह क्यों बिगड़ जाता है? दूसरा श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है। जिन श्रेष्ठ पुरुषों के हाथ में समाज की बागडोर रहती है, समाज के अभ्युत्थान एवं पतन दोनों के जिम्मेवार ये ही श्रेष्ठ नेता बनते हैं। सामान्य जनता दुर्बोधशास्त्रज्ञान से वञ्चित रहती है। सभी शिक्षित नहीं होते। साथ ही में सभी के शास्त्रोपासक बनने से संसार का काम भी नहीं चलता। **"सभी पालकी में चढने वाले हो जायँ, तो-पालकी कौन उठावे"**–किंवदन्ती प्रसिद्ध है। ऐसी दशा में सामान्य जनता के लिए समाज के अभिभावक श्रेष्ठ पुरुष ही शास्त्रस्थानीय बनते हैं। इनका आचरण, व्यवहार, कर्म्मप्रवृत्ति, रहन-सहन आदि ही जनता के लिए शिक्षापत्र हैं। ये श्रेष्ठ पुरुष अपने जीवन को जिस पद्धति पर आरूढ रखते हैं, जनता के लिए शिक्षापत्र है। ये श्रेष्ठ पुरुष अपने जीवन को जिस पद्धति पर आरूढ रखते हैं, जनता उसी पद्धति का अनुसरण करती है। ऐसी दशा में यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म्माचरण छोड देंगे तो तदनुगामिनी जनता भी कर्त्तव्यकर्म्म का तिरस्कार कर बैठेगी। फलतः लोकसंग्रह उच्छिन्न हो जायगा। महापुरुषों के जीवनचरित्र ही सामान्य जनता के आदर्श बनते हैं। सिद्धान्त तो बडा सुन्दर है, परन्तु इसके अनुगमन में वडी सावधानी की आवश्यकता है। कभी-कभी इस सिद्धान्त से हम उलझन में भी पड़ जाते हैं। इसी उलझन को सुलझाने के लिए आगे जा कर भगवान् को–**"स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते"**–यह कहना पड़ा है।

उक्त उलझन को सुलझाने के लिए हमें थोड़ी देर के लिए श्रीमद्भागवतोक्त–**"रास-रहस्य"**–का अनुगमन करना पड़ेगा। महामुनि शुकदेव परीक्षित् को जब रासलीलामृत पान करा चुके तो परीक्षित् से न रहा गया। उसके मुख से निम्नलिखित उद्गार निकल पड़े—

संस्थापनाय धर्म्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥१॥[1]

स कथं धर्म्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२॥[2]

१ भागवत पु० १०।३३।२७।   २ भागवत पु० १०।३३।२८।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥३॥[1]

परीक्षित् की जिज्ञासा का अभिप्राय यही था कि भगवान् कृष्ण का अवतार धर्म्मसंस्थापन एवं अधर्म्मविनाश के लिए हुआ है । जिस ईश्वरावतार ने लोकसंग्रह को सुव्यवस्थित करने के लिए अवतार लिया, उसने एकान्त में रात्रि के समय दूसरों की स्त्रियों के साथ विहार किया, यह बात खटकती है । **"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"**–का आदेश देने वाले आप्तकाम यदुपति की इस रासक्रीडा से जनसाधारण पर कैसा प्रभाव होगा, यह विचारणीय है । लोग कहेंगे कि जब हमें शिक्षा देने वाले स्वयं अवतार पुरुष ने परदाराभिमर्शन किया है तो हम ऐसा करने में क्यों अनुचितभाव का अनुभव परीक्षित् के उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिए शुकमुनि कहते हैं—

धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥१॥[2]

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥२॥[3]

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३॥[4]

कुशलाचरिते नैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥४॥[5]

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥५॥[6]

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥६॥[7]

---

१ भागवत पु० १०।३३।२९ । २ भागवत पु० १०।३३।३० । ३ भागवत पु० १०।३३।३१ ।
४ भागवत पु० १०।३३।३२ । ५ भागवत पु० १०।३३।३३ । ६ भागवत पु० १०।३३।३४ ।
७ भागवत पु० १०।३३।३७ ।

उत्तर का अभिप्राय यही है कि समर्थ पुरुषों में धर्म्म का विपर्यय देखा गया है एवं वे साहस-युक्त देखे गए हैं। तेजस्वी पुरुषों के लिए यह धर्म्म-विपर्यय कभी दोष का कारण नहीं बनता। उदाहरण के लिए अग्नि को ही लीजिए। अग्नि हमारे आराध्यदेवता हैं। साथ ही में सर्वभुक् भी है। अच्छा-बुरा-सड़ा-गला-जो कुछ अग्नि में डाल दिया जाएगा, अग्नि उसे भस्मसात् कर डालेगा। न अग्नि का बुरे पदार्थों के संस्कारों से कोई सम्बन्ध रहेगा, न अच्छे पदार्थ उसे लिप्त करेंगे। यही नहीं, दोष यहाँ आ कर भस्मसात् हो जाएँगे। सूर्य्य-प्रकाश का अनुग्रह जैसे एक उत्तम पदार्थ पर होता है एवमेव उसका विष्ठा पर भी समान अनुग्रह है। सूर्य्य कभी इस दोष से युक्त नहीं होता, अपि तु, दोष को जला और डालता है। यदि कोई मूर्ख मनुष्य–"जिन देवताओं से हमारी अध्यात्म-संस्था का निर्म्माण हो रहा है, जो प्राकृतिक देवता हमारे हृदय में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित होकर हमें स्वकर्म्म में प्रवृत्त रखते हुए लोक-संग्रह के रक्षक बन रहे हैं, अग्निसूर्य्यादि वे श्रेष्ठ देवता जब सब कुछ खा सकते हैं, खा रहे हैं, सब के साथ स्पर्श कर सकते हैं, कर रहे हैं"–यह हेतुवाद आगे रखता हुआ यदि अभक्ष्याभक्ष्य करने लगता है, अस्पृश्यों का स्पर्श करने लगता है तो वह मूर्ख तत्क्षण नष्ट हो जाता है। भगवान् राम के लिए शबरी के जूंठे बेर अवश्य ही दोष के कारण नहीं हैं। भगवान् कृष्ण अवश्य ही चेताचमार के घर भोजन कर सकते हैं। परन्तु भगवान् के देखे-देखी अल्पशक्तिमान् अपरिपक्वव्यक्ति-**"यद्यदाचरति०"** सिद्धान्त के मर्म्म को न समझता हुआ यदि ऐसा कर बैठेगा तो अभ्युदय के स्थान में वह अपना नाश करा बैठेगा। भगवान् शङ्कर हमारे आदर्श देवता हैं। देवता ही नहीं महादेव हैं। उन्होंने समुद्रमन्थनावसर पर लोक को विषाग्नि से बचाने के लिए विषपान किया था।

"हमारे महापुरुष ने चूंकि विषपान किया था, इसलिए उन्हीं के आचरण का अनुगमन करते हुए हमें भी विषपान कर लेना चाहिए"–**"यद्यदाचरति"** का यही तात्पर्य्य समझते हुए यदि कोई मूर्ख विषपान कर लेगा तो क्या फल होगा? ऐसी दिशा में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जब तक हमारे आत्मा में ईश्वरीयभाव का उदय नहीं हुआ है, तब तक भूल कर भी ईश्वर-पुरुषों के (समर्थ पुरुषों के) सम्बन्ध में–**"यद्यदाचरति०"** आदेश का समावेश नहीं करना चाहिए। महापुरुषों का आदेश ही हमारे लिए आचरण है। उनका आचरण कहीं-कहीं ही हमारे कल्याण का कारण बनता है। महापुरुष जैसा कहें, वैसा करना चाहिए–**सत्य-अहिंसा-अस्तेय-आस्तिक्य-वेदस्वाध्याय** आदि सामान्य आचरणों को छोडकर उनके लोकोत्तर जो विशेष आचरण हैं, भूल कर भी उनका अनुगमन नहीं करना चाहिए। सामान्य प्रजा सामान्य आचरण का अनुगमन कर सकती है, विशेष आचरणों का नहीं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वरपुरुषों में जो कभी-कभी धर्म्म-व्यतिक्रम देखा जाता है, उसमें कुछ न कुछ रहस्य ही छिपा रहता है। अवश्य ही लोकसंग्रह के लिए उन्हें धर्म्मव्यतिक्रम करना पड़ता है।

लोक समानप्रकृतिक नहीं है। किसी की सात्त्विक प्रकृति है, किसी की सात्त्विक राजस, किसी की राजस-तामस, किसी की तामस प्रकृति है। सब के लिए एक ही विधान लोकसंग्राहक नहीं माना जा सकता। भगवान् किसी व्यक्तिविशेष के कल्याण के लिए अवतीर्ण नहीं हुए। अपि तु, उन्हें विद्वान्-मूर्ख-बालक-स्त्री आदि सबका कल्याण अभीष्ट था। अपने इस उद्देश्य में भगवान् का कृष्ण–अवतार जैसा

सफल हुआ है, वैसी सफलता अन्य अवतारों में उपलब्ध नहीं होती, जैसाकि–"**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**" इत्यादि आप्तवचन से स्पष्ट है। अपने गीताज्ञान से जहाँ भगवान् ने उत्तमाधिकारियों का समुद्धार किया है, वहाँ गीताज्ञानानधिकारी बालकों का गोपलीला से, स्त्रियों का रासलीला से, शस्त्रबल प्रयोग द्वारा कंसादि आसुर प्रकृतियों का उद्धार किया है। एक ही भगवान् ने नाना लोकभेद से नाना धर्म्मों का आश्रय लिया है। यही ईश्वर की ईश्वरता है। १६ सहस्र स्त्रियों के साथ, उतने ही रूप बनाकर १२-१३ वर्ष की अवस्था में कामदमन करते हुए कृष्णाचरण का यदि आप अनुगमन करने लगेंगे तो हम आप ही को साक्षात् भगवान् कृष्ण मान लेंगे एवं उस अवस्था में आपका यह धर्म्मव्यक्तिक्रम हमारी दृष्टि में अवश्य ही लोकसंग्राहक बन जाएगा। जिस हेतु को आप अवतारपुरुष में दोषावह समझते हैं, वही हेतु हमारी दृष्टि में अवतार का समर्थक है। शक्ति रहते हुए लोकसंग्रह-बुद्धि से यदि धर्म्म व्यक्तिक्रम कर दिया जाता है तो वह भी आदरणीय बन जाता है। "**यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं, नाचरणीयम्**" सिद्धान्त का भी यही रहस्य है। आप पूछेंगे कि क्या सिवाय एकान्त में रासविहार के, स्त्रियों के समुद्धार का और कोई उपाय न था?–इस प्रश्न का समाधान आचार्यरहस्य नामक द्वितीय खण्ड के **वैहायसकृष्ण-रहस्य** नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

कितने ही वीतराग महापुरुष ऐसे देखे गए हैं, जिन्हें अपने शरीर की ही सुधबुध नहीं रहती। कोई उन्हें कुछ भी खिला जाए, उन्हें इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। कभी गाली देने लगते हैं, कभी हंसने लगते हैं, कभी रोने लगते हैं। क्या आप इन्हें श्रेष्ठ पुरुष नहीं मानते? यदि हाँ, तो आप भी क्या ऐसा आचरण करने के लिए तय्यार हैं? कभी नहीं। ऐसे महापुरुषों की तो वाणी का आचरण ही हमारे कल्याण का कारण बनता है। उस उच्च भूमिका पर पहुँचे हुए महापुरुषों के चरित्र की मीमांसा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। वे कब किस प्रयोजन के लिए क्या कर बैंठते हैं–इसका अनुमान भी नहीं लगा सकते, आचरण की तो कथा ही दूर है। उनका तो आदेश ही हमारे आचरण की सामग्री है।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। देहेन्द्रियादिधर्म्मों से समाकुलित मनुष्य कभी कोई त्रुटि न करें, यह कथमपि सम्भव नहीं है। वेद ने तो एक स्थान पर मनुष्य को असत्यसंहित ही कह डाला है। "**यततो ह्यपि कौन्तेय०**"–इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार बहुत सावधानी रखने पर भी मनुष्य कभी-कभी भारी अपराध कर बैंठता है। गलती किससे नहीं होती? इस सम्बन्ध में संस्कृत-साहित्य में एक सूक्ति प्रसिद्ध है—

ख्यातः शक्रो भगाङ्को विधुरपि मलिनो माधवो गोपजातो।
वेश्यापुत्रो वसिष्ठः सरुजपदयमः सर्वभक्षी हुताशः॥

व्यासो मत्स्योदरीजः सलवण उदधिः पाण्डवा जारजाताः ।
रुद्रः प्रेतास्थिधारी त्रिभुवनवसतां कस्य दोषो न जातः ।।

मानवस्वभावसुलभ अपराधों को लेकर उस व्यक्ति के गुणों का आदर न करना बडी कृतघ्नता है । यदि इसी प्रकार दोषदृष्टि को आप आगे रक्खेंगे तो लोकसंग्रह की कथमपि रक्षा न कर सकेंगे ? स्वयं वेद ने हमें यह आदेश दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति में दुश्चरित-सुचरित दोनों रहते हैं । हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके दुश्चरित की ओर से सर्वथा उदासीन बन कर सुचरित का ही अनुसरण करें–"**यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि,**"[1] बडे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज भारतवर्ष लोकसंग्रहमूलक उक्त श्रौत आदेश की उपेक्षा कर परस्पर की सद्भावना से सर्वथा वञ्चित होता हुआ अपना सर्वनाश करा बैठा है । पूर्वभारत में हमारा समाज भयानक दोषों के रहने पर भी उस व्यक्ति से असहयोग नहीं करता था, अपि तु, समाज उसके गुणों को अपनाता था । परन्तु वर्त्तमान भारत ! बस, न पूछिए । एक व्यक्ति निःस्वार्थभाव से आपके समाज की सेवा करता है । दुर्भाग्य से यदि वह कोई भूल कर बैठता है तो समाज उसकी सारी कृतज्ञताओं पर पानी फेरता हुआ उसकी सद्गुणविभूति से वञ्चित हो जाता है । छिद्रान्वेषण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के पतन में ही पूर्ण बल लगा रहा है । अमुक नेता ने देश की बडी सेवा की । तत्काल दिल जले बोल पड़ते हैं–अजी ! रहने भी दो । हम उन्हें एवं उनकी सात पुश्तों को अच्छी तरह जानते हैं । कल तो वे शराब पीते थे, वेश्यागमन करते थे, आज वे ही स्वार्थसाधन के लिए हमारे नेता बन बैठे हैं । मानो एक बिगड़े हुए मनुष्य का जीवन में सुधार कर लेना इन भले मानसों की दृष्टि में एक बहुत बडा अपराध है । अमुक ने कांग्रेस के नाम से इतना खा लिया । पहले तो इन बातों में कुछ सार ही नहीं है । थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि देशसेवा करते हुए उन्होंने कुछ खा भी लिया तो कौनसा अपराध किया ? जो व्यक्ति घर बैठे मुफ्त का खा रहे हैं, उनसे तो यह खाना महापुण्य ही कहा जाएगा । हमारे वक्तव्य का निष्कर्ष यही है कि हमें लोकसंग्रहरूप उदात्तफल को लक्ष्य में रखते हुए उन श्रेष्ठ पुरुषों के वैयक्तिक दोषों की ओर से उदासीन बन कर उनके जो सद्गुण हैं, उन्हीं का आचरण करना चाहिए एवं हमारे भले के लिए वे जो आदेश दें, उनका अनुगमन करना चाहिए । व्यक्ति-कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र एवं विश्व का इसी में कल्याण है ।

ऐसी स्थिति में "**यद्यदाचरति**"–इस वाक्य का हमें यह अर्थ करना पड़ेगा कि श्रेष्ठपुरुष जिन सद्गुणों का आचरण करते हैं, साधारण जनता उन्हीं का अनुगमन करती है (करना चाहिए) । इस वाक्य से पूर्वोक्त उलझन पूरी तरह न सुलझी थी, इसीलिए भगवान् को आगे जा कर "**स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते**"–यह कहना पड़ा है । 'प्रमाणं' से भगवान् का अभिप्राय यही है कि श्रेष्ठपुरुष जिसे सत्यमार्ग कहते हैं, उस पर हमारा विशेष लक्ष्य रहना चाहिए । वे बुरा करते हैं, इसलिए हम भी बुरा करने लगें, यह अनुचित है । सत्पुरुष ज्ञान की उच्च भूमिका में पहुँचे बाद कर्म्म न करें, तब भी

---

१ तैत्तिरीयोप० १।११।२ ।

उनकी कोई हानि नहीं है। परन्तु इससे लोकसंग्रह बिगड़ने का भय है। संसार यह समझ बैठेगा कि कर्म्ममार्ग बुरा है। परिणाम इसका यह होगा कि ज्ञानोदय के लिए जो कर्म्म अपेक्षित है, उससे भी पराङ्मुख बनती हुई प्रजा अपना नाश करा बैठेगी। इसलिए लोकसंग्रहात्मक लोकशिक्षा की दृष्टि से भी तुझे कर्म्म नहीं छोडना चाहिए।

——२——

३—न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यम्—

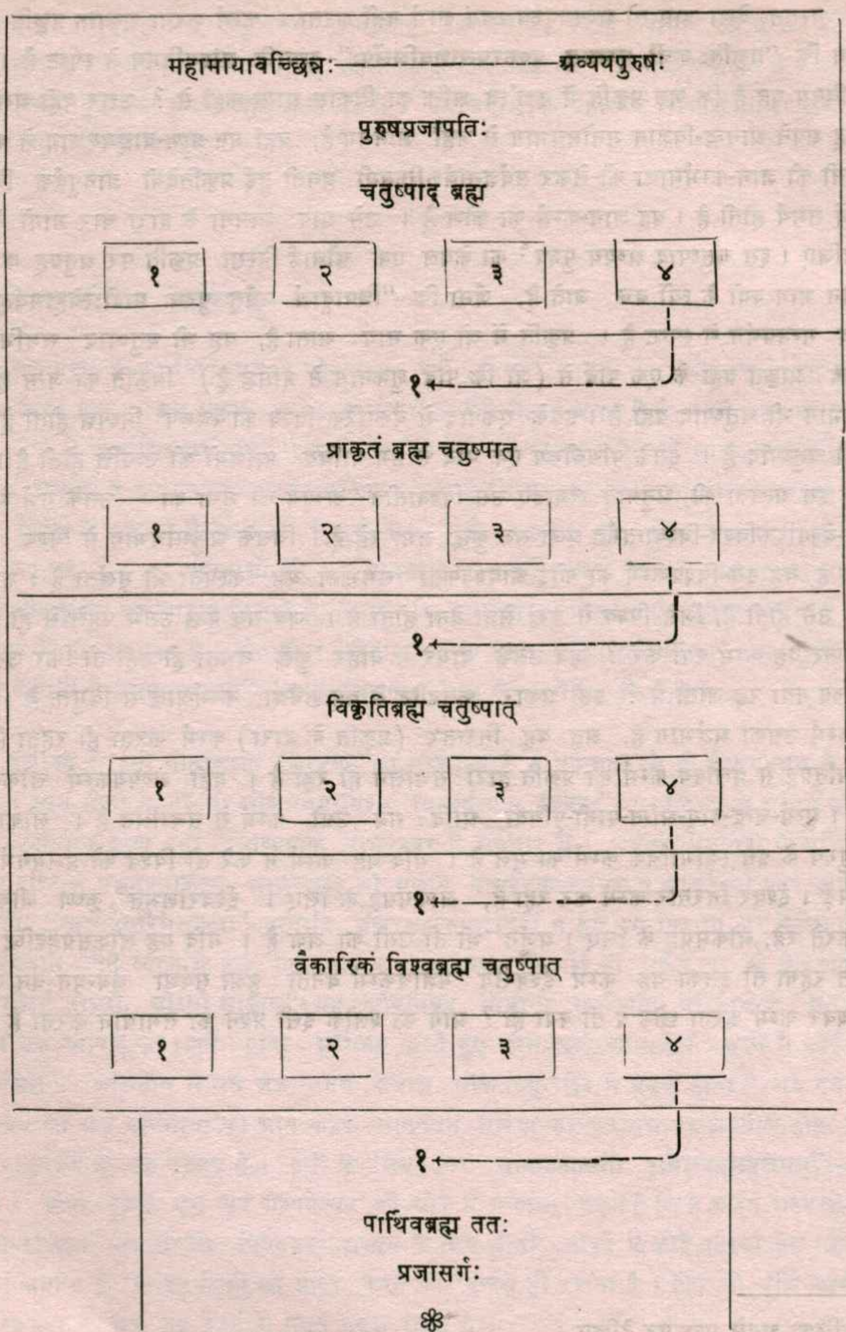
श्रेष्ठ पुरुष के कर्म्मपरित्याग से लोकसंग्रह क्यों बिगड़ जाएगा? पूर्वश्लोक से इस प्रश्न का समाधान किया गया। अब प्रकृत श्लोक से लोकसंग्रह कैसे बिगड़ जाता है?— इस प्रश्न का समाधान करते हैं। "**न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यम्**"—इत्यादि श्लोक के अस्मच्छब्द (मैं) को व्याख्याताओं ने वासुदेव कृष्णपरक लगाया है। व्याख्याताओं का अभिप्राय यही है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने आपको दृष्टान्त बना कर अर्जुन से कह रहे हैं कि अर्जुन! मुझे देख। मुझे संसार से कुछ लेना देना नहीं हैं। फिर भी मैं कर्म्म कर रहा हूँ। व्याख्याताओं की इस भावना का हम अभिनन्दन करते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हम उन्हें **गीताकृष्ण** का स्मरण दिलाते हैं, जिसका कि 'आचार्यरहस्यान्तर्गत गीताकृष्ण' रहस्य में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। गीताकृष्ण गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्यविषयरूप **अव्ययपुरुष** ही है। इसी को श्रुतियों ने "**अनुपाख्यतम**" "**अनुपाख्यकृष्ण**" नाम से सम्बोधित किया है।

त्रैलोक्य में इसी गीताकृष्ण (अव्यय) का साम्राज्य है। उपासक इसे ही **ईश्वर** नाम से व्यवहृत करते हैं। स्वयं गीता ने भी—**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**"—इत्यादिरूप से अव्यय को ईश्वर कहा है। भगवान् कृष्ण इसी विश्वव्यापक अव्ययेश्वर के अवतार थे। अवतार-अवतारी से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से प्रकृतश्लोकस्थ अस्मच्छब्द को यद्यपि वासुदेवकृष्णपरक में मानने भी कोई हानि नहीं है, तथापि "**उत्सीदेयुरिमेलोकाः**"—इत्यादि उत्तरश्लोकस्वारस्यों से हमें इस निश्चय पर पहुंचना पड़ता है कि भगवान् अपने व्याज से उस विश्वव्यापक अव्ययेश्वर की ओर ही संकेत कर रहे हैं। भगवान् के लिए—"**योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्**"—यह औपनिषद सिद्धान्त सर्वात्मना चरितार्थ है, अतः वे खुले शब्दों में उस व्यापक का अपने द्वारा अभिनय करते हुए अस्मच्छब्द का प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं समझते। कालदोष से जब जब मानव समाज लोकसंग्रहोच्छेद में प्रवृत्त होता है, तब तब व्यापक ईश्वराव्यय का अंश योगमाया को आगे करके मानवतन धारण कर धरातल पर अवतीर्ण होता है। यह इसका मानुषरूप है, वह पररूप है। इसी के लिए—"**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**"—यह कहा जाता है। अपने द्वारा उस 'पर अव्ययेश्वर' की ओर से भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन अस्मच्छब्दवाच्य महामायावच्छिन्न उस व्यापक विश्वेवर अव्यय के लिए तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं हैं। न उसे कुछ अप्राप्त है, न वह किसी को प्राप्त करने की इच्छा ही रखता है। फिर भी चूंकि कर्म्म करना उसका स्वभाव है, अतः वह कर्म्म में सतत प्रवृत्त रहता है।

वस्तुतः देखा जाए तो अव्ययपुरुष स्वयं कर्म्म नहीं करता । कर्म्म करना अव्यक्त प्रकृति का धर्म्म है, जैसा कि–"**प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः**"–इत्यादि सांख्यनिगम से स्पष्ट है । विचारणीय विषय यह है कि जड़ प्रकृति में कर्त्तृत्व शक्ति का विकास आया कहाँ से ? उत्तर वही अव्यय पुरुष है । वह अपने आनन्द-विज्ञान मनोमयभाग से जहाँ ज्ञानमय है, वहाँ मन-प्राण-वाङ्मयभाग से कर्म्ममूर्त्ति है । उसी की ज्ञान-कर्म्ममात्रा को लेकर सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमयी बनती हुई प्रकृतिदेवी ज्ञानपूर्वक विश्वकर्म्म करने में समर्थ होती है । वह ज्ञान-कर्म्म का कोश है । उसे आप कल्पना के द्वारा चार भागों में विभक्त कर दीजिए । इस चतुष्पाद अव्यय पुरुष[1] का केवल एक चौथाई हिस्सा प्रकृति पर अनुग्रह करता है । शेष तीन भाग ज्यों के त्यों बच जाते है, जैसा कि–"**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**"–इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । प्रकृति में जो एक भाग आता है, वह भी चतुष्पाद समझिए । इस चतुष्पाद प्राकृत ब्रह्म के एक पाद से (जो कि पाद शुक्रनाम से प्रसिद्ध है) विकृति का जन्म होता है । विकृतिभाग भी चतुष्पाद ब्रह्म है । इसके एकपाद से वैकारिक विश्व का स्वरूप निष्पन्न होता है । विश्व ब्रह्म भी चतुष्पाद है । इसके पृथिवीरूप एक पाद से हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति होती है । कल्पना कीजिए इस अल्पता की, अनुमान लगाइए उस विश्वातीत अव्यय की भूमा का । उसके गर्भ में प्रकृति-विकृति-वैकारिकविश्व-विश्वान्तर्गत प्रजा सब कुछ समा रहे हैं । जिसके अणुमात्रभाग से विश्व विकसित हो रहा है, वह इस विश्वकर्म्म की कोई आवश्यकता समझेगा–यह कल्पना भी मूर्खता है । कर्त्तव्य की कामना उसे होती है, जिसे विश्व से कुछ लेना देना होता है । जब सब कुछ उसमें पहले से ही विद्यमान है तो फिर वह कर्म्म क्यों करें ? जब उसके दायरे से बाहर कुछ बचता ही नहीं तो फिर उसके लिए अवाप्तव्य क्या रह जाता है ? इस प्रकार फलदृष्टि से वह सर्वथा कर्म्मजाल से विमुक्त है । फिर भी चूंकि कर्म्म उसका अर्द्धभाग है, अतः वह निरन्तर (प्रकृति के द्वारा) कर्म्म करता ही रहता है । उसी के कर्म्मानुग्रह से त्रैलोक्य कर्म्म का प्रकृति द्वारा संचालन हो रहा है । यही अव्ययकर्म्म लोकसंग्रह का मूल है । सूर्य्य-चन्द्र-वायु-अग्नि-पानी-पृथिवी आदि सब उसी कर्म्म से संचालित हैं । लोकानुग्रह ही अव्ययपुरुष के इस स्वाभाविक कर्म्म का मूल है । यदि वह कर्म्म न करे तो विश्व को प्रलयगर्भ में समा जाना पड़े । ईश्वर निरन्तर कर्म्म कर रहा है, लोकसंग्रह के लिए । ईश्वरांशभूत कृष्ण जीवनपर्य्यन्त कर्म्म करते रहे, लोकसंग्रह के लिए । अर्जुन भी तो उसी का अंश है । यदि यह लोकसंग्रहदृष्टि से कर्म्म में प्रवृत्त रहेगा तो इसका यह कर्म्म ईश्वरीय यज्ञार्थकर्म्म बनता हुआ सर्वथा अबन्धन बन जाएगा । यदि ईश्वर कर्म्म करना छोड दे तो क्या हो ? आगे का श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है ।

---

१ तालिका अगले पृष्ठ पर देखिए ।


महामायावच्छिन्नः——अव्ययपुरुषः
पुरुषप्रजापतिः
चतुष्पाद् ब्रह्म
१ २ ३ ४
१
प्राकृतं ब्रह्म चतुष्पात्
१ २ ३ ४
१
विकृतिब्रह्म चतुष्पात्
१ २ ३ ४
१
वैकारिकं विश्वब्रह्म चतुष्पात्
१ २ ३ ४
१
पार्थिवब्रह्म ततः
प्रजासर्गः

—३—

४–५–यदि ह्यहं न वर्त्तेयं०–उत्सीदेयुरिमे लोकाः—

पहले तो यह किसी प्रकार संभव ही नहीं है कि ज्ञानवत् कर्म्ममूर्त्ति अव्ययात्मा कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त न रहे। यदि अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए अपने बौद्धजगत् में (ख़याली जगत् में) यह कल्पना भी कर ली जाए कि उसने क्षणमात्र के लिए कर्म्म छोड दिया। सिसृक्षा से युक्त सृष्टिकर्म्म का उसने क्षणभर के लिए निरोध कर दिया तो विश्वास कर सम्पूर्ण मनुष्य चूँकि मेरा (अव्ययकर्म्म का) ही अनुगमन करते हैं, इसलिए मेरे कर्म्मस्रोत के अवरुद्ध होते ही क्षणभर में सम्पूर्ण लोक उच्छिन्न हो जाए। जब तक मैं प्रकृति के द्वारा अपने कर्म्मयन्त्र का नियतिरूप से लोक में सञ्चालन करता रहता हूँ, तभी तक तो लोक (विश्व) स्वस्वरूप से सुरक्षित है एवं तभी तक लोक में रहने वाली (जड़-चेतन) प्रजा अपने-अपने नियत कर्म्म में आरूढ है। कर्म्मयन्त्र के शिथिल करते ही लोकनियति शिथिल पड़ जाएगी। लोकनियति के उत्सादन से लोक का उच्छेद हो जाएगा। लोकोच्छेद से प्रजा की नियति बिगड़ जाएगी। प्रजा की नियति का उच्छेद हुआ नहीं कि प्रजा अपने-अपने नियत (आधिकारिक) कर्म्म से च्युत होती हुई उत्पथगमनद्वारा संकरभाव को प्राप्त करती हुई उसी प्रकार अपना सर्वनाश करा लेगी, जैसे कि नारद के अभिशाप से अपनी नियति का स्वरूप बिगाड़ कर उत्पथकर्म्मों द्वारा संकरभाव को प्राप्त होता हुआ यदुवंश परस्पर में ही कट मरा था। इस प्रकार मैं ही परम्परया प्रजानाश का कारण बन जाऊँगा।

ऊपर की पङ्क्तियों से ऐसा भान होता है कि प्रजाविप्लव एवं प्रजानाश का कारण विश्वव्यापक ईश्वर ही है। यदि ऐसा है तो प्रजा के कर्म्मों को दोष देना व्यर्थ है। परमार्थकोटि में तो यही सिद्धान्त सर्वमान्य है, जैसा कि–"**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। परन्तु इस परमार्थसिद्धान्त को उत्तेजना मनुष्यप्रजा के कर्म्मों से ही मिलती है। हमारे ही कर्म्मों से विश्वव्यापक अव्ययात्मा का कर्म्म कुपित होता हुआ हमारे सर्वनाश का प्रवर्त्तक बनता है। पूर्व के चतुर्थ उपदेश में बतलाया गया है कि अणिमा ही महिमा है। अध्यात्म-संस्था में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मलक्षण जीवाव्यय एवं अधिदैवतसंस्था में प्रतिष्ठित ईश्वराव्यय अभिन्न है। हम (कर्म्मात्मा) यदि कर्म्म छोड़ बैठते हैं तो हमारा प्रत्यगात्मा (जीवाव्यय) कुपित होता है। लोक-संग्राहक कर्म्मबल को लेकर ही प्रत्यागात्मा हमें नियत कर्म्म में सुरक्षित रखता है। हम उसे कर्म्म समर्पण करते हैं। इस समर्पण से वह अपने नियत कर्म्म का हमारे (कर्म्मात्मा के) ऊपर अनुग्रह करता है। इस अनुग्रह से लोकस्थ प्रजा स्वस्वकर्म्म-आरूढ रहने में समर्थ बनती हुई लोकस्वरूप को सुरक्षित रखने में समर्थ रहती है। लोकस्वरूपरक्षा से विश्वात्मा अव्यय प्रसन्न रहता है। फलतः प्रजाक्षय का अवसर नहीं आता। ठीक इसके विपरीत यदि हम (कर्म्मात्मा) कर्म्म छोड बैठते हैं तो इस प्रदान (समर्पण) के अभाव से प्रत्यगात्मा का अनुग्रह हट जाता है। उसकी नियति का अतिक्रमण होते ही हम उत्पथ, अनधिकृत कर्म्मों में प्रवृत्त होते हुए संकरभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रजाकर्म्मसांकर्य का प्रभाव लोकसंचालिका प्रकृति पर पड़ता है। प्रकृति के कुपित होते ही प्रकृति से नित्यसम्बद्ध पुरुष कुपित हो जाता है। इसके कोप से प्रकृति अपनी नियति को छोडती हुई अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, अकाल,

महामारी आदि भावों के सहारे प्रजाविप्लव का कारण बनती हुई प्रजा के सर्वनाश का कारण बन जाती है । इस दृष्टि से प्रजाविप्लव का सारा कलङ्क ईश्वर के मत्थे मँढ दिया जाता है । व्यक्तियों का पाप समाज का पाप कहलाने लगता है । जीवात्माओं का अनाचार ईश्वर का कोप कहलाने लगता है। परन्तु इस कोप का मूलकारण प्रजा का ही अनाचार है। व्यक्तियों का पाप ही समाज को कलङ्कित करता है । प्रजा का पाप राजा को वेष्टित करता है । प्रजापाप से पापात्मा बन कर राजा प्रजा के नाश का कारण बन जाता है । इसलिए हमें चाहिए कि हम लोकसंग्रहदृष्टि से नियत कर्म्म में आसक्तिरहित बनते हुए अपने प्रत्यगात्मा का अनुग्रह प्राप्त करें । प्रत्यागात्मा के द्वारा हमें परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होगा । परमात्मा के अनुग्रह से प्रसन्न बनती हुई प्रकृति नियतिद्वारा यथावत् लोकसंचालन करेगी । लोकशान्ति से लोकी सुरक्षित रहेंगे । इस प्रकार केवल लोकसंग्रहभावना से किया हुआ कर्म्म उस तृतीयोपदेशोपात्त विश्वचक्रयज्ञ का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ सर्वथा अबन्धन बन जाएगा ।

——४-५——

६–सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसः—

"लोकसंग्रहदृष्टि से कर्म्म करना अत्यावश्यक है"—यह बात अब तक के प्रकरण से सिद्ध हुई । अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न बच जाता है । यज्ञार्थकर्म्मप्रकरण में जिन अवस्था-ऊर्म्मि आदि सात पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें "कर्म्म" भी एक पाप्मा बतलाया गया है । कर्म्म से ही संस्कार का उदय होता है एवं कर्म्मलेप से ही मुक्त आत्मा बन्धन में आता है । जिस प्रकार रहते हुए सूर्य्य से प्रकाश का प्रसार अनिवार्य है, एवमेव रहता हुआ कर्म्म संस्कार उत्पन्न न करे, यह असंभव है । कर्म्म है तो संस्कारोदय अवश्यंभावी है । संस्कार है तो इनका लेप भी दुर्निवार है । लेप है तो आत्मा की अनुशोकनिवृत्ति भी असंभव है । इस दृष्टि से लोकसंग्राहक कर्म्म हो अथवा यज्ञार्थ कर्म्म, वह कभी अबन्धन नहीं माना जा सकता । जब लोकसंग्रह कर्म्म अबन्धन नहीं है तो भगवान् ने इसमें कैसे अर्जुन को प्रवृत्त किया ? प्रकृत श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है ।

उक्त प्रश्न का सम्यक् समाधान करते हुए कर्म्मरहस्याचार्य श्री कृष्ण ने मनुष्यों को दो भागों में विभक्त किया है । शास्त्र के यथार्थज्ञान से शून्य, अतएव शास्त्रों में **"यथाजात"** नाम से प्रसिद्ध अविद्वान् आसक्तिपूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं । इन आसक्तिभाव-प्रधान मनुष्यों के भी दो दल हैं । एक वर्ग तो ऐसा है कि लोकसंग्रह का जरा भी ध्यान नहीं रखता हुआ केवल स्वार्थसिद्धि के लिए कर्म्म में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त रहता है । अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ये समय-समय पर दूसरों के स्वार्थ में भी विघ्न उपस्थित किया करते हैं । इन्हीं के लिए यज्ञार्थ प्रकरण में–**"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"**–यह कहा गया है । ऐसे नराधमों का तो नाम लेना भी अमङ्गल का आह्वान करना है । कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो अपने स्वार्थ के साथ-साथ आंशिक रूप से लोकसंग्रह का भी ध्यान रखते हैं । परन्तु लोकसंग्रह में भी स्वार्थभावना की ही प्रधानता रहती है । लोकसंग्रहद्वारा यश-प्रतिष्ठा की कामना, स्वार्थसिद्धि में अनुकूलता आदि भावनाएँ जागृत रहती हैं । चूंकि इसमें भी स्वार्थमूला आसक्ति का ही साम्राज्य है, अतः

ऐसे व्यक्ति भी कर्म्मासक्त अविद्वान् ही कहलाएँगे। ये भी कर्म्मसंस्कारलेपबन्धन से न बच सकेंगे। दूसरा वर्ग ऐसा है जो लोकसंग्रह को तो सामने रखता है एवं अन्तरात्मा में सर्वथा अनासक्तिभाव की प्रधानता रखता है। न इसे यश की कामना है, न प्रतिष्ठा की लालसा है, न स्वार्थसिद्धि पर ध्यान है। न लोकसंग्रह में ही आसक्ति है। इसी अनासक्तिभाव के कारण लोकसंग्रहदृष्टया कर्म्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी यह बुद्धियोगी कर्म्मलेप से वियुक्त रहता है। कर्म्म करेगा, संस्कार का भी उदय होगा, परन्तु इनमें यह बद्ध न होगा। लोकसग्राहक कर्म्म संस्कारलेप का कारण नहीं है। लोकसंग्राहक कर्म्म क्या, कोई भी कर्म्म बन्धन का कारण नहीं है। बन्धन का कारण है–संस्कारलेप। इसका कारण है–आसक्ति। आसक्ति छोडते हुए लोकसंग्रहदृष्टि से कर्म्म करता हुआ योगी कभी बन्धन में नहीं आता।

—६—

७-न बुद्धिभेदं जनयेत्०—

लोकसंग्रह को सुरक्षित रखने का क्या उपाय है? प्रकृत श्लोक इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। **"न बुद्धिभेदं जनयेत्"**–इस श्लोक के अर्थ का यदि सामान्यदृष्टि से विचार किया जाता है तो यही तात्पर्य्य विदित होता है कि–**"अज्ञानी मनुष्य स्वश्रद्धा के अनुसार जिन कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं, उन्हें उस श्रद्धा से न हटाना चाहिए। विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपने कर्म्मों में युक्त रहता हुआ अन्य अज्ञ व्यक्तियों को उनके श्रद्धानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त रक्खे"। "यदि ऐसा न किया जाएगा तो लोकवृत्त का उच्छेद हो जाएगा"**– क्या इस अर्थ पर विश्राम कर लिया जाए? तब तो हमें कहना पड़ेगा कि ईश्वर की ओर से हमें मिथ्याश्रद्धा को सुरक्षित रखने का आदेश मिल रहा है। ईश्वर हमें मिथ्या बोलने के लिए प्रोत्साहित कर रहा है।

भारतीय विद्वानों ने इसी अर्थ को प्रधान मानते हुए आज सर्वनाश का उपक्रम कर रक्खा है। हम जानते हैं कि हमारा समाज कर्त्तव्यकर्म्मों से सर्वथा च्युत हो रहा है। फिर भी विद्वान् इस डर से उन कर्म्मों का प्रतीकार नहीं करते कि उनके विरुद्धभाषण से लोकसंग्रह बिगड़ जाएगा। यदि विद्वानों से कहा जाता है कि आप क्यों नहीं इस असत्य प्रवाह को रोकने का प्रयास करते हो तो वे उत्तर में–**"न बुद्धिभेदं जनयेत्"**–इस वाक्य को हमारे सामने रखते हुए हमें चुप कर देते हैं। थोड़ी देर के लिए उक्त भगवदादेश से हमें चुप हो जाना पड़ता है। परन्तु साथ ही में यह चर्वणा होने लगती है कि सत्यधर्म्म-संस्थापक भगवान् ने ऐसी आज्ञा क्यों दी, जिससे मिथ्याज्ञान को बल मिले? सहसा दूसरा विचार उत्पन्न होता है कि भगवान् कभी हमें असत्यमार्ग का अनुगमन करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते। अवश्य ही–**"न बुद्धिभेदं जनयेत्"**–भगवान् के इस आदेश का कोई दूसरा तात्पर्य्य है। हमने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उक्त अभिप्राय को प्रामाणिक मान लिया है।

गीता उपनिषच्छास्त्र है। वेदवत् इसे प्रमाणभूत माना गया है। उधर ईश्वराज्ञाकोशरूप **वेदशास्त्र –सत्यं वद, धर्म्मं चर, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्म्मान्न प्रमदितव्यम्, स वै सत्यमेव वदेत्, आहैव स नखाग्रेभ्य-स्तपति, यः सर्वं सत्यं वदति"**–इत्यादि रूप से बडे आवेश के साथ हमें सत्य एवं सत्यानुगत धर्म्ममार्ग

पर ही आरूढ रहने का आदेश देता है। उस सत्यवेदशास्त्र का अनुगमन करने वाला गीताशास्त्र हमें "तुम अज्ञजनों को उनके भ्रान्तमार्ग से मत हटाओ, उनके असत्यकर्म्म में हाँ में हाँ मिलाते जाओ"–यह आदेश देगा, यह बात किसी भी अवस्था में अन्तरात्मा स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं है। हमें कहना पड़ेगा कि उक्त अर्थ समझने में भारतीय विद्वानों ने बड़ी भूल की है। इस भूल का क्या परिणाम हुआ, क्या परिणाम हो रहा है एवं भविष्य में हमें इस भूल का क्या प्रायश्चित करना पड़ेगा–यह स्पष्ट है। इसी भूल ने हमें सत्यपथ से एकान्ततः वञ्चित कर रक्खा है।

सबसे बड़ा अनिष्ट तो यह हुआ कि उक्त भ्रान्ति से लोकसंग्रहभङ्ग की आशङ्का रखते हुए हमने शास्त्रों का वास्तविक स्वरूप भुला दिया। जिस प्रावाहिक युग में जिस प्रावाहिक व्याख्याता ने जिस प्रावाहिक व्याख्या का स्वरूप हमारे सामने रक्खा, वही हमारे लिए प्रामाणिक बन गया। प्रत्येक व्याख्याता हमारे लिए ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। इसी भ्रान्ति में जनसमाज का बौद्धिक विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया। किसी को स्वतन्त्ररूप से शास्त्रों के विचारपरामर्श का अधिकार ही न रहा। यद्यपि विद्वान् यह भली-भाँति जानते हैं कि उन व्याख्याताओं में भी परस्पर में प्रतिद्वन्द्विता है। किसी की विचारधारा **"समानी व आकूतिः"**–इस वेदादेश का अनुगमन नहीं करती। फिर भी सनातनी जगत् ने कुछ समय से यह अर्गला लगा दी कि विगत शताब्दियों में सायण, माधव, महीधर, शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व आदि कतिपय महानुभावों ने जो कुछ तात्पर्य्य हमारे सामने रख दिया है, वही हमारे लिए प्रमाण है। इनके विरुद्ध हम कुछ नहीं सुनना चाहते। बस, जहाँ आपने स्वतन्त्र बुद्धि का सहारा लेते हुए थोड़ा सा बुद्धिभेद उत्पन्न किया नहीं कि विद्वत्समाज के कोप की दृष्टि आप पर हुई नहीं।

दूसरा अनर्थ हुआ साम्प्रदायिक कलह। साम्प्रदायिक आचार्यों की स्वार्थ-लीला से समाजशक्ति अनेक दलों में विभक्त होती हुई सर्वथा निर्बल बन गई। सब विभिन्न पथों का आश्रय लेने लगे। यही नहीं, परस्पर के विवाद से वह वैदिकधर्म्म कलहनिवृत्ति के स्थान में कलह का बीज बन गया। ऊर्ध्वपुण्ड्र त्रिपुण्ड्र-बिन्दु आदि पर रक्तपात होने लगे। उस समय तो हमारा परिताप चरम सीमा पर पहुँच गया, जब कि गुर्जर प्रान्त के व्यक्तियों के श्रीमुख से यह सुना कि वे–**"कापड़ शिवानी जरुरत छै" "कापड़ शिव वा माटे आप्या छै"**–इत्यादि वाक्यों का प्रयोग इसलिए नहीं करते कि इन वाक्यों में "शिव" का नाम आता है। एक विष्णुभक्त के लिए (वल्लभसम्प्रदायानुयायी को) शिव का नाम लेना भी पाप है। ये सब अनर्थ क्यों हुए? वही लोकसंग्रहभंग की आशङ्का।

तीसरा अनर्थ हुआ व्यक्तिवाद का प्राधान्य। अपने बाहर का बाना सुरक्षित रखने वाले कितने ही व्यक्ति धर्म्म–शास्त्र–राजनीति–समाजसुधार आदि में प्रधान बन बैठे। इस व्यक्तिप्राधान्यवाद से सत्यमार्ग सर्वथा विलुप्त हो गया। जनसाधारण की मनोवृत्तियाँ कैसी हैं, युगधर्म्म के अनुसार जनता किधर जा रही है—इन सब बातों का इन व्यक्तियों की दृष्टि में कोई महत्त्व न रहा। कुछ स्वार्थान्ध व्यक्तियों ने इन प्रधानों की हाँ में हाँ मिलाई। एक स्वतन्त्र दल बन गया। अब क्या मजाल, जो कोई इनके मन्तव्य के विरुद्ध एक अक्षर भी बोल सके। किंवदन्ती के आधार पर सुना है कि जब विद्वानों में

शास्त्रार्थ होता है तो कुछ गुण्डे दोनों ओर लम्बे-लम्बे लठ्ठ लेकर बैठ जाते हैं। यदि कभी दर्शक सत्य का आश्रय लेते हुए शास्त्रार्थी पण्डित को चेतावनी देना चाहते हैं तो तत्काल उस पक्ष के गुण्डे लठ्ठ ऊँचे कर लेते हैं। और "क्या बकते हो, चुप रहो, पण्डित जी ठीक कह रहे हैं"—यह उद्घोष करने लगते हैं। अधिकांश में इसी बल पर पण्डित महानुभाव विजयस्वराज्य का उपभोग करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार सर्वत्र व्यक्तिवाद नृत्य कर रहा है। यदि आपको समाज में कुछ बोलना है तो पहले आपको इन नरराक्षसों की आराधना करनी पड़ेगी। उस पर भी इनके अनुकूल बोलना पड़ेगा। नहीं तो क्या परिणाम होगा? यह परीक्षा कर लीजिए। इसी दलबन्दी के कारण देश में आज स्वेच्छाचारिता फैल रही है। परस्पर का सद्भाव नष्ट हो गया है। सनातनी आर्यसमाजी को देखते ही अग्निश्च-वायुश्च बन जाता है। सुधारक पण्डित का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति धार्म्मिक व्यक्ति का नाम लेने में भी पाप का अनुभव करता है। फलतः देश क्रमशः अवनति के गर्भ में लीन होता जा रहा है। हम उन मठाधीशों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध इसलिए नहीं बोल सकते कि ऐसा करने से बुद्धि-भेद होगा, बुद्धिभेद से लोकसंग्रह बिगड़ेगा। उन नेताओं की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराना, सुधारवादियों की भ्रान्तियों का स्पष्टीकरण करना, व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विरुद्ध बोलना—ये सब बातें लोकसंग्रह ने ही रोक रक्खी हैं। क्या **"न बुद्धिभेदं जनयेत्"** का यही तात्पर्य है? शिव! शिव!! कैसी भ्रान्ति!!! कितना अधःपतन!

ऐसी दशा में फिर यही प्रश्न हमारे सामने आता है कि **"न बुद्धिभेदं"** का क्या अर्थ है? सुनिए! **वर्ण, आश्रम,** जाति, देश, **काल, पात्र,** द्रव्य, **श्रद्धा, युग** के तारतम्य से अधिकारीभेद से वैय्यक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्म्म नियत हैं। इस सम्बन्ध में आरम्भ में ही यह संशोधन कर लेना चाहिए कि यदि राष्ट्र पर कोई आपत्ति हो तो उस आपत्काल में अपने वैय्यक्तिक एवं सामाजिक कर्म्मों की राष्ट्रीय कर्म्मों में आहुति दे देनी चाहिए। समाज में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो गया हो तो राष्ट्र एवं व्यक्तिशक्ति को समाज के लिए समर्पित कर देनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति पर आपत्ति हो तो राष्ट्रीय एवं सामाजिक-दोनों शक्तियों को व्यक्ति की रक्षा का प्रयास करना चाहिए। जब तक तीनों में यह पारस्परिक सहयोग न होगा, तब तक कभी विश्व में शान्ति न हो सकेगी। कारण इसका यही है कि अनन्त व्यक्तियों से समाज का एवं अनेक समाजों से एक राष्ट्र का निर्म्माण हुआ है। राष्ट्र यदि समाज एवं व्यक्तिबल की उपेक्षा कर देगा तो अपना स्वरूप खो बैठेगा। समाज यदि व्यक्ति एवं राष्ट्र रक्षा में अपने कर्म्म का सहयोग न देगा तो वह छिन्न-भिन्न हो जाएगा, एवमेव व्यक्ति यदि समाज एवं राष्ट्र की उपेक्षा कर देगा तो वह भी अपना नाश करा बैठेगा।

धर्म्मविज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना नियत कर्म्म ही उसका धर्म्म है। कर्म्मभेद ही धर्म्मभेद की मूलप्रतिष्ठा है। अखण्ड धर्म्ममूर्त्ति ईश्वरीय धरातल पर प्रतिष्ठित धर्म्मभेद ही सनातन धर्म्म का सबसे बडा महत्त्व है। यही इस धर्म्म की वैज्ञानिकता अतएव सर्वोत्कृष्टता अतएव च सार्वभौमता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म्म का अनुगमन करता हुआ, साथ ही में सबसे सहयोग रखता हुआ ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इन वर्ण-धर्म्मों का क्या स्वरूप है? स्वधर्म्म किसे कहते है? इत्यादि

प्रश्नों का समाधान आगे आने वाले–"**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**"–"**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से होने वाला है। प्रकृत में हमें इस नियतकर्म्मरूप नियतधर्म्म के सम्बन्ध में यही कहना है कि अज्ञानतावश यदि कोई व्यक्ति अपने आधिकारिक कर्म्म की स्तुति एवं अन्य व्यक्तियों के आधिकारिक कर्म्मों की निन्दा करने लगता है तो वह व्यक्ति इस बुद्धिभेद के द्वारा लोकसंग्रह के विनाश का कारण बनता है। उदाहरण के लिए उपासना-काण्ड को ही लीजिए। सर्वहुतयज्ञलक्षण **परमात्मा**, विश्वदानीयज्ञ-लक्षण शरीरस्थ **प्रत्यगात्मा**, लोकयज्ञलक्षण **सूर्य्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, प्रणव, उद्गीथ, ओङ्कार, हिङ्कार,** आदि अवतारलक्षण **रामकृष्णादि**, प्रतिमालक्षण शालग्रामशिला, तत्तद्देवप्रतिमाएँ आदिभेद से उपासना-काण्ड लोकरुचि एवं अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से अनेक भागों में विभक्त है। अपने-अपने उपास्य देवता में अनन्यभाव से संलग्न सभी ठीक रास्ते जा रहे हैं। सीढी दर सीढी सब एक दिन–"**नृणामेको-गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव**"–इस सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यदि कोई परमात्मोपासक इतर उपासकों से उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित होने का अभिमान करता हुआ इतर अपकक्षा के उपासकों की निन्दा करता है तो वह ईश्वराज्ञा का विरोध करता हुआ लोकसंग्रह का विघातक बनता है। अधिकारीभेद से उपासना के सभी प्रकार शास्त्रसम्मत हैं। परमात्मोपासक की निन्दामात्र से यह अवरोपासक परमात्मोपासना के अधिकारी तो बन नहीं सकते। फलतः इस बुद्धिभेद से वे लक्ष्यच्युत और हो जाते हैं। यही अवस्था सम्प्रदायवाद की है। भगवान् शङ्कराभिमत **अद्वैतवाद** भगवान् रामानुजाभिमत **विशिष्टाद्वैतवाद**, भगवान् वल्लभचार्याभिमत **शुद्धाद्वैतवाद**, भगवान् निम्बार्काचार्या-भिमत **द्वैताद्वैतवाद**, भगवान् माध्वाचार्याभिमत **द्वैतवाद** सभी अपने-अपने स्थान में प्रतिष्ठित रहते हुए सर्वथा शास्त्रसिद्ध एवं आदरणीय हैं। अपनी-अपनी साम्प्रदायिकनिष्ठा का अनन्यभाव से अनुगमन करते हुए सभी साम्प्रदायिक ठीक रास्ते चल रहे हैं। एक दूसरे का समादर करते हुए, न केवल समादर करते हुए अपि तु, सहयोग भी देते हुए अपनी निष्ठा में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहना कल्याण का सर्वोत्-कृष्ट मार्ग है। यदि ये परस्पर में एक दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करते हुए बुद्धिभेद उत्पन्न करते हैं तो ये लोकसंग्रह के विघातक बनते है।

आश्रमधर्म्म की दृष्टि से विचार कीजिए। मर्य्यादा के अनुसार हमारा कर्म्मकलाप **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र** भेद से चार वर्णों में एवं आश्रमव्यवस्था के अनुसार **ब्रह्मचर्य–गृहस्थ–वानप्रस्थ–संन्यास** भेद से चार आश्रमों में विभक्त है। अब यदि एक ब्राह्मण अपने आपको सर्वोच्चवर्ण में प्रतिष्ठित रहने वाला समझता हुआ, इस अभिमान से इतर वर्णों को एवं इतर वर्णों के कर्म्मों को नीची दृष्टि से देखता है, उनकी निन्दा करता है, उनसे ग्लानि करता है तो वह इस बुद्धिभेद द्वारा लोकसंग्रह का विघातक बनता हुआ ईश्वराज्ञा का विरोध कर रहा है। इसी प्रकार यदि ज्ञाननिष्ठ अतएव उत्तमाधिकारी एक संन्यासी ज्ञानमार्ग के अभिमान में पड़ कर कर्म्ममार्गानुयायी मध्यमाधिकारी गृहस्थी को नीची दृष्टि से देखता है तो सचमुच वह ईश्वराज्ञा का विरोधी बनता हुआ प्रायश्चित का भागी बन रहा है।

बुद्धिभेद के सम्बन्ध में एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जो व्यक्ति जिस कर्म्म में आरूढ है, यदि अज्ञानतावश वह उस कर्म्म का यथाव्यवस्थित सञ्चालन न कर अवैध विधि से उसमें प्रवृत्त

रहता है, तो भी एक विद्वान् को उसमें सहसा बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। यदि एक विद्वान् उसे यह कह देगा कि तुम ठीक प्रकार से कर्म्म नहीं करते। ऐसे कर्म्म से लाभ तो दूर रहा, उलटा अधःपतन हो जाएगा, तो वह अज्ञ इस बुद्धि से झूंठा-सच्चा जो कुछ करता था, उससे और हाथ धो बैठेगा। इस अवस्था में भी तुम बुद्धिभेद उत्पन्न करा सकते हो। परन्तु कब ! यदि तुम्हारे में इतनी शक्ति है कि तुम उसमें बुद्धिभेद उत्पन्न कर उसे विधिपूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त करा सको, तब। उक्त श्लोक में इस संशोधन की कमी रह जाती है। इसी कमी की पूर्त्ति के लिए आगे के छठे उपदेश में भगवान् को– **"तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्"**–यह कहना पड़ा है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए–एक व्यक्ति शास्त्र पर विश्वास रखता हुआ श्राद्धकर्म्म तो अवश्य करता है, परन्तु अज्ञानतावश अपराह्ण काल में न कर पूर्वाह्ण काल में ही कर बैठता है। पिण्डदान न कर केवल ब्राह्मण-भोजन कराने में ही श्राद्ध की इतिकर्त्तव्यता समाप्त समझ लेता है। अवश्य ही यह व्यक्ति कर्म्म करता हुआ भी उसमें त्रुटि कर रहा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति को सहसा यह कह डालना कि तुम अनर्थ कर रहे हो, तो वह इस रहे सहे कर्म्म से भी वञ्चित हो जाता है। सुधार आवश्यक है, परन्तु लोकसंग्रह की भावना को आगे करते हुए। ऐसा न हो कि तुम्हारे इस सुधार के साथ-साथ कर्म्म का ही सुधार हो जाए। विद्वान् का ऐसी परिस्थिति में यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह उसके कर्म्म में सहयोग देता हुआ उसे बतलाए कि भाई ! तुम श्राद्ध करते हो, बडा अच्छा करते हो। परन्तु देखो ! श्राद्ध का मौलिक रहस्य यह है। तुम अपने कर्म्म में इतना सा सुधार कर लो। इस सहयोग की भावना से विद्वान् बुद्धिभाव को सुरक्षित रखता हुआ ही संशोधन करे। नकल यदि याद रहती है तो अवश्य कभी न कभी असल पर दृष्टि चली जाती है। यदि हम यह भी बुरा, वह भी बुरा कहते हुए इन नकलों को भुलवादेंगे तो मौलिकतत्त्व भी विलीन हो जाएगा। आज यही तो हो रहा है। सत्यज्ञानप्रचार के अभाव से लोग यथाशास्त्र कर्म्म नहीं करते। उधर संशोधक महोदय संशोधन के आवेश में पड़कर मौलिक तत्त्वों का भी संशोधन कर रहे हैं। हमारे जितने त्यौहार हैं, जितने व्रत उपवासादि हैं, जितने धार्मिक कर्म्म हैं, सबमें मौलिकता है। परन्तु अज्ञानवश कितने एक बहिरंग भावों के समावेश से मौलिकता आवृत हो गई है। रूढिवाद प्रधान बन गए हैं। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सुधार के नाते आज हम उस मौलिकता का भी सर्वनाश कर रहे हैं। इस अवसर में भी हमें–**"न बुद्धिभेदं जनयेत्"**–इस आदेश को लक्ष्य बना कर ही आगे बढ़ना चाहिए।

निष्कर्ष यह हुआ कि सनातन धर्म्म के अन्तर्गत स्व-स्व अधिकारसिद्ध उत्तम, मध्यम, प्रथम श्रेणि के जो कर्म्म अधिकारीभेद से विभक्त हैं, उन कर्म्मों में प्रवृत्त तत्तदधिकारी परस्पर में सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की निन्दा से सर्वथा पराङ्मुख रहते हुए अपने-अपने कर्म्म का अनासक्त भाव से लोकसंग्रह-दृष्टचा अनुगमन करते रहें। कोई एक दूसरे के कर्म्म को हेय बतलाते हुए बुद्धिभेद उत्पन्न करने की चेष्टा न करें। प्रकृत श्लोक का यदि यह तात्पर्य माना जाएगा कि कोई कुछ भी करता रहे, कभी उसमें बुद्धिभेद उत्पन्न न करो तो बडे-बडे अनर्थ हमारे सामने आने लगेंगे। एक व्यक्ति स्वधर्म्म का परित्याग कर ईसाई बनता है, बनने दीजिए। एक व्यक्ति मद्यपान करता है, करने दीजिए। क्या बुद्धिभेद पैदा

न करने का यही तात्पर्य है ? ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति मिथ्याश्रद्धा में पड़कर सत्यलक्ष्य से च्युत हो रहा है तो उसे उसी अज्ञानान्धकार में पड़े रहने देना चाहिए। हम तो समझते हैं कि सत्य-श्रद्धा के बल पर उसकी मिथ्याश्रद्धा को दूर करना ईश्वराज्ञा के विरुद्ध नहीं, अपि तु, अनुकूल है।

—–७——

॥ इति पञ्चमोपदेशः ॥

५

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि

६–प्रकृतिसिद्धसहजगुणकर्म्मण्यनासक्तौ कर्त्तृत्वानभिमानादबन्धनत्वात् परित्यागायोग्यत्वम् ।

तृतीयायामुपनिषदि—

षष्ठोपदेशः

६–प्रकृतिसिद्धसहजगुणकर्म्मण्यनासक्तौ—
कर्त्तृत्वानभिमानादबन्धनत्वात् परित्यागायोग्यत्वम् ।

—०—

१–प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। (गीता ३।२७)

२–तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्म्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। (गीता ३।२८)

३–प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। (गीता ३।२९)

४–मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। (गीता ३।३०)

[मूलानुवाद]–"प्रकृति के गुणों से (सत्त्व-रज-तमोगुणों से एवं पञ्चतन्मात्रारूपगुणभूतों से) चारों ओर से कर्म्मों की प्रवृत्ति होती है । अहंकारवश अपने आपको भूला-भूला हुआ कर्म्मात्मा स्वयं कर्त्ता बनने का अभिमान करने लगता है । हे अर्जुन ! गुण-कर्म्म-विभाग के तत्त्व को जानने वाला, गुण (कार्यगुण), गुणों में (कारणगुणों में) रहते हैं–यह समझता हुआ गुणकर्म्मों में आसक्त नहीं होता । प्रकृति के गुणों का विवेक न करने वाले मूढ मनुष्य ही गुणकर्म्मों में आसक्त होते हैं । ऐसे अज्ञों को विद्वान् कर्म्म से विचलित न करें । अनन्यभाव से अन्तःकरण से (सच्चे दिल से) मुझ में सब कर्म्मों को छोडकर आशा ममत्व एवं शोकसंतापरहित होकर युद्ध कर" ।

[भाष्य]–जो व्यक्ति सर्वहुतयज्ञलक्षणा ईश्वर-बुद्धि से कर्म्म करता है, वह उत्तमाधिकारी है । व्यापकयज्ञार्थ कर्म्म करने में असमर्थ रहता हुआ जो व्यक्ति विश्वदानीयज्ञरत हो कर प्रत्यगात्मबुद्धि से कर्म्म करता है, वह मध्यमाधिकारी है । प्रत्यगात्मा के साथ भी जो रति करने में असमर्थ है, वह लोकसंग्रह-

लक्षण लोकयज्ञ की स्थिति लक्ष्य में रख कर कर्म्म करता है, वही प्रथमाधिकारी (तृतीयश्रेणि का अवरकक्षा का) अधिकारी है । पूर्वोक्त तीनों उपदेशों से भगवान् ने अधिकारीभेद से **यज्ञार्थकर्म्म, उपेक्षाकर्म्म, लोकस्थितिनिर्वाहककर्म्म**–इन तीनों कर्म्मों की (असङ्गभाव के कारण) अबन्धनता बतलाते हुए निरूपण किया है ।

जैसा कि पूर्व के उपदेश में शुक-परीक्षित् के संवाद में बतलाया गया है, भगवान् का अवतार लोककल्याण के लिए हुआ है । लोक में सभी तरह के अधिकारी हैं । जब तक भगवान् सब तरह के अधिकारियों को कल्याणपथ नहीं बतला देते, तब तक उनके अवतार की पूर्णता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती । अभी एक अधिकारी वर्ग ऐसा बच जाता है, जो भगवान् के उक्त तीनों उपदेशों में किसी एक के भी अनुगमन में असमर्थ रहता है । उस अधिकारी को हम संसारी कहेंगे । बस, इसी चौथे अधिकारी के कल्याण के लिए ही लोकसंग्राहक भगवान् की ओर से अबन्धनकर्म्मप्रकरण की अपेक्षा चौथा उपदेश एवं उपनिषत्प्रकरण की अपेक्षा छठा उपदेश प्रवृत्त हुआ है ।

कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं, जो अहङ्कारमद में चूर्ण रहते हुए सिवाय अपने स्वार्थ के और किसी भी तरफ दृष्टिपात करना पाप समझते हैं । अधिक से अधिक हुआ तो इनका लोकसंग्रह **स्त्री-अपत्य** पर चरितार्थ रहता है । अपना, अपनी स्त्री का, अपनी सन्तान का पालन-पोषण कर लेना ही इन संसारियों का परम पुरुषार्थ है । अपने कर्म्म से एवं अपनी सम्पत्ति से बन्धुवर्ग, समाज, राष्ट्र का कोई उपकार हो-यह बात इन्हें नहीं सुहाती । क्या ऐसे पापात्मा, अहङ्कारी जीवों का भी कल्याण संभव है ? भगवान् कहते हैं, हाँ । सम्भव है और अवश्य सम्भव है । भले ही ऐसे व्यक्ति अपने ही स्वार्थ के लिए कर्म्म करते रहें । भले ही ये केवल इन्द्रियों के ही दास बने रहें । भले ही ये लोकसंग्रह में अणुमात्र भी सहयोग न दें, फिर भी एक उपाय ऐसा है, जिसे अपना लेने से इन पापात्माओं का भी कल्याण सम्भव है । प्रकृत प्रकरण के प्रथम श्लोक से तो भगवान् ने उन पापात्माओं का स्वरूप बतलाया है एवं शेष तीनों श्लोकों से उनके लिए कल्याणपथ का निदर्शन किया है । कैसे होते हैं, वे पापात्मा ? पहले इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

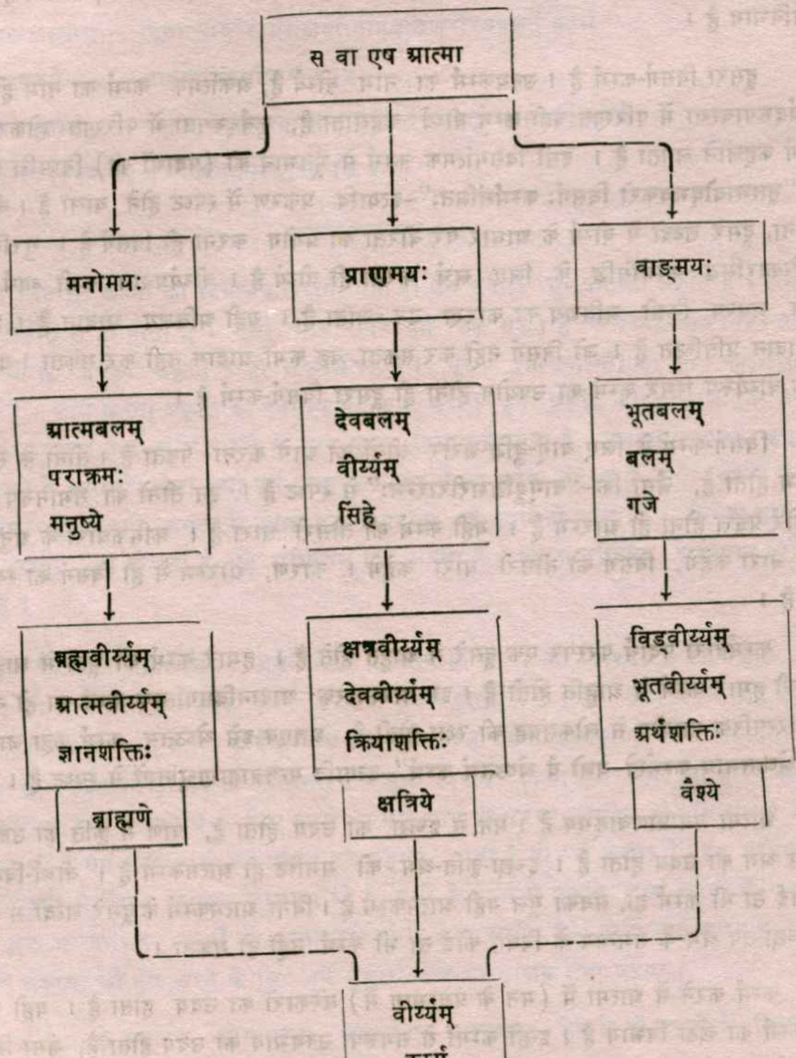
१–प्रकृतेः क्रियमाणानि०—

* **"षट्कर्म्माणि"**–इस अनुगम-सिद्धान्त के अनुसार कर्म्मों को **१–वीर्य्य, २–विसर्ग, ३–आरम्भ, ४–यज्ञ, ५–आत्मार्थकर्म्म, ६–संस्कारकर्म्म** भेद से छः भागों में विभक्त किया जा सकता है । **देवकर्म्म** को ही वीर्य्यकर्म्म कहा जाता है । देवकर्म्म **ब्रह्म-क्षत्र-विट्** भेद से तीन भागों में विभक्त है । ब्रह्मवीर्य्य ब्राह्मणवर्ण की प्रतिष्ठा है, क्षत्रवीर्य्य क्षत्रियवर्ण की प्रतिष्ठा है एवं विड्वीर्य्य वैश्यवर्ण की प्रतिष्ठा है । इन तीनों वीर्य्यों की प्रतिष्ठा शुक्र है । जिसके शुक्र में जैसा वीर्य्य प्रतिष्ठित रहता है, वह तदनुकूल ही

---

* वीर्य्यं, विसर्ग, आरम्भो यज्ञ, आत्मार्थसंस्कृती ।
इत्येतान्येव कर्म्माणि षड्विधानि प्रचक्षते ।।

कर्म्म करता है। "तुख्मतासीर" वाला कर्म्म वीर्य्य कर्म्म से ही सम्बन्ध रखता है। शक्ति का ही नाम वीर्य्य है। ब्रह्म-देव-भूत भेद से यह शक्तितत्त्व तीन भागों में विभक्त है। ब्रह्म आत्मा है। आत्मा की शक्ति ही "**पराक्रम**" नाम से प्रसिद्ध है। यही मनोबल है। देवतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली शक्ति "**वीर्य्य**" कहलाती है। यही प्राणबल किं वा ओज है। भूतसम्बन्धिनी शक्ति "**बल**" नाम से प्रसिद्ध है। यही वाग्बल है। यही शरीरबल है। बल से अधिक शक्ति वीर्य्य में है। वीर्य्य से अधिक शक्ति पराक्रम में है। एक हाथी में बल की प्रधानता है। उसमें शरीरभार इतना है कि यदि वह एक सिंह पर बैठ



जाए तो सिंह का चूर्ण हो जाए। परन्तु चूंकि सिंह में प्राणप्रधान वीर्य्य की प्रधानता है एवं प्राणात्मक वीर्य्य वागात्मक बल की अपेक्षा श्रेष्ठ है, अधिक शक्तिशाली है, अतएव एक सिंह एक हाथी पर अपना प्रभुत्व जमाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्य में पराक्रम है। मनोमय पराक्रम प्राणमय वीर्य्य से भी उत्कृष्ट है, अतएव पराक्रमशाली एक मनुष्य वीर्य्यशाली एक सिंह को भी पञ्जर में बद्ध कर देता है। इस शक्तित्रयी से प्रकृत में यही कहना है कि वीर्य्यनाम की शक्ति का चूंकि प्राण से सम्बन्ध है एवं प्राण ही कर्म्म की प्रतिष्ठा है, अतएव प्राणात्मक वीर्य्य को हम "**कर्म्म**" कहने के लिए तय्यार हैं। यही पहला कर्म्मविभाग है।

दूसरा विसर्ग-कर्म्म है। उक्थकर्म्म का नाम वीर्य्य है, अर्कात्मक कर्म्म का नाम ही विसर्ग है। अकुर्वद्रूपावस्था में परिणत वही कर्म्म वीर्य्य कहलाता है, कुर्वद्रूपता में परिणत होकर वही कर्म्म विसर्ग कहलाने लगता है। इसी विसर्गात्मक कर्म्म से भूतभाव की (पदार्थों की) निष्पत्ति होती है, जैसा कि–"**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः**"–इत्यादि प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। वीर्य्य को काम में लेना, दूसरे शब्दों में वीर्य्य के आधार पर वीरता का प्रयोग करना ही विसर्ग है। सुरक्षित वीर्य्य को स्वाधिकारसिद्ध कर्म्मसिद्धि के लिए खर्च करना ही वीर्य्य है। वीर्य्यप्रदान कभी व्यर्थ नहीं जाता। प्रदान अवश्य किसी अतिशय का कारण बन जाता है। यही अतिशय आदान है। विसर्ग के गर्भ में आदान प्रतिष्ठित है। जो विसर्ग नहीं कर सकता, वह कभी आदान नहीं कर सकता। वक्तव्यांश यही है कि वीर्य्यरूप स्थिर कर्म्म का उपयोग होना ही दूसरा विसर्ग-कर्म्म है।

विसर्ग-कर्म्म के लिए वाग्-बुद्धि-शरीर तीनों को आगे करना पड़ता है। तीनों के समन्वय से ही आरम्भ होता है, जैसा कि–"**वाग्बुद्धिशरीरारम्भः**" से स्पष्ट है। इन तीनों का समानरूप से एक लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना ही आरम्भ है। यही कर्म्म की तीसरी धारा है। क्रमिकधारा के अनुसार इसे हम दूसरी धारा कहेंगे, विसर्ग को तीसरी धारा कहेंगे। कारण, आरम्भ से ही विसर्ग का स्वरूप निष्पन्न होता है।

कर्म्मद्वारा पदार्थ परस्पर एक दूसरे में आहुत होते हैं। हमारे कर्म्म की भूतों में आहुति होती है, भूतों की हमारे कर्म्म में आहुति होती है। इस पारस्परिक आदानविसर्गात्मक कर्म्म का ही नाम यज्ञ है। इस पारस्परिक सहयोग से लोकसंग्रह की रक्षा होती है, अतएव इसे श्रेष्ठतम कर्म्म कहा जाता है, जैसा कि–"**श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे–यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म**"–इत्यादि मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों से स्पष्ट है।

आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। मन से इच्छा का उदय होता है, प्राण से कृति का उदय होता है, वाक् से श्रम का उदय होता है। इच्छा-कृति-श्रम की समष्टि ही आत्मकर्म्म है। वीर्य्य-विसर्ग-आरम्भ-यज्ञ कोई सा भी कर्म्म हो, सबका मूल यही आत्मकर्म्म है। बिना आत्मकर्म्म के दूसरे शब्दों में आत्मावयव-भूत इच्छा-तप-श्रम के समन्वय के बिना, कोई सा भी कर्म्म नहीं हो सकता।

कर्म्म करने से आत्मा में (मन के प्रज्ञाभाग में) संस्कारों का उदय होता है। यही सांस्कारिक-कर्म्म कर्म्म का छठा विभाग है। इन्हीं कर्म्मों से संगरूप उक्थभाव का उदय होता है, जैसा कि–"**सङ्गात् सञ्जायते कामः**"–इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन्हीं सांस्कारिक कर्म्मों से

जाति-आयु-भोग भावों का उदय होता है । जब तक सांस्कारिक कर्म्म हैं, तभी तक इतर पांचों कर्म्म हैं । सांस्कारिक कर्म्मों के उच्छेद से आत्मा शुक्र का अतिक्रमण कर सर्वथा विमुक्त हो जाता है । इस प्रकार कर्म्म के अवान्तर छः विभाग हो जाते हैं—

१–वीर्य्यकर्म्म——ब्रह्मक्षत्रविड्वीर्य्यात्मकं स्थिरकर्म्म

२–विसर्गकर्म्म——वीर्य्याधारेण प्रवृत्तं कालकर्म्म

३–आरम्भकर्म्म——विसर्गकर्म्मारम्भलक्षणं वाग्बुद्धिशरीरसहकृतं कर्म्म

४–यज्ञकर्म्म——आदानविसर्गात्मकं कर्म्म

५–आत्मकर्म्म——मनःप्राणवाङ्मयात्मनः-उत्थितं कामतपःश्रमोमयं कर्म्म

६–संस्कारकर्म्म——कर्म्मजनितसंस्कारात्मकं कर्म्म

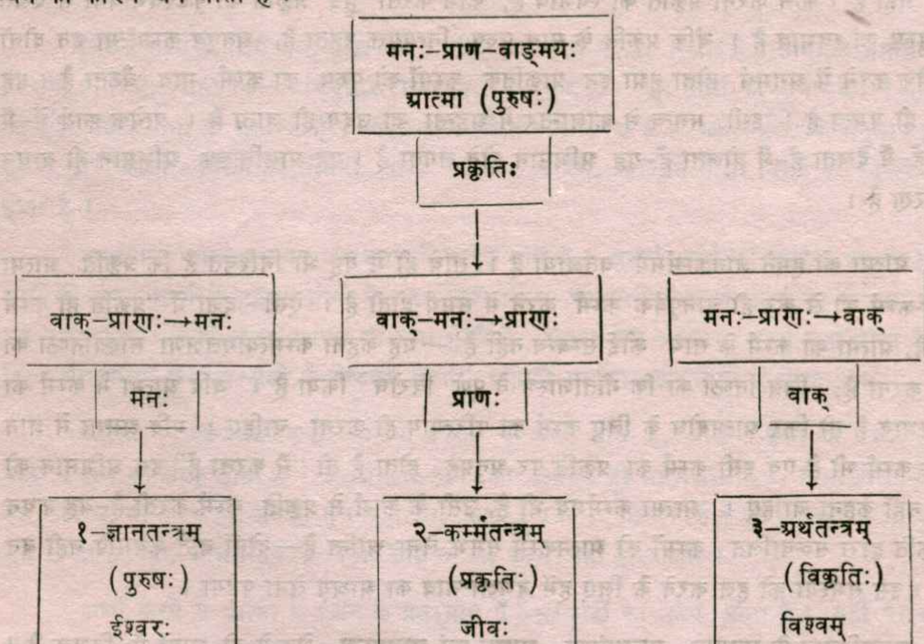
———

ऊपर जिन छः कर्म्मों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन सबकी मूलप्रतिष्ठा प्रकृति है । कर्म्मतन्त्र का संचालन प्रकृति से ही होता है । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वर-जीव-विश्व-सम्बन्धी जितने भी कर्म्म हैं, वे सब प्रकृति से ही सञ्चालित हैं । पुरुष (प्रत्यगात्मा) का इन कर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है । काम करना प्रकृति का स्वभाव है, काम करती हुई प्रकृति का कूटस्थभावना से देखते रहना पुरुष का स्वभाव है । चूंकि प्रकृति के साथ पुरुष नित्ययुक्त रहता है, अतएव कर्म्मात्मा इन दोनों का विवेक करने में असमर्थ होता हुआ इन प्राकृतिक कर्म्मों को पुरुष का कर्म्म मान बैठता है । यह मानना ही ममत्व है । इसी ममत्व से कालान्तर में अहन्ता का उदय हो जाता है । प्रत्येक कार्य में–मैं करता हूँ–मैं देखता हूँ–मैं बोलता हूँ–यह अभिमान होने लगता है । यह आसक्तिरूप अभिमान ही बन्धन का कारण है ।

आत्मा को हमने ज्ञानकर्म्ममय बतलाया है । साथ ही में यह भी निश्चित है कि प्रकृति आत्मा के ज्ञान-कर्म्म को ले कर ही ज्ञानपूर्वक कर्म्म करने में समर्थ होती है । ऐसी दशा में "प्रकृति ही कर्म्म करती है, आत्मा का कर्म्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है"—यह कहना कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा का पोषण करना है, जिस निष्ठा का कि गीताशास्त्र ने पूर्ण विरोध किया है । यदि आत्मा में कर्म्म का अत्यन्ताभाव है तो फिर आत्मबोध के लिए कर्म्म का परित्याग ही करना चाहिए । यदि आत्मा में ज्ञान के साथ कर्म्म भी है एवं इसी कर्म्म का प्रकृति पर अनुग्रह होता है तो "**मै करता हूँ**" इस अभिमान को मिथ्या नहीं कहना चाहिए । आत्मा कर्म्ममय भी है, उसी के कर्म्म से प्रकृति कर्म्म करती है–यह कथन एवं प्रकृति द्वारा सञ्चालित कर्म्मों को आत्मकर्म्म समझ लेना भ्रान्ति है—दोनों बातें कथमपि नहीं बन सकती । इस समस्या को हल करने के लिए हमें **बुभुक्षा-भाव** का आश्रय लेना पड़ेगा ।

आत्मविज्ञान के अनुसार आत्मसंस्था **आत्मा** एवं **आत्मबन्धु** भेद से दो भागों में विभक्त है । आत्मा पुरुष है, आत्मबन्धु प्रकृति है । "**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि**" के अनुसार दोनों शाश्वत

हैं, दोनों का सम्बन्ध भी शाश्वत है। प्रकृतिलक्षण आत्मबन्धु के सम्बन्ध से पुरुषलक्षण आत्मा के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। वे ही तीनों विवर्त्त पूर्व प्रकरणों में **ज्ञान-कर्म्म-अर्थ** नामों से सम्बोधित हुए हैं। तीनों में तीनों प्रतिष्ठित हैं, केवल **गौण-मुख्यभाव** का तारतम्य है। **ज्ञानतन्त्र** में **कर्म्म-अर्थ** गर्भित हैं, कर्म्मतन्त्र में ज्ञान-अर्थ गर्भित हैं एवं अर्थतन्त्र में **ज्ञान-कर्म्म** गर्भित हैं। इसी गौण-मुख्यभाव के कारण एक ही आत्मा के **ईश्वर-जीव-जगत्** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। **अव्ययज्ञान** प्रधान है, यही आत्मतन्त्र है। यही ज्ञानतन्त्र है। यह मनःप्रधान है। यही ईश्वरसंस्था है। अक्षर कर्म्मप्रधान है, यही प्रकृतितन्त्र है। यही कर्म्मतन्त्र है। यह प्राणप्रधान है। यही जीवसंस्था है। क्षर अर्थप्रधान है, यही विकृतितन्त्र है। यही अर्थतन्त्र है। यह वाक्प्रधान है। यही विश्वसंस्था है। जीवसंस्था विश्व एवं ईश्वरसंस्था के मध्य में प्रतिष्ठित है। यदि यह विश्व की ओर ही आसक्त हो जाती है तब इसमें आसक्तिभाव का उदय होता है। विश्व के भौतिक पदार्थों की बुभुक्षा ही इसे बन्धन में डालती है। ईश्वर में सिसृक्षा ही है, मुमुक्षा भी है परन्तु बुभुक्षा नहीं है। अन्न खाने की आसक्ति ही बुभुक्षा है, यही अशनाया है, अशनाया ही पाप्मा है। अशनायारूप इस पाप्मा के आगे जा कर ३० रूप हो जाते हैं, जिनका कि दिग्दर्शन पूर्व के यज्ञार्थकर्म्म-निरूपण में कराया जा चुका है। यही यज्ञपाप्मा है। यज्ञपाप्मा ईश्वर में नहीं है, इसलिए वह कर्म्म करता हुआ भी बन्धन से रहित है। इधर विकृतिरूप विश्वासक्ति से जीव के आत्मलक्षण ध्रुवा में इन यज्ञपाप्माओं का समावेश हो जाता है, अतएव इसका कर्म्म यज्ञार्थमर्य्यादा से वञ्चित होता हुआ बन्धन का कारण बन जाता है।



काम द्वारा नवीन संचय करना **सिसृक्षा** है, संचित वस्तु का आसक्ति द्वारा ग्रहण करना **जिघृक्षा** है एवं संचित वस्तु का परित्याग करना मुमुक्षा है। इन तीनों वृत्तियों में जिघृक्षा वृत्ति ही बन्धन का कारण है। क्योंकि जिघृक्षा के साथ ही बुभुक्षारूपा अशनाया का सम्बन्ध है। ईश्वरात्मा अवश्य ही ज्ञानकर्म्ममय है। वह प्रकृति द्वारा कामना से अवश्य ही कर्म्म करता है, जैसा कि–"**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**"–इत्यादिरूप से आगे स्पष्ट होने वाला है। इधर कर्म्म बिना काम के संभव नहीं है। सुतरां ईश्वर में काम का भी सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। परन्तु आश्चर्य है, काम मूलक कर्म्म में नित्यप्रवृत्त रहता हुआ भी ईश्वर कर्म्मसंस्कारों में लिप्त नहीं होता। क्यों, जिघृक्षामूलक काम का अभाव सिसृक्षामुमुक्षामूलक काम का सञ्चार। काम प्रकृति ही करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ ही में प्रकृति गुणमयी है, यह भी निर्विवाद है। यह सब कुछ होने पर भी प्रकृति (ईश्वरीय प्रकृति) कर्म्म में स्वतन्त्र नहीं है। अपि तु, पुरुष के ज्ञानमयतपोरूप कर्म्म से यह संचालित है। इस पुरुषस्वातन्त्र्य से परतन्त्र बनी हुई प्रकृति पुरुष का भाव (स्व-भाव) बन जाती है। फलतः इसका गुणस्वातन्त्र्य नहीं रहने पाता, अतएव प्रकृति द्वारा होने वाले कर्म्मसंस्कारों के साथ पुरुष बद्ध नहीं होता। पुरुष के ज्ञानमयतप से संचालित पराशक्तिरूपिणी इसी प्रकृति के कर्म्म भाव का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥[1]

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥[2]

पुरुष कर्म्म नहीं करता, नहीं कर सकता। न वह ज्ञाता है, न कर्त्ता है, न करण है। क्यों कि पुरुष ज्ञानमूर्त्ति है, कर्म्ममूर्त्ति है। जिसमें ज्ञानप्रतिष्ठित रहता है, वह ज्ञानव्यापार करता हुआ ज्ञाता कहलाता है। जिसमें कर्म्म प्रतिष्ठित रहता है, वह कर्म्म करता हुआ कर्त्ता कहलाता है। ज्ञानवान् ज्ञाता है, कर्म्मवान् कर्त्ता है। जो स्वयं ज्ञान–कर्म्म है, वह न ज्ञाता है, न कर्त्ता है। प्रकृति पुरुष के ज्ञान से ज्ञानवती बनती है, पुरुष के कर्म्म से कर्म्मवती बनती है। फलतः प्रकृति का ही ज्ञातृत्व एवं कर्म्मकर्तृत्व सिद्ध होता है। जानती है प्रकृति, करती है प्रकृति, इसलिए ज्ञानजनितभावनासंस्कार एवं कर्म्मजनित वासनासंस्कार से पुरुष सर्वथा पृथक् रहता है। ध्यान रहे, वैभव पुरुष का ही है। "**मत्तः परतरं नान्यत्**" के अनुसार उसी पुरुष के ज्ञान-कर्म्म प्रत्यंशों से सब कुछ संचालित है। इस दृष्टि से "**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते**"–यह भी कहा जा सकता है। साथ ही में प्रकृतिद्वारा कर्म्म होता है, "**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**" के अनुसार प्रकृति ही चराचर की अधिष्ठात्री है, इस दृष्टि से निम्नलिखित सिद्धान्त में भी कोई व्याघात नहीं आता—

---

१ मुण्डकोप० १।१।९। २ श्वेता० उप० ६।८।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।[1]

वह स्वज्ञानकर्म्म-प्रदाता बनने से जहाँ कर्त्ता है वहाँ स्वयं तटस्थ रहने से अकर्त्ता भी है। स्वस्वरूप से वह निर्गुण है, प्रकृतिदृष्टि से वह सगुण भी कहा जा सकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि ईश्वरसंस्था में प्रकृति द्वारा कर्म्म का संचालन होता है। पुरुष साक्षीमात्र बना रहता है। "**जो करेगा, वह भरेगा**"–इस लोकसिद्ध किंवदन्ती के अनुसार प्रकृति ही कर्म्म फल भोगेगी, पुरुष सर्वथा निर्लेप बच जाएगा। एक चमत्कार और है। चूंकि ईश्वरीयसंस्था में पुरुष के ज्ञानकर्म्म की प्रधानता रहती है, पुरुष के ज्ञानकर्म्म जिघृक्षा-भाव के अभाव के कारण असंग हैं। ऐसे असंग ज्ञान-कर्म्म के प्रत्यंशों से सञ्चालित प्रकृति भी संस्कारलेप से युक्त नहीं होती। फलतः "**जो करेगा, वह भरेगा**"–इस किंवदन्ती का भी यहाँ कोई मूल्य नहीं रहता। प्रकृति काम अवश्य करती है, ऐसी दशा में न्यायतः इसे कर्म्मफल भोगना चाहिए। परन्तु प्रकृति का कर्म्म अपना कर्म्म नहीं है। न कर्म्म प्रकृति का है, न काम (इच्छा) ही प्रकृति की है। इच्छा बन्धन का कारण है, ऐच्छिक कर्म्म ही आसक्ति को अपने मूल में रखता हुआ बन्धन का कारण बनता है। इच्छा भी उसी पुरुष की, कर्म्म भी उसी का। प्रकृति तो उसकी इच्छा एवं कर्म्म के विकासलक्षण प्रसार का निमित्त मात्र है। एक वधिक का वधकर्म्म राजा का कर्म्म है, कर्म्म करता है वधिक, परन्तु कर्म्म कहलाता है–राजा का। इच्छा भी राजा की ही है। राजा ने उसे जिस अधिकार में परतन्त्र बना डाला है, वह अपने उस आधिकारिक कर्म्म का निमित्तमात्र है। यही कारण है कि वधकर्म्म करता हुआ भी वह निन्दनीय नहीं माना जाता। निरपराधी के वध कर देने पर राजा की निन्दा होती है, न कि वधिक की।

प्रकृति-पुरुष की इस क्रीडा के रहस्य को समझ लेना ही बन्धन-मुक्ति के रहस्य को समझ लेना है। प्रकृति करती है, पुरुष नहीं करता, यह पहला रहस्य है। इस दृष्टि से हम यों कह सकते हैं कि पुरुष निर्लेप है, प्रकृति कर्म्मफल-भोक्त्री है। पुरुष की इच्छा है, प्रकृति का कर्म्म है, यह दूसरा रहस्य है। जिसकी इच्छा है, वह करता नहीं, जो करती है, उसकी इच्छा नहीं। केवल इच्छा भी बन्धन का कारण नहीं, केवल कर्म्म भी बन्धन का कारण नहीं। इच्छा-कर्म्म का समन्वय ही बन्धन का कारण है। प्रकृति तो इसलिए बन्धन से बच जाती है कि वह कर्म्ममात्र करती है, उसकी इच्छा नहीं है। पुरुष इसलिए बन्धन से बच जाता है कि उसकी इच्छामात्र है, कर्म्म नहीं। इस प्रकार ईश्वरीय संस्था में निर्गुणपुरुष एवं गुणमयी प्रकृति दोनों निर्लेप बच जाते हैं। इच्छा भी पुरुष की ही है, कर्म्म भी पुरुष का ही है। "**ज्ञानजन्या भवेदिच्छा**" के अनुसार इच्छा का उदय भी पुरुष से (पुरुष के ज्ञान से) ही होता है एवं कर्म्म का उदय भी पुरुष से ही होता है। न प्रकृति की इच्छा है, न प्रकृति का कर्म्म है। यही तीसरा रहस्य है। इस दृष्टि से अपनी कोई इच्छा एवं अपना कोई कर्म्म न रखती हुई प्रकृति बन्धन में नहीं आती। पुरुष इच्छा एवं कर्म्म का मूलस्तम्भ अवश्य है। परन्तु वह स्वस्वरूप से न इच्छा करता, न कर्म्म

---

१ गीता १३।३१।

करता । उसकी इच्छा एवं कर्म्म का प्रसार प्रकृति के द्वारा ही होता है । प्रकृति इच्छा करती है, प्रकृति ही कर्म्म करती है । इस दृष्टि से पुरुष सर्वथा निर्लेप बच जाता है । इस प्रकार उभयथा बन्धन का अभाव हो जाता है । कर्म्म होता है, कर्म्मफल का सम्बन्ध भी होता है, परन्तु लेप नहीं होता । बस, प्रकृत उपदेश यही रहस्य हमारे सामने रखता है ।

जीवसंस्था में हमने **प्रत्यगात्मा** एवं **शारीरक आत्मा** नाम के दो आत्मविवर्त्त बतलाए हैं। प्रत्यगात्मा ईश्वरीय अंश है, शारीरक आत्मा जीवात्मा है । यही अहं पदार्थ है । शारीरक और प्रत्यगात्मा के बीच में बुद्धिरूपा प्रकृति प्रतिष्ठित है । शारीरक एवं इन्द्रियों के मध्य में मनोमयी विकृति प्रतिष्ठित है । विकृति अर्थप्रधाना है, विषयानुगता है । प्रकृति प्राणप्रधाना है, आत्मानुगता है । प्रत्यगात्मा महानात्मा पर प्रतिष्ठित है । महानात्मा ही वस्तुतः गुणमयी प्रकृति है । परन्तु इसका प्रकृतित्व बुद्धिनाम से प्रसिद्ध विज्ञानात्मा पर निर्भर है, अतएव बुद्धि को प्रकृति मान लिया जाता है । महद्युक्त बुद्धि प्रकृति है, यही तात्पर्य्य है । **"यो बुद्धेः परतस्तु सः"** के अनुसार इस प्रकृति से परे वही प्रत्यगात्मलक्षण निर्गुण द्वन्द्वातीत पुरुष प्रतिष्ठित है । इस प्रकृति का आश्रय लेता हुआ यदि कर्म्मात्मा कर्म्म में प्रवृत्त होता है तो वह लेपभाक् नहीं बनता । कारण, बुद्धिरूपा प्रकृति से संचालित ज्ञान-कर्म्म पूर्वकथनानुसार पुरुष के ज्ञान-कर्म्म हैं । होता क्या है ? सुनिए !

कर्म्मात्मा उस प्रकृतितन्त्र का उल्लंघन करता हुआ विकृतिरूप मन के वश में आकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों में आसक्त हो जाता है । यही इसकी अशनाया है, यही बुभुक्षा है, यही जिघृक्षा है । यही यज्ञपाप्मा है । यही आत्मध्रुवा के स्वरूप को बिगाड़ डालता है । मन की कृपा से विषयासक्तकर्म्मात्मा यह भूल जाता है कि मैं जो कुछ कर्म्म कर रहा हूँ, वस्तुतः यह कर्म्म मेरे नहीं, अपि तु, उस प्रत्यगात्म संश्लिष्ट प्रकृति के हैं । प्रकृति द्वारा मन में इच्छा का उदय होता है । इच्छा द्वारा इन्द्रियाँ तत्तत्कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाती हैं । इस प्रकार उस मूल प्रत्यगात्मपुरुष के ज्ञान-कर्म्म को अपने उदर में रखती हुई प्रकृतिदेवी क्रमशः प्रज्ञान-इन्द्रियों में आती हुई कर्म्मात्मा को कर्म्म करवाया करती है । जिस प्रकार ईश्वरीयसंस्था में सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराड्मूर्त्ति ईश्वर केवल निमित्तमात्र है, एवमेव इस जीवसंस्था में भी प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानरमूर्त्ति जीवात्मा निमित्तमात्र है । प्रकृतिद्वारा संचालित कर्म्मों को यह अपनी इच्छा (मन की इच्छा) के गर्भ में मानता हुआ ममत्व द्वारा अहंत्वभाव से आक्रान्त बन कर बन्धन में आ जाता है ।

विचार करने से हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि हमारे जितने भी ऐन्द्रियक कर्म्म हैं, उनके सम्बन्ध में हमारी (कर्म्मात्मा की) इच्छा का कोई मूल्य नहीं है । आँख-पुरोऽवस्थित दृश्य पर जाती है, प्रत्यक्ष हो ही जाता है । **"हम नहीं देखना चाहते-नहीं देखना चाहते"**-हमारे इस न-न का चक्षुरिन्द्रिय कोई आदर नहीं करती । यही नहीं, जब हम न-न करते हैं तो चक्षु विशेषरूप से उस विषय पर जाती हैं । हम भले ही न-न करते रहें, फिर भी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय पर आ ही जाएगा । जिह्वा पर अन्न रक्खें, फिर स्वाद न आवे, असम्भव । भूख समय पर लग ही जाती है । उसे आप स्वेच्छा से कब तक रोकेंगे । बैठे-बैठे थक जाने पर चलना, चलते-चलते थक जाने पर बैठ जाना, सोना, उठना ये

सब प्राकृतिक कर्म्म ऐसे आवश्यक हैं, जिन्हें आप अपनी इच्छा से नहीं रोक सकते। यदि बल प्रयोग द्वारा इन्हें आप रोकने का प्रयास करेंगे तो रोगी बन जाएँगे। अधिक बलप्रयोग से आत्मा शरीर से उत्क्रान्त हो जाएगा। इस प्रकार जब हम प्रत्यक्ष में यह अनुभव करते हैं कि प्रकृति द्वारा संचालित इन ऐन्द्रियक कर्म्मों में हमारी इच्छा-अनिच्छा का कोई मूल्य नहीं है तो फिर इन्हें अपनी इच्छा से युक्त मान बैठना क्या मूर्खता नहीं है? इस मूर्खता का परिणाम यह होता है कि कर्म्मसंस्कारों का बन्धन कर्म्मात्मा के साथ हो जाता है। हेय (अनभिलषित) विषयों के साथ द्वेष हो जाता है, अभिलषित विषयों के साथ राग हो जाता है। रागद्वेषरूप बन्धन ही हमारे सर्वनाश का कारण बन जाता है। किसी का काम, किसी की इच्छा, आफत हमने मोल ले ली। काम प्रकृति का, इच्छा प्रत्यगात्मा की। मान बैठे कर्म्मात्मा की इच्छा एवं कर्म्मात्मा का कर्म्म। कैसा अनर्थ! **"मैं (कर्म्मात्मा) करता हूँ"**—इस अहंकार का एकमात्र कारण प्राकृतिक कर्म्मों में अपने मन की इच्छा का समावेश कर देना है। परिणाम इस मानसेच्छा का यह होता है कि कर्म्मात्मा विषयानुगत बनता हुआ प्रत्यगात्मा का स्वरूप भूल जाता है। यही इसका विमोह है। प्रत्यगात्मा को छोडकर परागब्रह्म की ओर अनुगत रहने वाला कर्म्मात्मा ही **"विमूढात्मा"** है। इसी के लिए लोकभाषा में—**"अमुक व्यक्ति अपने आपे में नहीं रहा"**—यह कहा जाता है। प्रत्यगात्मा ही कर्म्मात्मा का अपना आपा है।

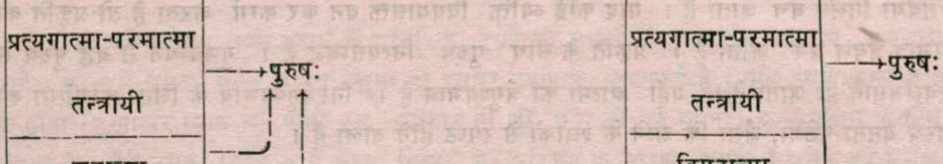
स्वार्थान्धमनुष्य अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरे की भलाई में भाग लेना महापाप समझता है। प्रत्येक कर्म्म में ममत्व पूर्वक अहंत्व रखना ही इसका सर्वोपरि पुण्यकर्म्म है। यदि इसके कर्म्म से प्रकृति के द्वारा (घुणाक्षर न्याय से) कभी कुछ उपकार हो भी गया तो यह अपनी आत्मप्रशंसा के गीत गाने लगता है। मैंने उसका अमुक कार्य करवा दिया, मेरे परिचय के कारण अमुक ने अमुक का अमुक काम कर दिया, इस प्रकार पद-पद पर इसकी अहन्ता संचारित रहती है। सचमुच ऐसा व्यक्ति महापापी है।

आत्मा (पुरुष-प्रत्यगात्मा) निर्गुण है, प्रकृति सगुणा है। **सत्त्व-रज-तम—ये** तीन गुण प्रकृति के स्वाभाविकधर्म्म हैं। इन्हीं गुणों से प्रकृति तत्तत्कर्म्म में प्रवृत्त होती है। लौकिक-पारलौकिक जितने भी कर्म्म हैं, सबकी मूलप्रतिष्ठा गुण हैं। गुणों का मूलउक्थ प्रकृति है। **"कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते"**—इस न्याय के अनुसार कारण के गुण ही कार्यगुण के आरम्भक बनते हैं। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि कारण ही कार्य की प्रतिष्ठा है। गुणात्मक जितने भी कार्य हैं, उन सबके आरम्भक प्राकृतिक गुण हैं, फलतः उन्हीं पर कर्म्म का विश्राम सिद्ध हो जाता है। **"गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते"** में पहला गुण कार्यगुण है, दूसरा गुण कारणगुण है। आत्मा सर्वथा निर्लेप बच जाता है भगवान् ने प्रकृति के गुणों से कर्म्म का आरम्भ बतलाया है। यद्यपि **गुणशब्द** से यहाँ पूर्वकथनानुसार सत्त्वादि गुणों का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु इसके साथ-साथ भगवान् **तन्मात्रा** नाम से प्रसिद्ध गुणभूतों की ओर भी सङ्केत कर रहे हैं। सृष्टि क्रमानुसार सृष्टिविवर्त्त **भाव-गुण-विकार** भेद से तीन भागों में विभक्त है। भावसृष्टि का अव्ययपुरुष से सम्बन्ध है, जैसा कि—**"मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः"**—इत्यादि प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इसी को **मानसीसृष्टि** भी कहा जाता है। प्रकृतितत्त्व परा-अपरा भेद से दो भागों में विभक्त है। पराप्रकृति **अक्षर** नाम से एवं अपराप्रकृति **क्षर** नाम से प्रसिद्ध

है । अक्षर प्रकृति से **रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द**–ये पाँच गुण उत्पन्न होते हैं । ये ही पाँचों प्राधानिकों की पञ्चतन्मात्राएँ हैं । इसी को गुणसृष्टि, प्राकृतिकी सृष्टि इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है । क्षरप्रकृति से **अणु-रेणु-भूत-भौतिक-सत्त्व** भेदभिन्ना ५ प्रकार की विकार सृष्टि होती है । इसी को वैकारिकीसृष्टि, याज्ञिकीसृष्टि, मैथुनीसृष्टि इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है । यही कर्म्मसृष्टि है । इसी प्राकृतिकसृष्टि के लिए–"**विकारांश्चगुणांश्चैतान् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**"–यह कहा जाता है । गुण पृथक् तत्त्व है, विकार पृथक् तत्त्व है । दोनों के मूल भी सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं । ऐसी दशा में जिन व्याख्याताओं ने प्रकृत श्लोक के "**गुणैः**" का जो "**विकारैः**"–यह अर्थ किया है, वह इनका प्रौढिवाद मात्र ही समझना चाहिए । अक्षरप्रकृति गुणमयी है, क्षरप्रकृति विकारमयी है । गुण विकार के जनक हैं । दोनों का जन्य-जनकभावसम्बन्ध है । ऐसी दशा में गुण का अर्थ विकार मान लेना सर्वथा भ्रान्ति हैं । विकार तो कर्म्म है । इनकी प्रवृत्ति प्रकृति के गुणों से होती है, यही बतलाने के लिए भगवान् ने–"**प्रकृतेर्गुणैः क्रियमाणानि कर्म्माणि**"–यह कहा है । त्रैगुण्यभावयुक्त पञ्चतन्मात्राओं से प्रकृति विकाररूप कर्म्मों का संचालन करती है, यही तात्पर्य्य है । इससे भगवान् को बतलाना यही है कि कार्य का सम्बन्ध कारण के साथ ही होता है । कार्य का भला-बुरा अतिशय कारण पर आता है । कर्म्मरूप कार्य्य का कारण चूंकि गुणमयी प्रकृति है, फलतः प्रकृति पर ही कर्म्मतन्त्र का विश्राम हो जाता है । कार्य-कारणातीत पुरुष सर्वथा निर्लेप बच जाता है । यदि कोई व्यक्ति विषयासक्त बन कर कर्म्म करता है तो प्रकृति का त्रैगुण्यभाव प्रबल बन जाता है । प्रकृति के साथ पुरुष नित्यसम्बद्ध है । गुणबन्धन से बद्ध पुरुष में कर्त्तृत्वाभिमान हो जाता है । यही आत्मा का त्रैगुण्यभाव है । निस्त्रैगुण्यभाव के लिए कर्म्मात्मा को प्रकृतिस्थ बनना पड़ेगा, जैसा कि आगे के श्लोकों से स्पष्ट होने वाला है ।

अभी केवल यही वक्तव्य है कि यदि कर्म्मात्मा विकृतिरूप मन के वश में आकर अपनी उस प्रकृति का साथ छोड देता है तो इसमें ममत्व एवं अहंत्व का उदय हो जाता है । ऐसे ही विमूढात्मा स्वार्थलिप्सा में पड़कर कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से च्युत हो जाते हैं । ऐसे पापात्माओं के उद्धार का क्या उपाय ? बस, प्रकृत उपदेश इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए प्रवृत्त हुआ है । भगवान् का अभिप्राय यही है कि तुम यदि स्वार्थ से अतिरिक्त कोई कर्म्म नहीं करते तो कोई बात नहीं । स्वार्थबुद्धि से ही कर्म्म करो, रात-दिन सांसारिक कर्म्मों में ही प्रवृत्त रहो । विषयासक्त बने रहो । कोई हानि नहीं । परन्तु इसमें थोड़ा सा संशोधन कर लो । तुम जानते हो कि तुम अपने ऐन्द्रियक व्यापारों में स्वतन्त्र नहीं हो । यह बहुत मोटी बात है । बस, तो तुम्हें अपने अन्तरात्मा में यह विश्वास कर लेना चाहिए कि तुम जो कुछ भला-बुरा कर्म्म करते हो, उसके तुम कर्त्ता नहीं हो । इन सब कर्म्मों का प्रकृति से सम्बन्ध है । तुम्हारी जैसी प्रकृति है, तुम्हें वैसा ही कर्म्म करना पड़ता है । तुम्हें प्रकृति जिधर ले जाती है, उधर ही विवश होकर जाना पड़ता है । "**मैं नहीं करता, प्रकृति कर रही**"–इस मूल सूत्र को लक्ष्य में रखते हुए कर्म्म करते जाओ । ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाएगा, त्यों-त्यों तुम्हारा आत्मा प्रकृतिस्थ बनता हुआ प्रत्यगात्मानुगामी बन जाएगा । इस अभ्यास के द्वारा जिस दिन तुम्हारा कर्म्मात्मा प्रकृतिस्थ बन जाएगा, दूसरे शब्दों में जिस दिन तुम्हें यह विश्वास जो जाएगा कि मैं नहीं करता, प्रकृति कर रही है, बस, उस दिन अपने आप कर्म्मात्मा पर प्रत्यगात्मा का अनुग्रह हो जाएगा । तुम बन्धन से मुक्त हो जाओगे । हम

भला-बुरा सब कुछ करते रहें, यथेच्छाचारी बने रहें, शास्त्राज्ञा का कोई समादर न करें, परन्तु अपने कर्म्मों को प्रकृति द्वारा संचालित समझें, यही संशोधन कालान्तर में परम्परया सर्वहुतयज्ञार्थ कर्म्म का प्रवर्त्तक बन जाएगा। यह ध्यान रखने की बात है कि जब तक कर्म्मात्मा कर्त्तृत्वाभिमान रखता है, तभी तक उसके द्वारा असत्कर्म्म होते हैं। तभी तक वह स्वार्थान्ध बना रहता है। जिस दिन उसकी यह भावना हो जाती है कि "मैं कुछ नहीं करता, सब कुछ प्रकृति करती है, करवाती है। **"केनापि देवेन हृदि स्थितोऽहं यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"** के अनुसार हृदयस्थ अन्तर्य्यामी देवता (प्रकृति) मुझे जिधर ले जाती है, उधर ही जाना पड़ता है"–बस, इस दशापर पहुँचने के बाद उससे कभी असत्कर्म्म की संभावना ही नहीं रहती। क्योंकि प्रकृति पर सारा भार छोड़ देने से इसकी विषयासक्ति अपने आप हट जाती है। विषयासक्ति ही असत्कर्म्मप्रवृत्ति का मूल कारण है। प्रकृति का आश्रय लेने के पश्चात् प्रकृति से सम्बद्ध प्रत्यगात्मा का अनुग्रह हो जाता है। उस समय इस कर्म्मात्मा का प्रत्येक कर्म्म ईश्वरेच्छा से संचालित होने लगता है। ईश्वरेच्छा सदा सत्कर्म्मों की ही प्रवर्त्तिका है। इस प्रकार उक्त थोड़े से संशोधन से अस्मदादि संसारी भी आत्मकल्याण करने में समर्थ हो जाते हैं। उक्त अहंता को दूसरे शब्दों में कर्त्तृत्वाभिमान को हटाने का क्या उपाय है? अगला श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है।



—१—

२–तत्त्ववित्तु महाबाहो०

मैं कर्म्म नहीं करता, प्रकृति कर्म्म करती है"–इस संशोधन के लिए तत्त्वविवेक आवश्यक है। हमें यह छाँट करनी पड़ेगी कि ज्ञान-कर्म्म-अर्थतन्त्रों से त्रितन्त्र बनी हुई इस अध्यात्मसंस्था में ज्ञानतन्त्राध्यक्ष पुरुष कौन सा है, कर्म्मतन्त्राध्यक्षा प्रकृति कौन सी है एवं अर्थतन्त्राध्यक्षा विकृति कौन सी है ? भावसृष्टि का अधिष्ठाता कौन है, गुणों का विकास किससे होता है एव विकार की जननी कौन है ? जब तक तत्त्वसंख्यान (परिगणना) न किया जाएगा, तब तक प्रकृति-विकृति एवं पुरुष का विवेक न होगा। जब तक सत्त्वपरिगणना द्वारा तीनों का विवेक न कर लिया जाएगा, तब तक हम (कर्म्मात्मा) यह समझ ही न सकेंगे कि कौन कर्म्म करता है, कौन कर्म्म साक्षी है ? जब तक यह न समझलेंगे, तब तक हमारा ममत्व एवं अहंत्व न हटेगा। फलतः कर्तृत्वाभिमानपरित्याग के लिए हमें सांख्यशास्त्रोक्त तत्त्वविवेक की ही शरण में जाना पड़ेगा। जब हम यह जान लेंगे कि अमुक पुरुष है, अमुक प्रकृति है, अमुक विकृति है, प्रकृति का यह धर्म्म है, विकृति यह काम करती है, पुरुष यह करता है, तब स्वतएव हमारी भ्रान्ति का निराकरण हो जाएगा। वे तत्त्व कौन से हैं, जिनके सम्यक्परिज्ञान से हमें यह विश्वास हो जाए कि प्रकृति ही गुणों के द्वारा कर्म्म का संचालन करती है, पुरुष पुष्करपलाशवन्निर्लेप है ? इस प्रश्न का समाधान **"लोकेऽस्मिन्०"**–इत्यादि पूर्व प्रकरण के सांख्यनिष्ठाप्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए।

प्रकृत श्लोक के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याताओं ने अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। पाठकों के विनोद के लिए उनका भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। सर्वश्री **मधुसूदन** सरस्वती कहते कि–"देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, अहंकारादि में रहने वाली वृत्तियाँ गुण हैं। इनके व्यापार कर्म्म हैं। इन कर्म्मों की प्रतिष्ठा ममत्व, किं वा अहंत्व है। गुण और कर्म्म द्वन्द्वैकवद्भाव है। वैकारिक एवं जड़ यच्चयावत् पदार्थों की दृष्टि से स्वप्रकाश ज्ञानलक्षण आत्मा सर्वथा-सर्वथा विभक्त है। विभक्त आत्मा चेतन है, गुणकर्म्ममय देहेन्द्रियादि एवं उनके कर्म्म जड़ हैं। गुणकर्म्म भास्य हैं, आत्मा भासक है। विषय गुणकर्म्म हैं, विषयी आत्मा है। तमःप्रकाशवत् दोनों अत्यन्त बिरुद्ध हैं। एक विकारी है, दूसरा सर्वथा निर्विकार है। इन दोनों के याथात्म्य को जो जानता है, वह–"करणात्मक गुण विषयगुणों में प्रवृत्त होते हैं, निर्विकारआत्मा इनमें प्रवृत्त नहीं होता"–यह मानता हुआ एक अतत्त्ववित् की तरह कर्तृकत्वाभिनिवेशपूर्वक उन विषयों में आसक्त नहीं होता। गुणकर्म्म दोनों में द्वन्द्वैकवद्भाव है, विभाग शब्द–**"विकारिणां भासकत्वेन पृथग् भवतीति विभागः"** के अनुसार आत्मा का वाचक है। **"गुणकर्म्म च विभागश्च (विषयश्च विषयी च)"** इस प्रकार गुणकर्म्म एवं विभाग शब्द का द्वन्द्वभाव है। गुणकर्म्मरूप विषय एवं विभागरूप आत्मा दोनों के तत्त्व को जानने वाला कभी विषयों में आसक्त नहीं होता, यही तात्पर्य्य है। यदि विभाग का सम्बन्ध गुण-कर्म्म शब्दों के साथ मानते हुए–**गुणविभागस्य कर्म्मविभागस्य च तत्त्ववित्**"–यह अर्थ किया जाता है तो इस पक्ष में विभागपद व्यर्थ हो जाता है। **"गुणकर्म्मणोः"**–यही कहने से जब काम चल जाता है फिर **"विभाग"** पद का सन्निवेश सचमुच इस पक्ष में व्यर्थ हो जाता है। व्याख्याता का अभिप्राय यही है कि विभागशब्द तभी सार्थक बन सकता है, जब कि इसे आत्मा का वाचक मान लिया जाए। तब तो

"गुणकर्म्म एवं विभाग (आत्मा) के तत्त्वज्ञान से आसक्ति नहीं होती"- इस प्रकार संगति लग जाती है। यदि "गुणविभाग और कर्म्म विभाग का तत्त्व जानने वाला"–यह संगति लगाई जाएगी तो विभाग पद का कोई अर्थ ही न रहेगा।

श्रीधर स्वामी का कहना है कि–"मैं (आत्मा) गुणात्मक नहीं हूँ, इस प्रकार गुणों से आत्मा विभक्त है; मेरे कर्म्म नहीं हैं, इस प्रकार कर्म्मों से भी आत्मा विभक्त है–ऐसे गुणकर्म्मविभागों के तत्त्व को जो जानता है, वह तत्त्ववेत्ता कभी कर्म्मों में आसक्त नहीं होता"। स्वामी जी का अभिप्राय यही है कि बुद्धिमान् को चाहिए कि वह गुणों से भी आत्मा को विभक्त (पृथक्) समझे एवं कर्म्मों से भी आत्मा को विभक्त समझे। इस प्रकार गुणकर्म्मों से आत्मा का विभाग कर डाले। **"गुणेभ्य आत्मनो विभागः, कर्म्मभ्योऽप्यात्मनो विभागः, तयोर्गुणकर्म्मविभागयोर्यस्तत्वं वेत्ति"**–यही वाक्यसंगति है।

स्वयं भाष्यकार ने–**"गुणविभाग एवं कर्म्मविभाग का तत्त्ववित्"**–यह अर्थ किया है। भाष्यकार विभाग शब्द का गुण-कर्म्म दोनों शब्दों के साथ सम्बन्ध मानते हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती ने जिस पक्ष में विभाग पद की व्यर्थता सिद्ध की है, भाष्यकार को वही पक्ष अभीष्ट है। भाष्योत्कर्षदीपिकाकार ने आरम्भ में भाष्यमत का समादर कर किया है, आगे जा कर श्रीधर की व्याख्या में अपनी सम्मति प्रकट की है।

नीलकण्ठ का कहना है कि–"तत्त्ववित् व्यक्ति "गुण गुणों में रहते हैं"–यह मानता हुआ गुण विभाग एवं कर्म्मविभाग में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार नीलकण्ठ के मतानुसार गुणकर्म्म-विभाग के तत्त्वज्ञान से आसक्ति नहीं होती, अपि तु, तत्त्वज्ञान से गुणकर्म्मविभाग में आसक्ति नहीं होती। इस प्रकार व्याख्याता **तत्त्ववित्** पद को स्वतन्त्र मानते हुए गुण एवं कर्म्म विभाग की अनासक्ति को प्रधानता देते हैं। बात कितने ही अंशों में ठीक है भी, नहीं भी। गुण-कर्म्म ही प्राकृतिक तत्त्ववाद है। इनका स्वरूपज्ञान ही तो इनमें अनासक्तिभावोत्पत्ति का कारण बनता है। ऐसी दशा में तत्त्ववित् को पृथक् मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

उक्त व्याख्याओं से पाठकों को विदित हुआ होगा कि प्रायः सभी व्याख्याता केवल शब्दों के जाल में उलझे हुए हैं। गुण-कर्म्म क्या पदार्थ है? तत्त्व का क्या स्वरूप है?–यह किसी ने बतलाने की कृपा नहीं की है। कोई व्याख्याता विभाग शब्द को आत्मा का वाचक मान रहा है। किसी की दृष्टि में विभाग शब्द व्यर्थ ही है। किसी व्याख्याता (मधुसूदन) की दृष्टि में गुणमयी प्रकृति मिथ्याज्ञानात्मिका है, जिसके लिए भगवान्–**"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि"**–इत्यादिरूप से अनादि शब्द का प्रयोग करते हैं, जिस प्रकृति के गुण कर्म्मों को भगवान् तत्त्व मान रहे हैं, व्याख्याता की दृष्टि में वही अनादि प्रकृति एवं प्राकृतिक गुणकर्म्मतत्त्व मिथ्या ज्ञानमय हैं। **"प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमोमयी मिथ्याज्ञानात्मिका पारमेश्वरी शक्तिः"**–यह कहते हुए व्याख्याता की जिह्वा क्यों न कट गई, यही आश्चर्य है! पारमेश्वरी शक्ति और वह मिथ्याज्ञानात्मिका कैसा भ्रम है! अस्तु, व्याख्याताओं की कल्पितलीला का संवरण कर हमें कहना यह है कि प्रकृत श्लोक का सीधा सा अर्थ यही है कि "प्रकृति के गुण-कर्म्म भेद से दो विभाग हैं। गुणविभाग का अक्षर नाम की पराप्रकृति से सम्बन्ध है एवं कर्म्मविभाग का क्षर नाम की अपरा-

प्रकृति से सम्बन्ध है। गुणविभाग कारणगुण है, कर्म्मविभाग कार्यगुण है। इन दोनों विभक्त गुणों के वास्तविक तत्त्व को जो जान लेता है, उसे यह विदित हो जाता है कि गुण (कार्यगुणरूपकर्म्म) गुणों में (कारणगुणरूपगुणों में) ही प्रतिष्ठित रहते हैं। कारण ही कार्य की प्रतिष्ठा है, कार्य कारण में ही प्रतिष्ठित है। कर्म्मरूप कार्यगुणों का प्रभाव (क्षरप्रकृतिसम्बन्धी कर्म्मों का प्रभाव) कारणरूप प्राकृतिक गुणों पर (अक्षरप्रकृतिसम्बन्धी कारणगुणों पर) ही होता है। चूंकि आत्मा (पुरुष) न कारण है, न कार्य है, अतः **"गुण गुण में प्रतिष्ठित रहते हैं"**–इस तत्त्वपरिज्ञान से आत्मा इन गुणकर्म्मों में आसक्त नहीं होता है। आत्मा को इस तत्त्वविवेक से यह विश्वास हो जाता है कि अहंभाव का (आत्मा) कर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो केवल निमित्तमात्र है। प्रकृति द्वारा जिस समय जैसे कर्म्मप्रेरणा होती है, उस समय आत्मा उसी कर्म्म में (निर्लेप रहता हुआ) निमित्तमात्र बन जाता है, फलतः कर्म्म करते हुए भी यह **"अहं करोमि"**–इस कर्त्तृत्वाभिमान से रहित रहता हुआ कर्म्मलेप से युक्त नहीं होता।

——०——

३–प्रकृतेर्गुणसंमूढाः० —

प्रकरण के आरम्भ में कहा जा चुका है कि आत्मा ज्ञानकर्म्मघन है। प्रकृतिदेवी उस घनज्ञान कर्म्म की थोड़ी सी मात्रा लेकर ही गुण-कर्म्म का संचालन करने में समर्थ होती है। प्रकृति अल्पज्ञान कर्म्ममयी होने से अकृत्स्ना है, अपूर्णा है। पुरुष सर्वज्ञान, सर्वकर्म्मघन बनता हुआ कृत्स्न है, पूर्ण है। पुरुष में आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् ये पाँच कलाएँ हैं। प्रकृति की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पाँच कलाएँ हैं। समूल दृष्टि से विचार करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष भी पञ्चपर्वा है, है एवं प्रकृति भी पञ्चपर्वा है। पुरुष में भी अनेक (५) खण्ड हैं एवं प्रकृति में भी अनेक (५) खण्ड हैं। दोनों में प्रकृति तो अवश्य ही अनेक खण्डवती है। प्रकृति नानात्व से ही प्राकृतिक-विश्व में नानात्व का विकास होता है। इन नानात्वलक्षण खण्डभावों के कारण हम प्रकृति को अकृत्स्न कह सकते हैं। प्रकृति एक है, उस एक के अनेक खण्ड हैं–यही बतलाने के लिए भगवान् ने **"अकृत्स्न"** शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु पुरुष कभी नानारूप नहीं है। वही आनन्द है, वही विज्ञान है, वही मन है, वही प्राण है, वही वाक् है। तैत्तिरीय उपनिषत् में पाँचों का एकत्व ही बतलाया गया है। यदि पुरुष (आत्मा) पञ्चपर्वा होता तो इसे कभी कृत्स्न नहीं कहा जा सकता। प्रकृति एक है, परन्तु पञ्चपर्वा है। पुरुष एक है, परन्तु अपर्वा है। आनन्दादि उस एक ही के नामान्तर हैं। अकृत्स्ना प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की यही कृत्स्नता है। **"एकस्याशेषत्वं कात्स्न्यम्"–"अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्"**–इन लक्षणों के अनुसार एक वस्तु की पूर्णता के लिए कृत्स्नशब्द प्रयुक्त होता है एवं अनेक वस्तुओं की पूर्णता के लिए सर्वशब्द प्रयुक्त होता है। आज दिन विद्वानों की दृष्टि में कृत्स्नसर्वशब्द परस्पर में पर्याय बनते हुए समानार्थक हैं। परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक हैं। एक पुस्तक की पूर्णता का अभिनय कृत्स्न-शब्द से किया जाएगा, १०-२० पुस्तकों की समष्टि का अभिनय सर्वशब्द से किया जाएगा। आधीपुस्तक, या पूरी से कुछ भी कम पुस्तक अकृत्स्न है, पूरी एक पुस्तक कृत्स्न है। १०-२० या अधिक पुस्तकों की समष्टि सर्व है। एक ब्राह्मण कृत्स्न है, अनेक ब्राह्मणों की समष्टि सर्व है। सर्व ही निरुक्तिक्रमानुसार

लोकभाषा में "**सब**" नाम से सम्बोधित हुआ है। अनेक आदमियों को लक्ष्य में रख कर ही "**सर्वे समागताः**" (सब आगए) यह कहा जाता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई "**कृत्स्नाः समागताः**" कहेगा तो व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका यह वाक्य प्रयोग सर्वथा अशुद्ध माना जाएगा। कहना यह है कि भगवान् पुरुष-प्रकृति के लिए कृत्स्न, अकृत्स्न शब्दों का प्रयोग करते हुए यही बतला रहे हैं कि पुरुष एक है, अपर्वा है, अतएव कृत्स्न है, पूर्ण है। प्रकृति एक अवश्य है, परन्तु सपर्वा है, अतएव अकृत्स्ना है।

अकृत्स्ना प्रकृति के अनुयायी मनुष्य केवल प्राकृतिकगुणों में ही आसक्त रहते हुए उस कृत्स्न आत्मा को भूलते हुए विमूढ बने रहते हैं। केवल प्राकृतिकगुणों का आश्रय ही कर्म्मात्मा के विमूढभाव का कारण है। इन्हें प्रकृति का ही बोध रहता है, इसका तात्पर्य्य यही है कि ये प्रकृति-पुरुष का विवेक करने में असमर्थ हैं। इनकी दृष्टि में पुरुष भी प्रकृति ही है, अतएव यह विमूढ प्राकृतिककर्म्मों के सम्बन्ध में—"**अहं करोमि**"—"**अहं गच्छामि**"—इत्यादिरूप से आत्मा में ही कर्त्तृत्वाभिमान करने लगते हैं। ऐसे मन्द (संसारी) संसार में अधिक संख्या में हैं। प्रकृति-पुरुष के विवेकपूर्वक कृत्स्नपुरुष का स्वरूप परिचय प्राप्त करते हुए कृत्स्न (सर्वज्ञ) बनने वाले बुद्धियोगी थोड़े हैं। भगवान् कहते हैं कि तुम कभी उन अकृत्स्नों को उनके कर्म्मों से च्युत मत करो।

व्याख्याताओं ने प्रकृत श्लोक को—"**न बुद्धिभेदं जनयेत्**"—इस श्लोक का उपसंहारक माना है। व्याख्याताओं का अभिप्राय यही है कि भगवान् ने जिस अर्थ का—"**न बुद्धिभेदं जनयेत्**"—इत्यादि श्लोक में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया था, उसी अर्थ का प्रकृत श्लोक में स्पष्टीकरण किया है। परन्तु हमारी दृष्टि में दोनों का धरातल सर्वथा पृथक्-पृथक् है। "**न बुद्धिभेदं जनयेत्**"—का प्रथमाधिकारियों से सम्बन्ध है एवं प्रकृत श्लोक का साधारणमन्दाधिकारियों, दूसरे शब्दों में अनधिकारियों से सम्बन्ध है। जो व्यक्ति आश्रम-वर्णानुसार जिस आश्रम-वर्णानुकूल कर्म्म में प्रतिष्ठित है, उच्च वर्ण एवं उच्च आश्रम में प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने से अवर वर्ण में एवं अवराश्रम में प्रतिष्ठित रहने वालों को अपने वर्ण एवं आश्रम को श्रेष्ठ बतलाता हुआ लक्ष्य च्युत न करे—"**न बुद्धिभेदं जनयेत्**"—का यही तात्पर्य्य है, जैसा कि तत्प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। स्व-स्व अधिकारसिद्ध कर्म्मों में युक्त प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम अपने-अपने धरातल से ठीक हैं। यही वहाँ बतलाया गया है। परन्तु प्रकृत श्लोक उन मन्दाधिकारियों से सम्बन्ध रखता है, जो वर्ण-आश्रमधर्म्मों की कोई अपेक्षा न रखता हुआ उच्छृंखल होता जा रहा है।

प्राकृतिक गुणविमूढ जो व्यक्ति भले-बुरे की पहचान करने में असमर्थ रहता हुआ अन्ट-सन्ट कर्म्म किया करता है, लोकसंग्राही भगवान् इन पर भी करुणा कर रहे हैं। भगवान् को कर्म्म से बडा ही प्रेम है। निठल्ले बैठे रहने वाले की अपेक्षा भगवान् उसे ही अच्छा समझते हैं, जो कि कर्म्म करता है, चाहे उसका वह कर्म्म विपरीत ही क्यों न हो। जो मन्द उत्पथ-कर्म्मों का अनुगमन कर रहे हैं, उन्हें और कोई लाभ न सही, किन्तु कर्म्म का अभ्यास तो बना रहता हैं। इसी बिन्दु को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् कहते हैं कि हम मानते हैं कि उत्पथगमन करने वाला पतन की ओर जा रहा है, परन्तु तुम्हारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि तुम इन मन्दों को अपनी अकृत्स्नता से विचलित न करो। आरम्भ में बडे सद्भाव से उनके कर्म्म का आदर करो, प्रशंसा करो। कहो—भाई ! तुम्हारी क्या बात, बडा अच्छा कर

रहे हो। परन्तु देखो, अमुक संशोधन कर लो तो सोने में सुहागे का काम हो जाए। इस प्रकार सहानुभूति द्वारा ही तुम उन्हें ठीक रास्ते लाने का प्रयास करो। यदि ऐसा न कर तुमने–"**हरे ! हरे ! तुम बडे पतित हो, बडा बुरा कर्म्म कर रहे हो, तुम्हारा सर्वनाश हो जाएगा**"–इस प्रकार भर्त्सना की तो सुधार तो उसका कुछ होगा नहीं, कर्म्माभ्यास से वञ्चित और हो जाएगा। आश्चर्य नहीं, वह तुम्हारा शत्रु भी बन जाए। इस प्रकार इस मन्दविचालन से तुम लोकसंग्रह के शत्रु बन जाओगे। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि मनोविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म्म को उत्कृष्ट समझा करता है। तभी तो उसकी उस कर्म्म में प्रवृत्ति होती है। यदि वह उसे बुरा-अनुचित समझे तो उस ओर प्रवृत्त ही क्यों हो ? जब तुम इसकी सहसा भर्त्सना करोगे तो वह या तो रुष्ट हो जाएगा, या कर्म्म छोड बैठेगा, अथवा तो–"हम तो ऐसा ही करेंगे–आए हैं बडे ज्ञानी उपदेश देने, कुछ अपना भी पता है"–कहता हुआ अभिनिवेशपूर्वक अधिक शक्ति से उसी कर्म्म में प्रवृत्त हो जाएगा। ऐसी दशा में प्रत्येक बुद्धिमान् का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह मूर्खों को सहसा उनके अभिलषित कर्म्मों से विचलित न करे। अपि तु, सहयोगपूर्वक एवं सद्भावनापूर्वक उनकी हाँ में हाँ मिलाता हुआ क्रमशः संशोधन करे। तात्पर्य्य यह है कि प्रकृत उपदेश उन मन्दों के लिए प्रवृत्त हुआ है, जो कि तत्त्वविवेक करने में भी असमर्थ हैं। पहले तो भगवान् ने इन्हीं को साक्षात्रूप से लक्ष्य बना कर इन्हें आदेश दिया कि भाई ! तुम भला-बुरा कुछ भी करते रहो, परन्तु इन कर्म्मों में–"मैं करता हूँ" यह अभिमान न करो, तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। संशोधन सत्य भी है, शिव भी है, सुन्दर भी है। परन्तु हमारे जैसे कितने एक ऐसे भी ढोठ हैं, जो उक्त संशोधन का भी अभ्यास नहीं कर सकते। उनकी अहन्ता तो कैसे भी नहीं छूटती। ऐसे सर्वथा मन्दों के उद्धार का क्या उपाय ? बस, प्रकृत श्लोक इसी प्रश्न का समाधान करता है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि जो हमारे उक्त संशोधन पर भी आरूढ नहीं हो सकते, उनके कल्याण की जिम्मेदारी उन पुरुषों पर है जो कि सर्वज्ञ हैं, विद्वान् हैं, नेता हैं, समाज के कर्णधार हैं। उन्हें सद्भावपूर्वक इन मन्दों को आश्वासन देना चाहिए। इनसे प्रेमयुक्त व्यवहार करना चाहिए। इस सद्भावलक्षण सहयोग द्वारा क्रम-क्रम से अपने आप ये ठीक मार्ग पर आ जाएँगे।

—३—

४–मयि सर्वाणि कर्म्माणि०—

पाठकों के चित्त में यह कुतूहल हो रहा होगा कि भगवान् ने चार उपदेशों से जिन चार प्रकार के अधिकारियों के उद्धार का मार्ग बतलाया, अर्जुन इन चारों में से किस श्रेणि का अधिकारी था, साथ ही में भगवान् ने अर्जुन को कौन से पथ की ओर आकर्षित किया ? प्रकृत श्लोक इन्हीं दोनों प्रश्नों का समाधान करता है।

अर्जुन की वर्त्तमान परिस्थिति पर यदि हम दृष्टि डालते हैं तो हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि इस समय अर्जुन किसी श्रेणि का अधिकारी नहीं है। न वह यज्ञ के लिए कर्म्म करने के लिए तय्यार है, न आत्मा के लिए कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहता है, न लोकसंग्रह ही अर्जुन के सामने है, न

अर्जुन मन्दाधिकारियों की तरह उच्छृंखल कर्म्मों को ही पसन्द कर रहा है। वह तो इस समय कर्त्तव्या-कर्त्तव्यविमूढ बनता हुआ-**"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"**-**"धर्म्मसंमूढचेता:"**-**"यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे"**-इस प्रकार की करुणाभरी वाणी का प्रयोग कर रहा है। वह किस श्रेणि में है, उसे क्या करना चाहिए ? इन प्रश्नों की मीमांसा का अर्जुन को अणुमात्र भी अवसर नहीं है। बन्धुजन के भावी मृत्युशोक के आघात से वह तो अपना स्वरूप ही भूल गया है। अर्जुन सब तरह से डांवाडोल है। इस घोर अन्धकार में यदि पतली सी कोई आलोक-रेखा है तो यही कि अर्जुन कृष्ण पर पूरी निष्ठा रखता है। इस भयावह परिस्थिति में भी अर्जुन को इतना बोध अवश्य है कि वह कृष्ण को सर्वज्ञ समझ रहा है। उसे यह भी विश्वास है कि भगवान् अवश्य ही इस समय मुझे सन्मार्ग बतला कर मेरा संकट दूर करेंगे। इस प्रकार अर्जुन किस श्रेणि में है एवं अर्जुन को इस समय क्या करना चाहिए ?-इन प्रश्नों के निर्णय का भार भगवान् पर ही आ पड़ता है। यही कारण है कि भगवान् ने पहले तो अर्जुन के सामने अधिकारीभेद में चार मार्ग रक्खे, साथ ही में-"अर्जुन इस समय केवल मार्गप्रदर्शन से ही संकट से न छूट सकेगा, उसमें इस समय इतना विवेक ही नहीं है कि वह अध्यात्मशास्त्र के उन उदात्त सिद्धान्तों के धर्म्म पर पहुँचता हुआ, वर्त्तमान परिस्थिति को संभाल कर अपने लिए निश्चित पथ सुरक्षित कर दे"। अर्जुन की इस वर्त्तमान परिस्थिति के सम्यक्ज्ञाता भगवान् ने अधिकारिभेदसम्बन्धी उपदेशों का उप-संहार करते हुए भगवान् को स्वयं अपनी ही ओर से "अर्जुन के लिए इस समय क्या कर्त्तव्य है, अर्जुन किस श्रेणि का अधिकारी है"? इन दोनों प्रश्नों का समाधान करना पड़ा। कहना न होगा कि उक्त प्रश्नों का समाधान-**मयि सर्वाणि कर्म्माणि०**"-इस श्लोक के अक्षरों से स्पष्ट प्रतिध्वनित हो रहा है।

पहले ऐतिहासिक-दृष्टि से ही विचार कीजिए। इतिहासभाव को यदि हम प्रधान मानते हैं तो प्रकृत श्लोक का सीधा सा यही अर्थ होता है कि "अर्जुन ! इस समय तू और-और सब बातें भूल जा। शास्त्र-परलोक-बन्धुजनप्रयुक्तक्लेश-भावीशोकजनित मोह, इन सब प्रपञ्चों में पड़कर अपने आपको मोह में न डाल। तू मुझ पर विश्वास कर। अपना सारा कर्म्म-कलाप मेरे ऊपर छोड दे (मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य)। कहने भर को नहीं, अपि तु, अन्तरात्मा से। यदि तू अन्तरात्मा से मुझ पर यह विश्वास रखता है कि मैं जो कुछ कहूँगा, तेरे हित की कहूँगा, तो इस विश्वास से तुझे सारा कर्म्मभार अनन्यभाव से मुझ पर छोड देना चाहिए। हाँ, इतना तुझे प्रत्येक दशा में स्मरण रखना चाहिए कि मैं जिस कर्म्म के लिए तुझे प्रवृत्त करूँ, प्रथम तो उसमें किसी प्रकार के फल की वाञ्छा मत कर, दूसरे ममत्व (मैं करता हूँ-यह अहंत्वाभिमान) मत कर। तीसरे, अभी तुझे जो शोकसन्ताप हो रहा है, वह भी छोड दे। कारण, तू जब तक कर्म्म के ग्रहण एवं परित्याग का भार अपने ऊपर समझता रहेगा, तब तक नि:सन्देह तू इस आशंसामय ममत्व से युक्त होता हुआ शोकसंविग्नमानस बना रहेगा। तू प्रश्न करेगा कि अच्छा भगवन् ! मैं फलाशा भी छोडता हूं, ममता का भी विसर्जन करता हूँ, और लीजिए, शोक भी छोडता हूँ। कृपा कर यह तो बतलाइए कि मुझे करना क्या पड़ेगा ? अर्जुन की इसी जिज्ञासा को शान्त करते हुए वर्णधर्म्ममूलक स्वधर्म्म के पक्षपाती भगवान् के मुख से सहसा निकल पड़ता है—

"युध्यस्व"

"युद्ध कर"–इसी वाक्य से उक्त दोनों प्रश्नों का समाधान हो जाता है। अधिकारीभेद की मर्यादा भगवान् ने सुरक्षित रक्खी भी है, नहीं भी रक्खी है। युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म्म है। इस दृष्टि से अर्जुन मध्यमाधिकारी है। आत्मयज्ञ को लक्ष्य में रखते हुए शास्त्रसिद्ध वर्णधर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला व्यक्ति ही मध्यमाधिकारी है। **"मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य युध्यस्व"**–यह वाक्य अर्जुन का ध्यान-यज्ञार्थकर्म्म की ओर भी आकर्षित करता है। भगवान् का अभिप्राय यही है कि तू मेरी ओर देख। न मुझे फलाशा है, न ममत्व है। फिर भी मैं कर्म्म कर ही रहा हूँ। चारों उपदेशों का प्रधान लक्ष्य लोकसंग्रह है। लोकसंग्रहदृष्टि से किया जाने वाला कर्म्म यज्ञार्थकर्म्म बन जाता है। भगवान् अपनी ओर से अर्जुन के सामने चारों ही पक्ष रख देते हैं। साथ ही में **"युध्यस्व"** पर दृष्टि करवा देते हैं। **"कर्म्म कर"** यही प्रधान लक्ष्य है। चारों ही प्रकार ठीक हैं। संशोधनमात्र अपेक्षित है।

अध्यात्म-दृष्टि से श्लोकार्थ का विचार कीजिए। गीतोक्त 'अहं' शब्द अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा का वाचक है। शरीरस्थ प्रत्यगात्मा ईश्वरांश है। भगवान् कहते हैं कि तू अपने कर्म्म का भार इस पर छोड दे। तेरा कल्याण हो जाएगा। कर्म्मसंन्यास पर ही यदि तेरी निष्ठा है तो कोई हानि नहीं। कर्म्म-संन्यास कर, परन्तु प्रत्यगात्मा के लिए। अपने सारे कर्म्मों का भार जिस दिन तू प्रत्यगात्मा पर छोड देगा, उस दिन न तुझे किसी फल की आकांक्षा रहेगी, न ममत्व रहेगा, न शोक रहेगा। केवल स्वभावतः कर्म्म में प्रवृत्ति रहेगी। वह प्रवृत्ति भी तेरी (कर्म्मात्मा की) न होगी। तू तो न कर्त्ता रहेगा, न करण। प्रत्यगात्मा जिस समय जैसा कर्म्म करना चाहेगा, उस समय उस कर्म्म का तू निमित्तमात्र रह जाएगा। बस, कल्याणप्राप्ति का यही अन्तिम उपाय है। जो भगवान् द्वारा बतलाए हुए उक्त उपायों का अनुष्ठान करते हैं–उनकी तो क्या स्थिति रहती है और जो अनुष्ठान नहीं करते–उनकी क्या दशा होती है? अगले प्रकरण में इन्हीं दोनों प्रश्नों का गीतानुसार समाधान किया जाएगा।

।। इति षष्ठोपदेशः ।।

६

अथ

बुद्धियोगिनः कर्म्मंपरित्यागानौचित्योपनिषदि

७–कर्म्मंत्यागानौचित्यस्य भगवन्मतत्वप्रतिज्ञानम् ।

७

तृतीयायामुपनिषदि--

सप्तमोपदेशः

७-कर्म्मत्यागानौचित्यस्य भगवन्मतत्वप्रतिज्ञानम् ।

१-ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ।। (गीता ३।३१)

२-ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ।। (गीता ३।३२)

[मूलानुवाद]-"जो मनुष्य मेरे इस मत का (आसक्तिविरहितज्ञान-कर्म्मसहकृत, अतएव "**आत्माश्रित साम्ययोग**"-नाम से प्रसिद्ध वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का) श्रद्धा (मनोयोग) अनसूया (पराधिकारचर्चापरित्याग) पूर्वक नित्य (अविकल) अनुष्ठान करते हैं, वे (शास्त्रवचन के श्रवणमात्र से शास्त्रीय आदेशों पर श्रद्धा विश्वास करने वाले) भी कर्म्म (सांस्कारिक कर्म्म-बन्धन) से विमुक्त हो जाते हैं । जो (नराधम) मेरे इस मत की अवहेलना करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, हे अर्जुन ! सर्वज्ञान से वञ्चित, अतएव चित्त (सात्त्विकमन) शून्य इन को नष्ट ही समझो" ।

[भाष्य]-(प्रकरणसंगति) । विषयविभाग के अनुसार हमने गीताशास्त्र के १८ अध्यायों को ६-२-४-६ इस क्रम से विभक्त किया है । आरम्भ के ६ अध्याय **राजर्षिविद्या** का, आगे के २ अध्याय (७-८) **सिद्धविद्या** का, आगे के चार अध्याय (९ से १२) राजविद्या का एवं अन्त के ६ अध्याय **आर्षविद्या** का निरूपण करते हैं, जैसा कि **भाष्यभूमिका** में विस्तार से बतलाया जा चुका है । राजर्षिविद्या का विचार चल रहा है । इसमें आठ उपनिषदें हैं, और ५० उपदेश हैं । प्रकृत की तीसरी उपनिषत् का उपसंहार करते हुए भगवान् ने-"**ये मे मतम्०**"-इत्यादि कहा है । इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है । यदि आठ उपनिषदात्मिका एवं ५० उपदेशात्मिका इस राजर्षिविद्या का पूरे ६ अध्यायों में निरूपण हुआ है, साथ ही में राजर्षिविद्यामूलक "**वैराग्य-बुद्धियोग**" भगवान् का अपना मत है तो-**ये मे मतमिदं नित्यं**"-इत्यादि दोनों श्लोकों का समावेश या तो विद्या के आरम्भ में होना चाहिए था अथवा विद्योपसंहारात्मक छठे अध्याय के अन्त में होना चाहिए था । तीसरी उपनिषत् के उपसंहार में स्वमत की घोषणा का कोई अर्थ नहीं निकलता ।

उक्त प्रश्न के समाधान में हम क्रमशः आरम्भ की १-२-३ उपनिषदों के विषयों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। यह निःसंदिग्ध विषय है कि पूरे ६ अध्यायों में राजर्षिविद्या का ही निरूपण हुआ है। आठों ही उपनिषदें प्रधानरूप से वैराग्यबुद्धियोग को ही अपना लक्ष्य बना रही हैं। इन आठ उपनिषदों में पहली उपनिषत् का **सांख्यनिष्ठा** से सम्बन्ध है, दूसरी उपनिषत् का **योगनिष्ठा** (कर्म्मनिष्ठा) से सम्बन्ध है। तीसरी उपनिषत् का **बुद्धियोगनिष्ठा** से सम्बन्ध है। प्रथम उपनिषत् में भगवान् ने लोकसिद्ध सांख्यनिष्ठा को मूल मानते हुए उसमें बुद्धियोगनिष्ठा का समन्वय करते हुए अर्जुन के लक्ष्य को सुरक्षित रक्खा है। इस प्रकार चूँकि प्रथमोपनिषत् में सांख्यनिष्ठा की प्रधानता है इसलिए तो इसे हम भगवान् का अपना मत नहीं कह सकते, साथ ही में इसमें भगवान् ने बुद्धियोग का समावेश किया है, इसलिए इस उपनिषत् को भगवदभिमत वैराग्यबुद्धियोग से भी पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दूसरी उपनिषत् में चूँकि प्रधानलक्ष्य लोकप्रचलित योगनिष्ठा है, इसलिए तो इसे भगवान् का मत नहीं कहा जा सकता, साथ ही में इसमें भी भगवान् ने बुद्धियोग का समावेश किया है, इसलिए इसे भगवदभिमत बुद्धियोग से भी पृथक् नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आरम्भ की दो उपनिषदों से भगवान् ने क्रमशः लोकसिद्ध दो निष्ठाओं का ही अर्जुन के सामने संशोधितरूप रक्खा है। संशोधित दृष्टि से जहाँ दोनों को राजर्षिविद्या के अन्तर्भूत मानना उचित है, वहाँ परमतदृष्टि से दोनों को भगवदभिमत मत की मर्य्यादा से बहिर्भूत मानना भी उचित है। तीसरी उपनिषत् में ही भगवान् ने स्वतन्त्ररूप से स्वाभिमत मत का निरूपण किया है। लोकसंग्रह के पक्षपाती भगवान् ने आरम्भ में दो उपनिषदों से दोनों लोकनिष्ठाओं का संग्रह किया है। आगे जा कर सर्वथा अपूर्व, विस्मृतप्राय बुद्धियोग का निरूपण किया है। इस दृष्टि से हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि प्रथमोपनिषत् में **कपिल** द्वारा आविष्कृत **सांख्यनिष्ठा** का निरूपण हुआ है, द्वितीयोपनिषत् में **हिरण्यगर्भ** द्वारा आविष्कृत **योगनिष्ठा** का निरूपण हुआ है एवं तीसरी उपनिषत् में **अव्ययकृष्ण** द्वारा आविष्कृत **बुद्धियोगनिष्ठा** का निरूपण हुआ है। ऐसी दशा में तीसरी उपनिषत् में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उसे ही हम भगवान् का प्रातिस्विक मत कहने के लिए तय्यार हैं। फलतः तृतीयोपनिषत् के उपसंहार में-"**ये मे मतमिदं०**"-इत्यादि कहना सार्थक बन जाता है। भगवान् को जो कुछ कहना था, वह तीसरी उपनिषत् में कहा जा चुका है। आगे की ५ उपनिषदें केवल इस विषय का उपबृंहणमात्र हैं, जैसा कि तत्तदुपनिषदों में स्पष्ट हो जाएगा। दो निष्ठाएँ लोक में प्रचलित थीं, पहले उनका स्वरूप बतलाया गया, उनमें थोड़ा सा संशोधन किया गया। अन्त में स्वाभिमत बुद्धियोग का प्रतिपादन किया गया। गीता का उद्देश्य समाप्त हो गया।

आत्मदृष्टि से भी आरम्भ की तीन उपनिषदों में ही गीताविषय का पर्यवसान सिद्ध हो जाता है। आत्मा मन-प्राण-वाक् भेद से त्रिकल है। ज्ञानमय मन सांख्यनिष्ठा की मूलप्रतिष्ठा है। क्रियामय प्राण योगनिष्ठा का मूलाधार है एवं अर्थमयी वाक् बुद्धियोग का मूलस्तम्भ है। विश्व मनप्राणगर्भित वाङ्मय होने से ज्ञान-क्रियागर्भित अर्थमय है। अर्थमय विश्व लोक है। लोकरक्षा ही लोकसंग्रह है। इसकी मूलभित्ति बुद्धियोग ही है। आरम्भ की तीन उपनिषदों से इन्हीं तीनों विवर्त्तों का निरूपण हुआ है। तीन से अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। फलतः तृतीय उपनिषत् के उपसंहार में गीता का वक्तव्य समाप्त हो जाता है। गीता भगवान् का मत है चूंकि उक्तकथनानुसार तृतीयोपनिषत् के अन्त

में भगवान् का वक्तव्य समाप्त हो जाता है, इसलिए यहीं–**"ये मे मतमिदं०"**–इत्यादि कहना अन्वर्थ बनता है। चौथी उपनिषत् में–**"बुद्धियोग-प्रतिबन्धक दोषों को छोड देना चाहिए"**–इस अर्थ का, पांचवीं उपनिषत् में–**"बुद्धियोग के प्रथमोपदेष्टा भगवान् ही हैं"**–इस अर्थ का, छठी उपनिषत् में–**"बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्म्म (सांख्य-योग) दोनों ही उपादेय हैं"**–इस अर्थ का, सातवीं उपनिषत् में–**बुद्धियोग ज्ञानकर्म्ममय होने से सांख्य भी है, योग भी है"**–इस अर्थ का एवं आठवीं उपनिषत् में–**"अमुक-अमुक कर्म्म बुद्धियोग के सहायक हैं"**–इस अर्थ का निरूपण हुआ है। इस प्रकार तीसरी उपनिषत् में बुद्धियोगरूप अपना मत बतला कर भगवान् ने ४ ५–६–७–८ इन पांच उपनिषदों में अपने इसी मत का उपबृंहण किया है। प्रथमोपनिषत् में संक्षेप से जिस सांख्यनिष्ठा का भगवान् ने दिग्दर्शन कराया था, आगे के दो अध्यायों (७–८) में भगवान् ने सिद्धविद्यात्मक ज्ञानबुद्धियोग के समावेश द्वारा उसी परमत का निरूपण किया है। ९–१०–११–१२ इन चार अध्यायों में लोकप्रचलित भक्तियोग में बुद्धियोग का समावेश करते हुए राजविद्यात्मक ऐश्वर्य-बुद्धियोग द्वारा परमत का निरूपण किया है। १३–१४–१५–१६–१७–१८ इन छहों अध्यायों में लोकप्रचलित कर्म्मयोग में बुद्धियोग का समावेश करते हुए आर्षविद्यात्मक धर्म्मबुद्धियोगद्वारा परमत का निरूपण किया है। इस विषयविभाग को सामने रखने से हमें यह कहना पड़ता है कि राजर्षिविद्या के आरम्भ की २ उपनिषदें, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या इनका परमत से सम्बन्ध है। राजर्षिविद्या की तृतीया उपनिषत् ही भगवान् का अपना मत है। शेष ४–५–६–७–८ राजर्षिविद्या की इन पांच उपनिषदों में बुद्धियोग का उपबृंहण है। इस दृष्टि से तृतीयोपनिषत् के उपसंहार में ही भगवान् ने–**"ये मे मतमिदम्०"**–कहा है।

राजर्षिविद्या–(६–अध्यायाः) (वैराग्यबुद्धियोगः)।

१–प्रथमोपनिषत्——→सांख्यनिष्ठा (ज्ञानयोगः)]→कपिलमतम्

२–द्वितीयोपनिषत्–→योगनिष्ठा (कर्म्मयोगः)]→हिरण्यगर्भमतम्

३–तृतीयोपनिषत्––→बुद्धियोगनिष्ठा (बुद्धियोगः)]→मे मतम्

४–चतुर्थोपनिषत्
५–पञ्चमोपनिषत्
६–षष्ठोपनिषत्
७–सप्तमोपनिषत्
८–अष्टमोपनिषत्

} →बुद्धियोगोपबृंहणम् } →मन्मतोपबृंहणम्

——•——

सिद्धविद्या–(ज्ञानबुद्धियोगः) ।

- ७–अध्यायः (१)
- ८–अध्यायः (२)

→कपिलमतोपबृंहणम् (परमतम्) →सांख्यनिष्ठा

—०—

राजविद्या–(ऐश्वर्यबुद्धियोगः) ।

- ९–अध्यायः (१)
- १०–अध्यायः (२)
- ११–अध्यायः (३)
- १२–अध्यायः (४)

→शाण्डिल्यमतोपबृंहणम् (परमतम्) →भक्तिनिष्ठा

—०—

आर्षविद्या–(धर्म्मबुद्धियोगः) ।

- १३–अध्यायः (१)
- १४–अध्यायः (२)
- १५–अध्यायः (३)
- १६–अध्यायः (४)
- १७–अध्यायः (५)
- १८–अध्यायः (६)

→हिरण्यगर्भमतोपबृंहणम् (परमतम्) →योगनिष्ठा

यह तो हुई विषयसङ्गति । अब इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है । **"यह (बुद्धियोग) मेरा मत है"**–यह कहने वाला कौन है ? दूसरे शब्द में बुद्धियोग का उपदेष्टा **कृष्ण कौन** है ? इस प्रश्न का समाधान आचार्यरहस्यान्तर्गत **"गीताकृष्णरहस्य"** नाम के प्रकरण में किया जा चुका है एवं राजर्षिविद्या की पाँचवीं उपनिषत् में भी उक्त प्रश्न का समाधान होने वाला है, अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में हम केवल यही कहना पर्य्याप्त समझते हैं कि–**"जो ईश्वरीय अव्ययकृष्ण धर्म्मरक्षा के लिए समय-समय पर नाना विग्रहों से धरातल पर अवतीर्ण हुआ करता है, उसी ने अपने विग्रहान्तर से**

देवयुग के आरम्भ में सर्वप्रथम विवस्वान् को अपने इस मत का (बुद्धियोग का) उपदेश दिया था। वही अव्ययकृष्ण आज वासुदेवविग्रह से अपने उसी पूर्वमत का अर्जुन को उपदेश दे रहा है"। वही उपदेश आज मधुसूदनविग्रह[1] द्वारा उसका शिष्य[2] पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा है। इसी मत का ममत्व बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

१–ये मे मतमिदम्०—

बुद्धियोग का अनुष्ठान अवश्य ही कर्म्मबन्धविमोक का कारण है। परन्तु कब ? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए भगवान् ने **नित्य-श्रद्धा-अनसूया** इन तीन शब्दों को हमारे सामने रक्खा है। हमने अपने जीवन में अथ से इति पर्य्यन्त बुद्धियोग का अनुष्ठान तो किया, परन्तु नित्यभाव का समादर न किया। कुछ दिन निष्काम कर्म्म की भावना रही, फिर कामभाव ने आक्रमण कर दिया। फिर संभले, फिर कामभाव जागृत हो गया। इस प्रकार बीच-बीच में कामभाव आक्रमण करता रहा। भगवान् कहते हैं, इस अनित्यभावना से कभी बुद्धियोग सफल नहीं हो सकता। इसके लिए हमें अजस्ररूपलक्षण अनन्यभाव से अविकल इसी योग की आराधना करनी पड़ेगी। यदि कहीं भी, कभी भी, किसी भी कर्म्म में कामभाव का समावेश हो गया तो योगधारा विच्छिन्न हो जाएगी। फिर उतना ही श्रम करना पड़ेगा। लौकिककार्यों को देखिए न। यदि हम किसी कार्य को नित्य नियमित रूप से करते रहते हैं तो वह कार्य भी हमारे लिए भार नहीं बनता, साथ ही में सफलता भी सन्निकट रहती है। यदि बीच-बीच में उस कार्य को छोड़ देते हैं तो कर्म्मशृंखला टूट जाती है। इस शृंखला-संधान के लिए हमें पहले से भी अधिक श्रम करना पड़ता है। यही अवस्था आध्यात्मिकयोगलक्षण इस बुद्धियोगात्मक कर्म्म की समझिए। योगानुष्ठान का नैरन्तर्य्य ही नित्यानुष्ठान है, ऐसा ही योग कर्म्मपाशविमुक्ति का कारण है। यह नित्यभाव बुद्धिसापेक्ष है। बुद्धि को आगे करने से ही कर्म्म में नैरन्तर्य्य का उदय होता है। मन बार-बार कामना द्वारा कर्म्मात्मा को विषयों में आसक्त करने की चेष्टा करता रहता है। मन का चाञ्चल्य ही हमें नियत कर्म्म से पराङ्मुख करता है। ऐसी दशा में हमें आत्मबल (प्रत्यगात्मबल) का सहारा लेकर बुद्धि में दृढता रखनी पड़ेगी। मन यदि–"अजी चलो आज न सही, फिर कर लेंगे" यह कहेगा तो तत्काल हमें बुद्धि द्वारा–"आज क्यों न सही, आज क्या हम भोजन न करेंगे, आज क्या सूर्य्योदय न होगा, जब प्रकृतिदेवी क्षणमात्र भी अपने नियत कर्म्म से विश्राम नहीं लेती तो हम क्यों कर्म्म छोडें, चाहे कितने एवं कैसे ही प्रबल विघ्न आवें, हम अपना नियत कर्म्म न छोड़ेंगे"। इस भावना से मन का दमन करते हुए कर्म्मप्रवणता का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकार प्रकृत श्लोक का– **नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः**"–यह वाक्य बुद्धिसमाश्रय का ही स्पष्टीकरण है, जैसा कि–"**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**"–इत्यादि में स्पष्ट कर दिया गया है।

बुद्धि का व्यापार जहाँ नित्यभाव का मूल है, वहाँ मन का व्यापार श्रद्धा का प्रवर्त्तक है। हम निरन्तर कर्म्म करते हैं। परन्तु केवल यह कर्म्म-नैरन्तर्य्य ही शान्ति का कारण नहीं बन सकता। हम

---

१ पं० मधुसूदन जी ओझा। २ स्वयं पं० मोतीलाल जी शास्त्री (सं०)

देखते हैं कि सर्विसलाइन के क्लर्क अहोरात्र कर्म्म में व्यस्त रहते हैं। उन्हें घड़ी भर भी विश्राम नहीं मिलता। फिर भी उनका अन्तर्जगत् सदा क्षुब्ध रहता है। कारण इसका यही है कि उस कर्म्म में बुद्धि का सहयोग अवश्य है, परन्तु मनोयोगमूला श्रद्धा का अभाव है। वे बेमन से सब काम करते हैं। श्रद्धा न होने से उनका कर्म्म शान्ति के स्थान में अशान्ति का कारण बना रहता। फलतः श्रद्धाशून्य कर्म्म निष्फल बना रहता है। भगवान् कहते हैं कि तुम्हें नित्यभाव के साथ-साथ श्रद्धा की भी उपासना करनी पड़ेगी। पूर्णमनोयोग रखना पड़ेगा। बिना श्रद्धा के कर्म्मभाव में नित्यता का उदय ही न हो सकेगा। "बुद्धियोगकर्म्म बडा श्रेष्ठ है, इसके अनुष्ठान में हमारा सर्वात्मना कल्याण है" मन की इस वृत्ति का नाम श्रद्धा है। यदि मन ऐसी वृत्ति न रक्खेगा तो यह स्वतन्त्र बनता हुआ बुद्धि के अधिकार से बाहर निकल कर अन्य विषयों एवं कर्म्मों में श्रद्धा करने लगेगा। फलतः बुद्धियोगसम्बन्धिनी अनन्यता उच्छिन्न हो जाएगी। परिणामतः बुद्धियोगनित्यता कथमपि सुरक्षित न रह सकेगी। ऐसी दशा में नित्यभाव की रक्षा के लिए तद्योग में श्रद्धा करना भी आवश्यक हो जाता है।

नित्यभाव (बुद्धि का सहयोग) भी है, श्रद्धाभाव (मनोयोग) भी है, परन्तु इतने से भी काम नहीं चल सकता। नित्यवृत्ति एवं श्रद्धा के साथ-साथ अनसूया-भाव भी अपेक्षित है। दूसरों के गुणदोषों की समालोचना करते रहना, निन्दास्तुतिलक्षण द्वन्द्वभावों के चक्र में फँसे रहना ही असूया है। गुणविभूतियों में दोष निकालते रहना ही असूया है। इस वृत्ति से मन एवं बुद्धि की अनन्यता बँट जाती है। अमुक अच्छा है, अमुक बुरा है, इस प्रकार यदि गुणदोषमीमांसा पर मन उतर जाता है तो वह अपने मूल लक्ष्य को भूल जाता है। अत्रिप्राण से नित्यसम्बद्धा जो शक्ति हमारे मन को उक्त असूयाभावों से पृथक् करती हुई मूललक्ष्य पर मन को दृढ रखती है, वही शक्ति–"अनसूया"–कहलाती है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्त्तिता ॥[1]

इस अनसूयावृत्ति से मन तामस-राजसभावों से हट कर सत्त्व पर दृढ होता हुआ बुद्धियोग पर श्रद्धा करने लगता है। इसी श्रद्धामय मनोयोग से बुद्धि में नित्यकर्त्तव्यता का उदय होता है। इस प्रकार अनसूया, श्रद्धा, नित्यभाव तीनों के संयोग से बुद्धियोगानुष्ठान सर्वात्मना सफल बनता हुआ कर्म्म-(संस्कार) बन्धनविमोक का कारण बन जाता है।

बुद्धियोग भगवान् का मत है। कर्म्मबन्धनविमोक का एकमात्र उपाय बुद्धियोग ही है। ऐसी दशा में श्लोकस्थ "अपि" शब्द कुछ अस्वारस्य उत्पन्न करता है। "जो मेरे इस मत का श्रद्धा-अनसूयापूर्वक नित्य अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म्म से मुक्त हो जाते हैं"–इन अक्षरों से सहसा ऐसा भान होने लगता है कि भगवन्मत के अतिरिक्त कर्म्मपाशविमोक का दूसरा भी कोई मार्ग है। जिस प्रकार उस अन्यमार्ग से

---

१ गीता ३।१०।

मनुष्य मुक्त होते हैं, वैसे इस बुद्धियोग का अनुष्ठान करने वाले भी मुक्त हो जाते हैं। यही नहीं, यह अपि शब्द यह भी ध्वनि करता है कि भगवदभिमत गौण है एवं अन्यमार्ग मुख्य हैं। यदि बुद्धियोग ही सर्वश्रेष्ठ उपाय होता तो भगवान् कभी "अपि" न कहते। इस आशङ्का का निराकरण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए।

बुद्धियोग का वास्तविक मर्म्म समझ लेना या तो अर्जुन जैसे योग्य शिष्य का ही काम है, अथवा तत्समकक्ष जिज्ञासु ही इसके यथार्थस्वरूप को जान सकता है। **"सम्यग्जानाति वै कृष्णः"**–इत्यादि सुप्रसिद्ध श्लोक भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। ऐसी दशा में अस्मदादिसाधारण अधिकारियों के लिए तो कल्याण का यही मार्ग शेष रह जाता है कि बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) का वास्तविक रहस्य समझने में असमर्थ रहते हुए भी हम केवल–"कामना छोडते हुए अनन्यभाव से अनसूया एवं श्रद्धापूर्वक तुम अविकलरूप से वर्णधर्म्मसिद्ध आधिकारिक कर्म्म में आरूढ रहो"–इस भगवदादेश पर विश्वास करते हुए बिना किसी क्षोदक्षेम के, बिना तर्क-वितर्क के भगवान् के उक्त मत पर पूर्ण निष्ठा रक्खें। इससे भी हमारा कल्याण हो सकता है। वस्तुतः देखा जाए तो इस आरम्भिक दशा में अर्जुन भी सामान्य अधिकारी ही रहा होगा। शोकसंतप्तमना अर्जुन ने बुद्धियोगशास्त्र का मर्म्म समझ लिया होगा यह जचने की बात नहीं। उसकी तो भगवद्वचन पर पूर्ण निष्ठा थी। वह विश्वास किए हुए था कि भगवान् उसे जैसा करने के लिए कहेंगे, श्रद्धा-विश्वास पूर्वक वैसा करने से भी उसका कल्याण हो जाएगा। सच पूछिए तो भगवान् ने सामयिक अधिकारी को लक्ष्य में रख कर ही–**"ये मे मतम्"**–यह कहा है। तात्पर्य्य कहने का यह हुआ कि जो मनुष्य यथाविधि शास्त्रज्ञान सम्पादन कर स्वस्थदशा में शास्त्रानुसार बुद्धियोग का मर्म्म समझते हुए जैसे कर्म्म-बन्धन से विमुक्त हो जाते हैं, एवमेव जो व्यक्ति शास्त्ररहस्य का परिज्ञान न रखते हुए, अथवा परिज्ञान रखते हुए भी किसी आकस्मिक शोकाक्रमण से विवेकज्ञान शून्य बनते हुए बुद्धियोग का शास्त्रीय-रहस्य समझने में असमर्थ रहते हैं, वे भी यदि भगवद्वचन पर श्रद्धा-विश्वास करते हुए (रहस्यज्ञान के बिना ही) निष्काम कर्म्मलक्षण बुद्धियोगमार्ग पर आरूढ रहते हैं, तो मुक्त हो जाते हैं। ऐसे शोकाकुल एवं शास्त्ररहस्यज्ञान के अनधिकारियों के लिए ही **"अपि"** शब्द प्रयुक्त हुआ है।

——१——

२–ये त्वेतदभ्यसूयन्तो०––

पूर्वश्लोक में **अपि** शब्द का हमने जो तात्पर्य्य बतलाया है, वह प्रकृत श्लोक से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। स्वयं में तो इतनी योग्यता नहीं कि शास्त्र का अध्ययन कर उसका मर्म्म समझ लिया जाए। साथ ही में शास्त्रवचन पर भी विश्वास नहीं। "कैसे भगवान्, कहाँ के भगवान, कैसा गीताशास्त्र सब कल्पना जगत् है"- इस प्रकार के कुत्सितभावों से जिनका आत्मा उपदेशों की हँसी उड़ाने में सदा अग्रसर रहता है। शास्त्रज्ञान का अभाव एवं शास्त्रोपदेश पर अविश्वास ! ऐसे मूढ़ व्यक्तियों की क्या दशा होती है ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य हमारे उक्त मत में दोषदृष्टि

रखते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, सब प्रकार के ज्ञानों से वञ्चित इन हृदयशून्य व्यक्तियों को नष्ट ही समझो। इनके उद्धार का कोई भी मार्ग नहीं है।

सचमुच ज्ञानलवदुर्विदग्धों की यही दशा होती है। जो शास्त्रों के पूर्णमर्म्मज्ञ हैं, उनके लिए तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। जो शास्त्रज्ञान से एकान्ततः शून्य हैं, उनका भी भगवद्वचनरूप शास्त्रवचन पर विश्वास हो जाता है। विद्वत्ता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ पाप-पुण्य का रहस्यार्थवेत्ता एक विद्वान् जैसे पाप से भय खाता है, ठीक उसी तरह शास्त्र का एक अक्षर भी न जानने वाला एक ग्रामीण भी पाप से उसी प्रकार भय खाता है। परन्तु जो न मूर्ख हैं, न पण्डित हैं, सामयिक शिक्षा को ही जिन्होंने शिक्षा की इतिश्री समझ रक्खी है, जो अपने-आपको बडा कुशल समझते हैं, पद-पद पर अपनी चातुरी का बखान करते हुए भी लज्जा का अनुभव नहीं करते, ऐसे अहंमन्यों का कोई इलाज नहीं है। अभिमान के कारण न इनमें शास्त्रज्ञान का विकास होता, न लौकिकज्ञान में ही ये सफल होते। उभयतोभ्रष्ट इन मूढों का सर्वनाश निश्चित है—

ज्ञानी समुझत सहज में पर जिन नर अभिमान।
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नाहिं सुजान॥

—२—

आत्माश्रितसाम्ययोगोपनिषत्—

प्रकृत उपनिषत् भगवदभिमत वैराग्यबुद्धियोग का निरूपण करती है, अतएव इसे हम—"**आत्माश्रितसाम्ययोगोपनिषत्**"—नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का गुप्त रहस्य है। यही वास्तविक बुद्धियोग है। प्रत्यगात्मा का आश्रय लेता हुआ यदि कर्म्मात्मा कर्म्म करता है तो उसमें स्वत एव कालान्तर में समत्वयोग का उदय हो जाता है। कारण इसका यही है कि प्रत्यगात्मा अव्ययप्रधान है। अव्ययात्मा की ज्ञान-कर्म्म नाम की दो भक्तियाँ हैं। विद्यात्मक रस ज्ञान है, कर्म्मात्मक बल कर्म्म है। आसक्तिविरहित निष्काम अतएव निवृत्त-कर्म्म ज्ञान का आवरण नहीं बनता। फलतः ऐसे कर्म्म से ज्ञान का कुछ नहीं बिगड़ता। ज्ञान-कर्म्म दोनों समतुलित रह जाते हैं। यही आत्माश्रित साम्ययोग है। यही बुद्धियोगनिष्ठा है, जिसका कि राजर्षिविद्या की आठवीं उपनिषत् के ६–७ वें उपदेश में निरूपण होने वाला है।

॥ इति सप्तमोपदेशः ॥

७

इति राजर्षिविद्यायाम्

कर्म्मपरित्यागानौचित्योपनिषदि (सप्तोपदेशी)

समाप्ता

३